

जश्न-ए-तालीम

होशंगाबाद विज्ञान का शैक्षिक सफरनामा

सुशील जोशी



एकलव्य का प्रकाशन

जश्न-ए-तालीम

Jashn-e-taleem

लेखक: सुशील जोशी

दस्तावेज़ीकरण में व्यवस्थागत सहयोग: कार्तिक शर्मा

आवरण चित्र: रंजित बालुमुचु (बाल वैज्ञानिक कक्षा 6 से)

तथा अबु अब्राहम (फ्रेन्ड्स रूरल सेंटर, रसूलिया के वार्षिक रपट 1977 से)

कवर डिज़ाइन: जितेन्द्र ठाकुर

© एकलव्य / अगस्त 2008 / 1000 प्रतियाँ

इस किताब के किसी भी भाग का गैर-व्यावसायिक उद्देश्य से उपयोग किया जा सकता है।
स्रोत के रूप में किताब का उल्लेख अवश्य करें तथा एकलव्य को सूचित करें।

80 gsm नेचुरल शेड एवं 300 gsm आर्ट कार्ड (कवर) पर प्रकाशित
पराग इनिशिएटिव, सर रतन टाटा ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से विकसित

मूल्य: 160.00 रुपए

ISBN: 978-81-89976-18-7

प्रकाशक: **एकलव्य**

ई-10, शंकर नगर बीडीए कॉलोनी,

शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016 (म.प्र.)

फोन: (0755) 2550976, 2671017

फैक्स: (0755) 2551108

www.eklavya.in

सम्पादकीय: books@eklavya.in

किताबें मँगवाने के लिए: pitara@eklavya.in

मुद्रक: आदर्श प्राइवेट लिमिटेड, भोपाल, फोन: (0755) 2550 291

विषय सूची

1 एक अनोखी पहल	5
2 प्रमुख पड़ाव	12
3 अकादमिक प्रेरणा-स्रोत	16
पब्लिक स्कूल से नगर निगम तक	19
बम्बई से होशंगाबाद का सफर	22
1972 से 1975 का दौर	25
जुड़ना विशेषज्ञों का	27
पहला प्रशिक्षण	30
लाल वैज्ञानिक	31
कार्ड	32
4 पाठ्यक्रम और विषय-वस्तु की समझ	37
5 अध्यायों की संरचना	71
प्रयोग व गतिविधियाँ	77
प्रयोग में तुलना का प्रावधान	79
जानकारी के अन्य स्रोत	83
परिभ्रमण	84
सवाल-दर-सवाल	86
मॉडल का निर्माण या विकास	89
हार्थों का कौशल	91
टोलियाँ, यानी सीखना मिलकर होता है	92
तुम्हारा क्या विचार है?	98
चित्रांकन और साज-सज्जा	101

6	अध्यायों के सारांश	111
	कक्षा 6	111
	कक्षा 7	125
	कक्षा 8, खण्ड 1	141
	कक्षा 8, खण्ड 2	150
7	बदलती <i>बाल वैज्ञानिक</i>	162
	फीडबैक के स्रोत	163
	प्रथम संशोधन	164
	दूसरा संशोधन	171
8	एक अध्याय की जीवनी: आकाश की ओर	177
9	एक अध्याय की जीवनी: पौधों का पोषण	191
10	एक अध्याय की जीवनी: बल और भार	201
11	सवाल आगे की कक्षाओं से जोड़ने वाली कड़ियों का	210
12	सवा रूप का विज्ञान: किट का विकास	229
13	शिक्षक निर्देशिका	237
14	सवालीराम	242
15	नवाचार और शिक्षकों की भागीदारी की तैयारी	251
16	कक्षा के अनुभव	299
17	परीक्षा	336
18	कार्यक्रम का मूल्यांकन	379
19	उपसंहार	388

एक अनोखी पहल

3 जुलाई 2002 शिक्षा के इतिहास में एक काला दिवस है। इस दिन मध्य प्रदेश सरकार ने शिक्षा में नवाचार के उस कार्यक्रम को बन्द करने का निर्णय लिया था जो होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (हो.वि.शि.का.) के नाम से देश-विदेश में मशहूर रहा है। जो लोग वैश्वीकरण व निजीकरण के प्रभावों पर नज़र रखते हैं, उन्हें मध्य प्रदेश सरकार के इस कदम पर तनिक भी हैरत नहीं हुई होगी। मध्य प्रदेश सरकार के इस दुर्भावना से प्रेरित व दुर्भाग्यपूर्ण फैसले से जुड़े मुद्दों का विश्लेषण कई लोगों ने किया है।

हो.वि.शि.का. की शुरुआत 1972 में एक छोटी-सी पहल से हुई थी। इस सन्दर्भ में दन्तकथा यह है कि जब दो स्वैच्छिक संस्थाओं – किशोर भारती और फ्रेंड्स रूरल सेंटर – ने सरकारी मिडिल स्कूलों में विज्ञान शिक्षा में काम करने का एक प्रस्ताव राज्य शासन को दिया, तो तत्कालीन संचालक, लोक शिक्षण, डॉ. बी. डी. शर्मा ने उन्हें अनुमति देने के विरुद्ध समस्त आपत्तियों को दरकिनार करते हुए कहा था, “प्रदेश के सरकारी स्कूलों में विज्ञान शिक्षा की हालत इतनी खराब है कि ये नौसिखिए उसे और खराब क्या करेंगे। इसलिए मैं इन्हें अनुमति देता हूँ।” एक सक्षम सरकारी अधिकारी के इस कथन ने विज्ञान शिक्षा में परिवर्तन की एक नई धारा को मुक्त कर दिया।

होशंगाबाद ज़िले के 16 स्कूलों के शिक्षक, टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फण्डामेंटल रिसर्च (टी.आई.एफ.आर.) के वैज्ञानिक, ऑल इण्डिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन (ए.आई.एस.टी.ए.) के सदस्य तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापक दो स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा उपलब्ध कराए गए मंच पर साथ आए

जश्न-ए-तालीम

थे। यहीं से शुरुआत हुई थी एक शैक्षणिक जश्न की जिसमें इन सब और अनगिनत अन्य लोगों ने मिलकर शिक्षा, और खासकर विज्ञान शिक्षा को बच्चों के लिए एक सार्थक व आनन्ददायी अनुभव बनाने के लिए प्रयास किए। इस कार्यक्रम ने जल्दी ही विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और शोध संस्थानों के अध्यापकों और वैज्ञानिकों को आकर्षित किया।

हो.वि.शि.का. की सबसे बड़ी खूबी और उपलब्धि यही है कि इसने समूचे देश में शिक्षा के क्षेत्र में सृजनात्मक ऊर्जा को मुक्त किया और उसे एक मंच दिया। यह एक ऐसा सामूहिक प्रयास था जिसमें विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के अध्यापकों व छात्रों से लेकर अनुसन्धान प्रयोगशालाओं के वैज्ञानिकों व शोध छात्रों, स्कूलों के शिक्षकों, कारीगरों-दस्तकारों, किसानों, स्वैच्छिक सामाजिक कार्यकर्ताओं, इंजीनियरों, डॉक्टरों तथा शिक्षाविदों ने मिलकर विज्ञान शिक्षा को बेहतर बनाने की कोशिश की।

कार्यक्रम की दूसरी बड़ी खूबी यह रही कि इसमें शामिल हर व्यक्ति सीखने और सिखाने की एक मिली-जुली प्रक्रिया में भागीदार रहा। इस अर्थ में यहाँ शिक्षा एकमार्गी उद्यम कभी न रहा। इसी से जुड़ी एक बात यह रही कि 30 सालों के इतिहास में कार्यक्रम में एक भी बोझिल क्षण नहीं आया। छात्रों समेत सारे भागीदारों को इसमें मज़ा आया। इसी मज़े ने इस समूह को बाँधे रखा और नए-नए लोगों को आकर्षित किया। आनन्द का यह माहौल लोगों को अपना सर्वोत्तम योगदान देने को प्रेरित करता रहा और शिक्षा में नए-नए विचारों को आजमाने का हौसला भी देता रहा। इस अर्थ में होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में एक गहनता, एक ताज़गी सदैव बनी रही।

इसके साथ ही एक और बात गौरतलब है। काम मज़े से होता था मगर शैक्षणिक गहनता में कभी ढिलाई नहीं हुई। “चलता है” की प्रवृत्ति होशंगाबाद विज्ञान में कभी बर्दाश्त नहीं की गई। चाहे कोई अध्याय हो, कोई प्रयोग हो, किताब की प्रूफ रीडिंग हो, चित्रों की प्रामाणिकता हो या शिक्षक प्रशिक्षण, समूह ने कभी गुणवत्ता के साथ समझौता नहीं किया।

खोज व पर्यावरण

खोज व पर्यावरण पर आधारित इस कार्यक्रम में बच्चे अपने पर्यावरण से अन्तर्क्रिया करते हुए प्रयोग करके ऐसी परिकल्पनाएँ गढ़ते थे जिनको वे

जाँच सकें। यह सम्भवतः पहली बार था कि माध्यमिक कक्षाओं में बच्चे टोलियों में बैठकर प्रयोग करते थे, परिभ्रमणों पर जाते थे, अपने अवलोकनों का ब्यौरा रखते थे, उनका विश्लेषण करके निष्कर्ष निकालते थे, विज्ञान के सिद्धान्त सीखते थे और मज़ा करते थे। सीखने की इस प्रक्रिया में शिक्षक एक साथी व मार्गदर्शक था और तोतारटन्त पद्धति को कक्षा से बाहर का रास्ता दिखा दिया गया था।

हो.वि.शि.का. समूह ने सीखने की प्रक्रिया में मज़े को खासा महत्व दिया। बाद के वर्षों में “सीखने का आनन्द” मुख्यधारा में भी स्वीकार किया गया जुम्ला बना। कार्यक्रम बन्द होने के बाद एक स्रोत व्यक्ति पंचापकेसन से जब कार्यक्रम के सबक के बारे में पूछा गया तो उन्होंने बेहिचक कहा था, “हमें मज़ा आया, शिक्षकों को मज़ा आया, बच्चों को मज़ा आया। और क्या चाहिए?”

मगर सरकारी लोगों को मज़ा एक फालतू चीज़ लगता है। कार्यक्रम को बन्द करने के लिए शासन के एक उच्च अधिकारी ने इस पर एक रिपोर्ट में बताया था कि कार्यक्रम में कोई दम नहीं है। मखौल करते हुए उन्होंने अपनी रिपोर्ट में कहा था, “इसके पक्ष में एकमात्र तर्क ‘बच्चों के आनन्द’ का रह जाता है जो कोई ठोस चीज़ नहीं है और अधिगम की गुणवत्ता का समुचित सूचक नहीं है।”

संक्षेप में कहें तो हो.वि.शि.का. में कोशिश की गई थी कि जानकारी के विस्फोट की बजाय विज्ञान करने व अवधारणा के विकास को पाठ्यक्रम की बुनियाद बनाया जाए। इसमें बच्चे अवलोकनों, प्रयोगों, आँकड़ों के प्रस्तुतीकरण व विश्लेषण और सामूहिक चर्चा के माध्यम से नियमों, परिभाषाओं व अवधारणाओं तक पहुँचते थे।

हो.वि.शि.का. का मर्म यह रहा है कि बच्चों को स्वतंत्र सीखने वाले बनाया जाए। इसके लिए कोशिश यह थी कि उन्हें उन तौर-तरीकों से लैस किया जाए जो नए-नए सवालों व समस्याओं की खोजबीन को आगे बढ़ाने में सहायक हों।

सोलह स्कूलों के सघन दौर के बाद 1978 में कार्यक्रम को होशंगाबाद ज़िले के समस्त मिडिल स्कूलों में फैलाया गया था। जब सरकार ने इसे बन्द करने

जश्न-ए-तालीम

का बदनूमा फैसला लिया उस समय कार्यक्रम प्रदेश के 15 ज़िलों के 800 से ज़्यादा स्कूलों में चल रहा था। इसमें लगभग 3000 शिक्षक सहभागी थे। ये शिक्षक एक ऐसी अभूतपूर्व शिक्षक प्रशिक्षण की प्रक्रिया से होकर गुजरे थे जिसकी गहराई व गहनता देखते ही बनती थी। शिक्षकों के इस समूह में करीब 200 शिक्षकों का एक स्रोत दल भी उभरा था जो अन्य शिक्षकों को प्रशिक्षण देने में सक्षम था और इस चुनौतीपूर्ण काम की बागडोर सम्हालने की तैयारी में जुटा था। इनमें से कई स्रोत शिक्षकों ने तो राज्य से बाहर भी शिक्षकों के प्रशिक्षण में अहम भूमिका निभाई थी। तीस सालों के इतिहास में करीब ढाई लाख छात्र इस कार्यक्रम में भागीदार रहे।

कार्यक्रम के समस्त पहलुओं में शिक्षकों की भागीदारी व महत्वपूर्ण भूमिका की दृष्टि से हो.वि.शि.का. ने नए प्रतिमान स्थापित किए हैं और शिक्षकों की भागीदारी की सम्भावनाओं व चुनौतियों को उजागर करने में अहम योगदान दिया है।

कार्यक्रम को लागू करते हुए यह स्पष्ट था कि शिक्षा तंत्र की सीढ़ीदार संरचना में शिक्षक को सबसे निचली पायदान पर रखा गया है। जो शिक्षक बच्चों के सामने ज्ञान के एक अलंघ्य स्रोत के रूप में पेश होता है, वही प्रशासन के किसी भी अदना से अदना अधिकारी के सामने अत्यन्त दबू और निरीह हो जाता है। इसलिए शिक्षक को एक सम्मानजनक हैसियत दिए बगैर शिक्षा में सुधार की बात करना बेमानी है। यह भी स्पष्ट था कि शिक्षा तंत्र से बाहर जो व्यापक सामाजिक तंत्र है, उसमें शिक्षक सामन्ती वर्ग के साथ खड़ा नज़र आता है। मगर स्कूल में विभागीय अफसरशाही के चलते वह प्रायः आत्मसम्मान के अभाव से पीड़ित होता है। साथ ही कक्षा में वह सर्वज्ञाता का किरदार निभाने को मजबूर है।

हो.वि.शि.का. में शिक्षकों के साथ काम उक्त सरोकारों में से विकसित हुआ था। खास तौर से शिक्षकों के बीच परस्पर “शैक्षिक संवाद” या अपने व्यवसाय से सम्बन्धित मुद्दों पर विचार-विमर्श के अभाव को सम्बोधित करते हुए हो.वि.शि.का. के तहत इस तरह के औपचारिक मंच बनाने के प्रयास किए गए जिनमें शिक्षक स्वयं को एक शैक्षणिक पेशेवर समूह के सदस्य के रूप में देख पाए।

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम ने शिक्षा में परिवर्तन की सम्भावना को उजागर करने के साथ-साथ उस परिवर्तन की दिशा व उसके क्रियान्वयन के विभिन्न आयामों का भी संकेत दिया। समकालीन भारतीय परिदृश्य में शिक्षा का इससे अधिक प्रभावशाली कार्यक्रम शायद ही कोई और हो। इसका असर शिक्षा के पूरे सोच व तंत्र पर देखा जा सकता है।

हो.वि.शि.का. में हस्तक्षेप को बहुआयामी रूप में सोचा व क्रियान्वित किया गया था। यह शुरू से ही स्पष्ट था कि स्कूली शिक्षा के किसी एक पक्ष के साथ छेड़छाड़ करने से परिवर्तन नहीं होगा। कार्यक्रम के तहत स्कूलों के लिए शिक्षकों की मदद से पाठ्यवस्तु निर्मित करने के साथ-साथ सीखने-सिखाने के हर पहलू को सम्बोधित किया गया था। नई पाठ्य पुस्तकें बनाने के साथ ही प्रायोगिक किट का विकास किया गया। शिक्षक प्रशिक्षण की बात तो हमने ऊपर की ही है। इसके अलावा बच्चों की बढ़ती जिज्ञासा को सम्बोधित करने के लिए “सवालीराम” जैसी संस्था का निर्माण किया गया। शिक्षकों को कार्यस्थल पर मदद करने और उनसे फीडबैक प्राप्त करने के लिए नए विकेंद्रित ढाँचे तैयार किए गए। कार्यक्रम के दौरान बच्चों के मूल्यांकन के लिए परीक्षा में बुनियादी परिवर्तन किए गए। परीक्षा को एक ऐसा रूप दिया गया जो रटी हुई जानकारी को उगलवाने की बजाय अवधारणात्मक विकास का आकलन करे, प्रायोगिक कुशलता की जाँच करे और परीक्षा को तनाव से मुक्त करे।

हो.वि.शि.का. के तहत यह शायद पहली बार हुआ कि सरकारी शिक्षा विभाग से बाहर की संस्थाओं ने स्कूली शिक्षा में सुधार के लिए हस्तक्षेप किया था। शिक्षा व्यवस्था की जड़ता में किसी बुनियादी परिवर्तन के लिए जिस ताज़ा हवा की ज़रूरत थी वह शायद ऐसे ही लोग उपलब्ध करा सकते थे जो “शिक्षाई” जकड़न से मुक्त हों। हो.वि.शि.का के 30 साल के इतिहास की एक खास बात यह भी रही है कि इसमें “शिक्षा” में औपचारिक रूप से प्रशिक्षित लोगों का लगभग अभाव रहा है। शिक्षा महकमे की *हायरार्की* से बँधे न होना भी इस समूह के लिए फायदे की बात थी। इसके चलते यह समूह शिक्षा से जुड़े हर तबके के साथ एक बराबरी का सम्बन्ध बना पाया।

जश्न-ए-तालीम

इसी हस्तक्षेप का नतीजा था कि कार्यक्रम के क्रियान्वयन में विकेन्द्रित ढाँचों का निर्माण करके उन्हें सक्रिय किया गया। शिक्षा आयोग (1964-66) की “शाला संकुल” व “संगम केन्द्र” की अवधारणाओं को हो.वि.शि.का. में साकार किया गया और उनमें जान फूँकी गई। शिक्षा प्रशासन में शैक्षणिक आयाम को जोड़ने की कोशिश भी इसी हस्तक्षेप का परिणाम कही जा सकती है। शिक्षकों पर प्रशासन की पकड़ को शिथिल करने के प्रयास भी किए गए।

यह कार्यक्रम देश भर में कई अन्य कार्यक्रमों व पहलकदमियों का प्रेरणा स्रोत भी रहा और इसने शिक्षा सम्बन्धी विमर्श में कई नए आयाम जोड़े। एक मायने में हो.वि.शि.का. भारत में शिक्षा के परिदृश्य में एक अनूठी पहल थी। इस कार्यक्रम के शैक्षणिक पक्षों को व्यवस्थित रूप से सामने रखना ही इस पुस्तक का लक्ष्य है।

इस पुस्तक में हम कार्यक्रम के मुख्यतः तीन पक्षों की चर्चा करेंगे: सामग्री का निर्माण व संरचना, शिक्षकों की भागीदारी व उनकी तैयारी के लिए किए गए प्रयास और परीक्षा व मूल्यांकन। सामग्री से आशय पाठ्यक्रम, विषय-वस्तु, पाठ्य पुस्तक, शिक्षक निर्देशिका और किट वगैरह से है। इसमें हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि हो.वि.शि.का. में पाठ्यक्रम व विषय-वस्तु किस तरह विकसित हुए और समय-समय पर इनमें क्या परिवर्तन हुए। हम इस बात पर भी ध्यान देंगे कि इन परिवर्तनों के आधार क्या रहे व किन कारकों का प्रभाव रहा। इसके बाद यह समझने का प्रयास करेंगे कि किस तरह हो.वि.शि.का. में पाठ्यक्रम और विषय-वस्तु को पाठ्य सामग्री में ढाला गया।

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों से परिचय के क्रम में सर्वप्रथम एक सामान्य (प्रारूपिक) अध्याय का विवरण दिया गया है और उसके विभिन्न पक्षों को उजागर किया गया है। इसके बाद इन अलग-अलग पक्षों की विस्तृत चर्चा की गई है। *बाल वैज्ञानिक* के तीनों संस्करणों में शामिल अध्यायों के सार भी दिए गए हैं और विकास क्रम की एक मोटी-मोटी समीक्षा की गई है। समूह की समझ के साथ-साथ अध्यायों के विकास को समझने की दृष्टि से

तीन अध्यायों के सिलसिलेवार विश्लेषण जीवनियों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

बाल वैज्ञानिक के ज़रिए सीखने-सिखाने के कई आयाम उभरते हैं। शिक्षक के लिए इस प्रक्रिया को सुगम बनाने हेतु शिक्षक निर्देशिका तैयार करने व उसके उपयोग के अनुभवों को एक संक्षिप्त अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

किट सामग्री का विकास पाठ्यक्रम विकास का अभिन्न अंग रहा है और इसकी चर्चा हम संक्षेप में करेंगे। प्रयोग आधारित विज्ञान शिक्षा को लेकर एक चिन्ता यह व्यक्त की जाती है कि यह महँगा होगा। इस अध्याय में हम यही समझने की कोशिश करेंगे कि यह चिन्ता कहाँ तक वाजिब है। किट को सुगम व सस्ता बनाने के प्रयासों पर चर्चा करते हुए खास तौर से किट के विकास में शिक्षकों व अन्य लोगों के योगदान को रेखांकित किया जाएगा।

ऐसा कहा जाता है कि हो.वि.शि.का. में शिक्षकों के साथ बहुत काम किया गया है। शिक्षक प्रशिक्षण व उससे जुड़ी अन्य प्रक्रियाओं का ब्यौरा एक खण्ड में दिया गया है। इसी खण्ड में यह चर्चा भी की गई है कि कैसे शिक्षकों की भागीदारी हो.वि.शि.का. का सबसे महत्वपूर्ण पहलू रहा है और इसके विविध स्वरूपों की बात की गई है।

इसके बाद हम स्कूलों की वास्तविक परिस्थिति में सामग्री के उपयोग के अनुभवों पर चर्चा करेंगे। इस चर्चा का प्रमुख आधार वे अनुवर्तन रिपोर्टें हैं जो कार्यकारी दल तथा स्रोत दल के सदस्यों ने समय-समय पर प्रस्तुत कीं। शिक्षकों से प्रत्यक्ष चर्चा व लिखित प्रतिवेदनों से प्राप्त जानकारी भी इसमें समेटी गई है।

अन्त में हम कार्यक्रम के और शिक्षा के सबसे नाजुक मसले परीक्षा पर चर्चा करेंगे। हो.वि.शि.का. के अन्तर्गत परीक्षा प्रणाली में किए गए आमूल परिवर्तनों को रेखांकित करने के अलावा इस खण्ड में परीक्षा के वास्तविक अनुभवों का विश्लेषण भी किया जाएगा।

2

प्रमुख पड़ाव

- 1972 किशोर भारती, बनखेड़ी, व फ्रेंड्स रूरल सेंटर, रसूलिया, द्वारा 16 स्कूलों में विज्ञान शिक्षा में नवाचार के प्रस्ताव को शासन की मंजूरी। ऑल इण्डिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन के सहयोग से कार्यक्रम की शुरुआत। पहला प्रशिक्षण शिविर मई में। *बाल वैज्ञानिक*, प्रथम संस्करण, का प्रकाशन सितम्बर में।
- 1973 दिल्ली विश्वविद्यालय का विज्ञान शिक्षण समूह कार्यक्रम में शामिल। उनकी भागीदारी को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की औपचारिक मान्यता।
- 1975 मध्य प्रदेश के महाविद्यालयों से विज्ञान अध्यापकों का समूह शामिल हुआ। तीन वर्षों के प्रयास के बाद कक्षा 6, 7 व 8 के लिए *बाल वैज्ञानिक* कार्य पुस्तिकाओं का कार्ड रूप में प्रकाशन। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा कार्यक्रम में भाग लेने के लिए छात्रवृत्ति दी गई।
- शासन द्वारा परीक्षा प्रणाली में फेरबदल की छूट। कार्यक्रम का पहला बैच किशोर भारती व फ्रेंड्स रूरल सेंटर द्वारा आयोजित बोर्ड परीक्षा में बैठा।
- 1977 कार्यक्रम को पूरे होशंगाबाद ज़िले में फैलाने का शिक्षा विभाग, मध्य प्रदेश शासन व एन.सी.ई.आर.टी. का संयुक्त निर्णय। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा किट प्रदाय का निर्णय। क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, भोपाल, के तत्वावधान में ज़िला स्तरीय प्रसार का विस्तृत प्रस्ताव तैयार।

बाल वैज्ञानिक पाठ्यक्रम व कार्य पुस्तकों को राज्य पाठ्य पुस्तक समीक्षा समिति की स्वीकृति मिली।

- 1978** जिला स्तरीय प्रसार। मध्य प्रदेश पाठ्य पुस्तक निगम द्वारा *बाल वैज्ञानिक* का प्रकाशन प्रारम्भ। कार्यक्रम संचालन हेतु संचालक, लोक शिक्षण की अध्यक्षता में संचालन समिति का गठन व सम्भागीय शिक्षा अधीक्षक, नर्मदा सम्भाग के कार्यालय में विज्ञान इकाई की स्थापना।
- 1982** एकलव्य की स्थापना। मध्य प्रदेश राज्य शैक्षिक अनुसन्धान व प्रशिक्षण परिषद (एस.सी.ई.आर.टी.) का गठन। हो.वि.शि.का. हेतु शासकीय शिक्षकों की प्रतिनियुक्ति की शुरुआत।
- 1984** कार्यक्रम का फैलाव एस.सी.ई.आर.टी. के तत्वावधान में तीन जिलों, उज्जैन (नरवर संकुल), देवास (हाट पिपल्या संकुल), और धार (तिरला व धार संकुल) में।
- 1985** तीन अन्य जिलों, शाजापुर (आगर संकुल), मन्दसौर (पिपल्या मण्डी संकुल) और रतलाम (नामली संकुल) में प्रसार।
- 1986** नरसिंहपुर (गोटेगाँव संकुल), छिन्दवाड़ा (परासिया संकुल), खण्डवा (हरसूद संकुल), इन्दौर (सांवेर संकुल), झाबुआ (मेघनगर संकुल) और खरगोन (मण्डलेश्वर संकुल) में भी कार्यक्रम का फैलाव।
- 1987-89** स्कूलों से प्राप्त फीडबैक के आधार पर *बाल वैज्ञानिक* में प्रथम संशोधन।
- 1990** राज्य स्तरीय प्रसार के लिए एकलव्य द्वारा मध्य प्रदेश शासन व मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार को प्रस्ताव। कार्यक्रम की समीक्षा हेतु एन.सी.ई.आर.टी. के प्रो. बी. गांगुली की अध्यक्षता में छह-सदस्यीय विशेषज्ञ समिति का गठन।
- 1991** गांगुली समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत। कार्यक्रम की सराहना करते हुए कार्यक्रम के चरणबद्ध राज्य स्तरीय फैलाव की अनुशंसा।
- राज्य स्तरीय प्रसार की कार्ययोजना पर काम शुरू हुआ, लेकिन

जश्न-ए-तालीम

सरकार परिवर्तन के कारण अवरोध आया। राज्य शासन ने कार्यक्रम का फिर से मूल्यांकन करवाने के लिए राज्य विज्ञान शिक्षा संस्थान के निदेशक डॉ. जी. एस. मिश्रा की अध्यक्षता में एक समिति गठित की।

1992 मिश्रा समिति की रिपोर्ट के निष्कर्ष सकारात्मक थे, किन्तु किसी कारण से यह रिपोर्ट न तो प्रस्तुत हुई, न प्रकाशित की गई।

1993 गुजरात राज्य की पाँच संस्थाओं ने संयुक्त रूप से हो.वि.शि.का. की तर्ज पर गुजरात के तीन ज़िलों में शासन की अनुमति से अध्येता केन्द्री विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम शुरू किया।

1994 कार्यक्रम के राज्य स्तरीय प्रसार पर फिर से विचार प्रारम्भ। इसकी योजना बनाने हेतु संचालक, एस.सी.ई.आर.टी. की अध्यक्षता में समिति गठित। समिति की योजना पर निर्णय यह हुआ कि शासन फिलहाल डी.पी.ई.पी. में व्यस्त है, उसके बाद ही कोई निर्णय लिया जाएगा।

इसी बीच *बाल वैज्ञानिक* में द्वितीय संशोधन की प्रक्रिया शुरू होकर रुकी।

1995 स्रोत शिक्षक प्रशिक्षण शिविरों की शुरुआत।

पूरे प्रदेश की माध्यमिक शालाओं में विज्ञान शुल्क लागू होने से किट क्षतिपूर्ति में सहूलियत के आसार।

1996 निजी शालाओं की समस्या व स्थानीय स्रोत शिक्षकों की भागीदारी को ध्यान में रखते हुए शिक्षक प्रशिक्षण का विकेन्द्रित ढाँचा लागू।

1998 *बाल वैज्ञानिक* के अँग्रेजी संस्करण का प्रकाशन।

लोक जुम्बिश परिषद की पहल पर कार्यक्रम राजस्थान में पहुँचा। *खोजबीन* नामक पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित।

1999 1994 में बन्द हुई *बाल वैज्ञानिक* संशोधन की प्रक्रिया फिर से शुरू हुई। शिक्षकों की व्यापक भागीदारी व बच्चों के साथ परीक्षण।

- 2000 मध्य प्रदेश पाठ्य पुस्तक स्थायी समिति द्वारा अनुमोदन के पश्चात कक्षा छह की संशोधित *बाल वैज्ञानिक* का पाठ्य पुस्तक निगम द्वारा प्रकाशन।
एक बार फिर राज्य स्तरीय प्रसार की चर्चा।
- 2001 कक्षा सात की संशोधित पुस्तक प्रकाशित।
कक्षा आठ की *बाल वैज्ञानिक* का पुनर्लेखन प्रारम्भ।
- 2002 शासन ने कार्यक्रम को बन्द करने का निर्णय लिया। कक्षा आठ की संशोधित पुस्तक प्रकाशित न हो सकी।

अकादमिक प्रेरणा-स्रोत¹

सोवियत संघ द्वारा 1950 के दशक के आरम्भ में स्पूतनिक का प्रक्षेपण अन्तरिक्ष विज्ञान में तो एक युगान्तरकारी कदम था ही, इसने सारी दुनिया में विज्ञान शिक्षा पर एक बहस को भी जन्म दिया था। शीत युद्ध के उस दौर में स्पूतनिक का प्रक्षेपण संयुक्त राज्य अमरीका के लिए करारा झटका था। इसके चलते अमरीका में यह बहस छिड़ गई कि हो न हो यहाँ की विज्ञान शिक्षा में कुछ दिक्कत है जिसकी वजह से अच्छे वैज्ञानिक तैयार नहीं हो रहे हैं। इससे प्रेरणा लेकर अमरीका में स्कूली विज्ञान शिक्षा के कई प्रोजेक्ट शुरू हुए, मगर स्वयं अमरीका द्वारा अन्तरिक्ष यान के प्रक्षेपण के बाद इनमें वह जोश नहीं रह गया और सरकारी मदद भी कम हो गई। वहाँ प्रमुख चिन्ता यह थी कि बच्चे विज्ञान से विमुख हो रहे हैं। इस चिन्ता के जवाब में जो प्रयास किए गए, वे इस बात पर केन्द्रित थे कि विज्ञान शिक्षा में विज्ञान के अपने तरीके का गहन प्रशिक्षण शामिल होना चाहिए और बच्चों को एक वैज्ञानिक की तरह काम करने का मौका मिलना चाहिए। मगर बच्चों को विज्ञान के व्यापक एकीकरण का अनुभव देते हुए इन प्रयासों में बच्चों के अपने परिवेश व अनुभवों को समुचित स्थान नहीं मिल पाया। इनमें इस बात का भी ध्यान नहीं रखा गया था कि बच्चे किस स्तर के अमूर्त सोच के लिए तैयार हैं।

1 इस विवरण को तैयार करने में दो प्रमुख स्रोतों से मदद मिली है: किशोर भारती में अक्तूबर 1983 में आयोजित एक गोष्ठी के मिनट्स तथा अक्तूबर 1972 में आयोजित “ए मीटिंग ऑफ लीडर्स ऑफ साइंस एण्ड मैथेमेटिक्स इम्प्रूवमेंट प्रोजेक्ट्स” में यशपाल द्वारा प्रस्तुत पर्चा।

इसके अलावा शिक्षा के इस महत्वपूर्ण उद्देश्य की भी उपेक्षा हुई थी कि बच्चों को वह ज्ञान और वे हुनर हासिल हों जो उन्हें अपने परिवेश में विचारशील जीवन जीने में मददगार हों। इस खामी का जवाब यह था कि विज्ञान शिक्षा को लोगों के दैनिक जीवन के लिए ज़्यादा उपयोगी बनाया जाए।²

रोचक बात यह है कि इस बात का कोई व्यवस्थित विश्लेषण उपलब्ध नहीं है कि 1960 के दशक में सोवियत संघ की विज्ञान शिक्षा की क्या विशेषताएँ थीं और क्या अन्तरिक्ष में उसकी उपलब्धियों का विज्ञान शिक्षा की गुणवत्ता से कोई सम्बन्ध था।

विज्ञान शिक्षा के बारे में कुछ करने की ज़रूरत को भारत में साठ के दशक के मध्य में पहचाना गया था। इसके बाद से कई संगठित व असंगठित प्रयास शुरू हुए। सरकारी नवाचार के प्रयास राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान व प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) के गठन के बाद शुरू हुए थे। इन्हीं प्रयासों के तहत शालेय विज्ञान की कुछ पुस्तकें तैयार करके कई राज्यों को उपलब्ध कराई गई थीं। इन्हें एन.सी.ई.आर.टी.-यूनेस्को सामग्री कहा जाता था। राज्यों ने इनका अनुवाद क्षेत्रीय भाषाओं में करके कुछ स्कूलों में उपयोग भी किया था। इनके साथ एक प्रयोग किट भी दिया गया था, मगर लगता है कि इसका ज़्यादा उपयोग नहीं होता था। यह सामग्री पारम्परिक सामग्री से सिर्फ इस मायने में बेहतर थी कि यह साधारण लागत पर त्रुटिरहित सामग्री थी। पाठ्यक्रम काफी रूढ़िगत ही था और इन पुस्तकों में विषय-वस्तु की भरमार थी।

इसके अलावा एन.सी.ई.आर.टी. ने 1967-68 में नई पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में 21 अध्ययन दलों को वित्तीय सहायता प्रदान की थी। इन दलों ने मिडिल स्कूल स्तर के लिए कई पाठ्य पुस्तकें तैयार की थीं। इस सामग्री की गुणवत्ता में काफी विविधता थी और इनमें से कुछ पुस्तकें उस समय उपलब्ध सामग्री से कहीं बेहतर थीं।

2 नाओमी फ्रीलिन्डिच, "फ्रॉम स्पूतनिक टू टिम्स : रिफॉर्मस इन साइंस एजुकेशन मेक हेडवे डिस्पाइट सेटबैक्स", *हार्वर्ड एजुकेशन लैटर*, वॉल्यूम 14, सितम्बर-अक्तूबर 1998।

जश्न-ए-तलीम

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा समर्थित एक समूह ऑल इण्डिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन (ए.आई.एस.टी.ए.) का भौतिकी अध्ययन दल था। मूल समूह तो स्कूली शिक्षकों का था मगर साथ में विश्वविद्यालयों के कुछ शिक्षक और कुछ शोध वैज्ञानिक भी सलाहकारों के रूप में थे। इस समूह ने एक पुस्तक तैयार की थी जिसका नाम था *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स*। इसे तैयार करने में प्रमुख भूमिका दून स्कूल के दो अध्यापकों बी. जी. पित्रे व सी. के. दीक्षित की थी। वैसे ये लोग इंग्लैण्ड में चल रहे एक कार्यक्रम “नफील्ड साइंस” से प्रभावित थे, मगर इस पुस्तक की रचना इन लोगों ने भौतिकी पढ़ाने के अपने अनुभवों के आधार पर की थी। उस समय जिस ढंग से विज्ञान पढ़ाया जाता था, उससे ये लोग बहुत पीड़ित थे और उसमें बदलाव करना चाहते थे। अपनी सामग्री का निर्माण करते हुए इन्हें फायदा यह था कि ये इसका परीक्षण अपने स्कूल में कर सकते थे। इसके अलावा इन्हें टीचर्स एसोसिएशन के अन्य सदस्यों की रचनात्मक समालोचना का लाभ भी मिला।

जहाँ विज्ञान की पारम्परिक किताबें जानकारी से भरी थीं, वहीं *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* का सिद्धान्त अलग था। इसके पाठ्यक्रम का सिद्धान्त यह था कि बच्चों को “आधुनिक ज्ञान” नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह “ज्ञान” इतनी तेज़ी से बढ़ रहा है कि किसी भी बच्चे के दिमाग में इसे ठूँसा नहीं जा सकता। बच्चे की सीमाएँ हैं, उसके आयु समूह की सीमाएँ हैं। इसलिए बच्चों को ज्ञान हासिल करने के तरीके सिखाए जाने चाहिए, ज्ञान हासिल करने के औज़ारों में माहिर बनाना चाहिए। इस तरह टीचर्स एसोसिएशन की पुस्तक और अन्य पुस्तकों में अन्तर मात्र प्रयोग होने, न होने का नहीं था। वास्तविक अन्तर उद्देश्यों का था।

भौतिकी अध्ययन दल ने विज्ञान शिक्षा की खोज पद्धति का चुनाव किया था। इस चुनाव में उन्हें अन्य देशों में चल रहे कुछ प्रतिष्ठित कार्यक्रमों (खासकर नफील्ड कार्यक्रम) से नैतिक समर्थन भी हासिल हुआ था। दूसरी ओर, देश के कुछ शिक्षाविदों का विरोध भी था जो सिद्धान्ततः तो इस पद्धति के खिलाफ नहीं थे, मगर उन्हें लगता था कि पिछड़े हुए शिक्षकों और साधनहीन स्कूलों वाले इस गरीब देश में इस तरह का प्रयोग नहीं हो सकता। (गौरतलब है कि जब फरवरी 1972 में फ्रेंड्स रूरल सेंटर और

किशोर भारती ने विज्ञान शिक्षा में सुधार करने का प्रस्ताव सरकार के सामने रखा था, तब एन.सी.ई.आर.टी. के फील्ड एडवाइज़र ने यही तर्क दिया था: “एन.सी.ई.आर.टी. इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि भारत जैसे गरीब देश में ऐसे विज्ञान नहीं पढ़ाया जा सकता। यह जो विज्ञान है वह अमरीका और पश्चिमी देशों के लिए ठीक है। यह सम्पन्न देशों का विज्ञान है।” अतः शुरु से ही भौतिकी अध्ययन दल को अपने अस्तित्व को जायज़ ठहराने के लिए अपनी विधि के परीक्षणों और स्कूलों में प्रदर्शनों का सहारा लेना पड़ा था।

भौतिकी अध्ययन दल की पुस्तकों का शुरुआती परीक्षण अनौपचारिक ढंग से चन्द्र अपेक्षाकृत सम्पन्न स्कूलों में हुआ था। दल के अधिकांश शिक्षक ऐसे ही स्कूलों के थे। सभी स्वीकार करते थे कि यह सामग्री इन स्कूलों में तो बढ़िया चलती है मगर बड़े शहरों और देहातों के विपन्न स्कूलों में इसकी वैधता/उपयोगिता को लेकर सन्देह थे।

पब्लिक स्कूल से नगर निगम तक

फिज़िक्स थ्रू इक्सपेरिमेंट्स को एन.सी.ई.आर.टी. से कोई तवज्जो नहीं मिली थी। पित्रे और दीक्षित ने इसे बम्बई के टी.आई.एफ.आर. के वैज्ञानिकों के एक समूह के सामने रखा। संयोग ही था कि आग वहाँ भी लगी हुई थी; ये वैज्ञानिक तड़प रहे थे कि विज्ञान को समाज से कैसे जोड़ा जाए। इसके लिए वे ढंग से प्रयास भी कर रहे थे। इस समूह में यशपाल और वी. जी. कुलकर्णी जैसे वैज्ञानिक शामिल थे। इस पुस्तक को देखकर वे फूले नहीं समाए और फौरन इच्छा ज़ाहिर की कि वे इसका उपयोग करके बम्बई के नगर निगम के स्कूलों में विज्ञान शिक्षा में हस्तक्षेप करना चाहेंगे। नगर निगम ने 10 स्कूलों में इस सामग्री व पद्धति के परीक्षण की अनुमति दे दी। इस तरह आम स्कूलों में इस सामग्री के परीक्षण का अवसर टी.आई.एफ.आर. और बम्बई नगर निगम के बीच बने संवाद में से उभरा। इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन के लिए टी.आई.एफ.आर. के वैज्ञानिकों और भौतिकी अध्ययन दल के निदेशक को मिलाकर एक स्रोत दल का गठन किया गया।

जो किताब मूलतः दून स्कूल जैसे पब्लिक स्कूलों के लिए तैयार की गई थी, वह मराठी में अनूदित होकर बम्बई के नगर निगम स्कूलों में पहुँची। पहली

जश्न-ए-तालीम

बार यह पुस्तक अपने रचयिताओं के हाथों से निकलकर अन्य शिक्षकों के हाथों में पहुँची थी। इसलिए यहाँ शिक्षक प्रशिक्षण का इन्तज़ाम करने की ज़रूरत सामने आई। पित्रे और उनके साथियों के लिए भी यह बिलकुल नया अनुभव था। उन्होंने कभी दूसरे शिक्षकों का प्रशिक्षण नहीं किया था।

एक बात यह भी थी कि *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* में सिर्फ भौतिकी से सम्बन्धित अध्याय थे। इसलिए टी.आई.एफ.आर. के समूह ने इसमें जीव विज्ञान व रसायन के कुछ अध्याय जोड़े। यह नई किताब *प्रायोगिक पदार्थ विज्ञान* कहलाई। इसके आधार पर शिक्षक प्रशिक्षण आयोजित किया गया जिसमें यशपाल और वी. जी. कुलकर्णी जैसे व्यक्तियों ने स्रोत व्यक्तियों की भूमिका अदा की। कार्यक्रम का प्रस्ताव तीन साल के लिए दिया गया था – 1970 से 1972 तक। गौरतलब है कि महाराष्ट्र में मिडिल स्कूल कक्षा 5 से 7 तक होता है और बोर्ड परीक्षा कक्षा 7 में होती है।

पहला शिक्षक उन्मुखीकरण शिविर 1970 के शुरू में आयोजित हुआ। इसी शिविर के बाद स्पष्ट हो गया था कि कार्य पुस्तकों में और प्रयोग सामग्री में किस तरह के बदलाव करने होंगे। अधिकांश शिक्षक हाई स्कूल पास थे और उन्हें विज्ञान पढ़ाने का कोई विशेष प्रशिक्षण नहीं मिला था।

इस कार्यक्रम के लिए गठित स्रोत दल द्वारा स्कूलों में नियमित अनुवर्तन और शिक्षकों के साथ होने वाली मासिक बैठकों से प्राप्त फीडबैक के आधार पर कार्य पुस्तकों में कई संशोधन किए गए। हर सत्र के बाद परीक्षा भी स्रोत दल द्वारा ली जाती थी और मूल्यांकन के नए तरीके विकसित किए गए थे। शिक्षकों के साथ मूल्यांकन के तरीकों पर विचार-विमर्श निहायत ज़रूरी लगा था क्योंकि आम तौर पर वे बच्चों के अधिकांश उत्तरों को बहुत कम करके आँकते थे।

बच्चों को इस पाठ्यक्रम में बहुत मज़ा आता था। उनका प्रदर्शन बहुत बढ़िया था और अनुत्तीर्ण होने की दर नगण्य थी। बच्चों ने कई कीमती सुझाव भी दिए। स्कूलों में उपस्थिति वैसे ही काफी अच्छी थी, वह और बढ़ गई। बच्चे चाहते थे कि उनका विज्ञान का पीरियड अन्त में रखा जाए ताकि ज़रूरी हो तो वे स्कूल समय के बाद भी काम कर सकें।

इस तरह पब्लिक स्कूलों में से निकलकर जब यह कार्यक्रम नगर निगम के स्कूलों में पहुँचा तो कई परिवर्तन हुए। एक तो जीव विज्ञान व रसायन के अध्याय तैयार किए गए। दूसरा, शिक्षक प्रशिक्षण के तौर-तरीकों का विकास हुआ। तीसरा, परीक्षा व मूल्यांकन पर विचार-विमर्श शुरू हुआ। इसके अलावा फीडबैक के आधार पर किताबों में कई संशोधन हुए।

मगर यह कार्यक्रम तीन साल के बाद जारी न रह सका। कार्यक्रम बन्द होने का एकमात्र नहीं तो प्रमुख कारण यह था कि नगर निगम ने परीक्षा प्रणाली में ज़रूरी परिवर्तन करने की अनुमति नहीं दी थी। कार्यक्रम से जुड़े शिक्षक और स्रोत दल दोनों को स्पष्ट था कि यदि परम्परागत परीक्षा ली गई तो इन बच्चों का बहुत नुकसान होगा क्योंकि परम्परागत परीक्षा में रटी-रटाई जानकारी पूछी जाएगी, फॉर्मूले पूछे जाएँगे। लगता है कि परीक्षा में बदलाव की थोड़ी छूट सिर्फ स्थानीय परीक्षा के सन्दर्भ में दी गई थी। बोर्ड परीक्षा में बच्चों को आम परीक्षा में ही बैठना पड़ा था। फिर भी जनवरी 1973 में मदुरै के एक विज्ञान शिक्षा सम्मेलन में वी. जी. कुलकर्णी द्वारा प्रस्तुत एक पत्र के अनुसार, “बम्बई नगर निगम के स्कूलों में किए प्रयोगों में शामिल छात्रों का प्रदर्शन न सिर्फ वस्तुनिष्ठ परीक्षा में बल्कि परम्परागत परीक्षा में भी तुलनात्मक रूप से बेहतर रहा। कम से कम भौतिकी और रसायन के सन्दर्भ में इन छात्रों को तथ्यों के लिहाज़ से कोई नुकसान नहीं हुआ।” अनिल सद्गोपाल ने अपनी पुस्तक *शिक्षा में बदलाव के सवाल* में इस मुद्दे को काफी शिद्दत से उठाया है। उनका कहना है कि इस पूरे घटनाक्रम से स्पष्ट होता है कि परीक्षा यथास्थिति को बनाए रखने का एक शक्तिशाली औज़ार है।³ होशंगाबाद के कार्यक्रम के लिए यह एक प्रमुख सबक बना।

अलबत्ता, नगर निगम में चले इस कार्यक्रम के नतीजे काफी सकारात्मक रहे और कई शिक्षक चाहते थे कि कार्यक्रम पूरा हो जाने के बाद भी उन्हें अपने स्कूलों में इस तरीके से पढ़ाने की अनुमति मिले, जो पता नहीं मिली या नहीं।

3 अनिल सद्गोपाल, *शिक्षा में बदलाव का सवाल*, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ 58.

बम्बई से होशंगाबाद का सफर

सवाल यह है कि यह कार्यक्रम बम्बई से होशंगाबाद कैसे पहुँचा। जिस समय यह कार्यक्रम बम्बई नगर निगम के स्कूलों में चल रहा था, उस समय अनिल सद्गोपाल टी.आई.एफ.आर. में वैज्ञानिक थे। आगे की कहानी उनके ही शब्दों में:

मैं सन 1969 से 1971 तक टी.आई.एफ.आर. में वैज्ञानिक था। और मैं इसको [कार्यक्रम को] मात्र एक दिलचस्पी लेने वाले अवलोकनकर्ता के रूप में देख रहा था। मैंने इसमें कोई भाग नहीं लिया था; सिवाय इसके कि जिस दिन शिक्षक प्रशिक्षण की शुरुआत हुई थी, उस दिन मैं दिन भर मंत्रमुग्ध होकर पित्रे की प्रशिक्षण पद्धति को देखता रहा था।... मगर मैं उस वक्त अपने काम खत्म कर रहा था, बाहर निकलने की तैयारी कर रहा था। [अनिल सद्गोपाल उस समय किशोर भारती संस्था की स्थापना करने के काम में लगे थे। अन्ततः इस संस्था की स्थापना होशंगाबाद ज़िले के बनखेड़ी ब्लॉक के पलिया पिपरिया गाँव में हुई।]

...इन्हीं दिनों में होशंगाबाद आ गया था। हम लोग [किशोर भारती संस्था] स्कूलों में विज्ञान पढ़ाने के लिए बिलकुल नहीं आए थे। हम गरीब बच्चों की रोज़गार व ग्रामीण शोषण की समस्याओं से जूझने की बात को लेकर शिक्षा में काम करने आए थे।

होशंगाबाद आने का निर्णय होने में होशंगाबाद के पास रसूलिया की एक संस्था फ्रेंड्स रूरल सेंटर व उसके तत्कालीन संयोजक सुदर्शन कपूर का बड़ा हाथ था। शिक्षा में रुचि के कारण सेंटर ने रसूलिया गाँव में एक स्कूल भी खोला था जो अन्यान्य कारणों से बन्द हो गया था। सुदर्शन ने मेरे सामने यह सवाल रखा कि अब सेंटर क्या करे। मैंने उसे ए.आई.एस.टी.ए. की कहानी सुनाई और कहा कि कुलकर्णी, पित्रे वगैरह से बात कर ले। उसके बाद सुदर्शन का खाना-पीना छूट गया, उसे लगने लगा कि बम्बई नगर निगम के इस काम को इस इलाके में लाया जाए। यही नींव है इस कार्यक्रम के यहाँ आने की।

फ्रेंड्स रूरल सेंटर के तत्कालीन समन्वयक सुदर्शन कपूर ने इस कथा में इतना और जोड़ा⁴:

हो.वि.शि.का. की उत्पत्ति कई दिमागों और दो प्रोजेक्टों – फ्रेंड्स रूरल सेंटर

4 सुदर्शन कपूर, निजी पत्र-व्यवहार।

और किशोर भारती – के मिलन का परिणाम थी। 1970 के दशक के आरम्भ में किशोर भारती के लिए जगह की तलाश में डॉ. अनिल सद्गोपाल [फ्रेंड्स रुरल] सेंटर आए थे। यह वह समय था जब सेंटर अपने सारे कार्यक्रमों, खासकर स्कूल शिक्षा में अपने काम का मूल्यांकन कर रहा था।

[गांधीजी के बुनियादी शिक्षा के विचार समेत शिक्षा में भागीदारी का सेंटर का लम्बा इतिहास था।] मगर कई वर्षों से आम शिक्षा में सेंटर का योगदान एक स्कूल चलाने तक सीमित हो गया था। सेंटर की चारदीवारी के अन्दर एक स्कूल, और वह भी एक औसत स्कूल, चलाने का कोई अर्थ नहीं था। 1970 के दशक के शुरु में सेंटर अपना स्कूल बन्द करने को तैयार था। [सेंटर के बोर्ड ने] कार्यकर्ताओं को कह दिया था कि वे कोई ऐसा कार्यक्रम खोजें जिसका स्कूली शिक्षा पर व्यापक असर हो सके।

इसी समय डॉ. सद्गोपाल और उनके साथियों ने बनखेड़ी के पास किशोर भारती के लिए ज़मीन ढूँढी। सेंटर ने किशोर भारती के साथ पूरा सहयोग करने का वायदा किया। हो.वि.शि.का. इस सहयोग का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम था। हमें लगा कि यह [हो.वि.शि.का.] सरकारी स्कूलों में विज्ञान पाठ्यक्रम, सीखने के तरीकों और सिखाने की विधियों में सुधार में योगदान देने का एक अवसर प्रदान करता है। साथ ही, यह मध्य प्रदेश में स्कूली शिक्षा में सुधार की सम्भावना भी प्रस्तुत करता है। विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम को शुरु करने का निर्णय इसी पृष्ठभूमि में लिया गया था।

यह जनवरी-फरवरी 1972 की बात है।

फरवरी 1972 में किशोर भारती व फ्रेंड्स रुरल सेंटर द्वारा होशंगाबाद ज़िले की माध्यमिक शालाओं में विज्ञान शिक्षा में नवाचार करने का एक प्रस्ताव मध्य प्रदेश शासन को दिया गया था। इस प्रस्ताव में कहा गया था:

पिछले कुछ दशकों में शिक्षा की अवधारणाओं में क्रान्तिकारी बदलाव हुए हैं। मगर इन विचारों ने हमारे स्कूलों व कॉलेजों में शिक्षण कार्यक्रमों को बहुत कम प्रभावित किया है।

शिक्षा का लक्ष्य छात्र के दिमाग में जानकारी ढूँसने की बजाय उसे बुनियादी सिद्धान्त व सामान्य अवधारणाएँ प्रदान करना होना चाहिए।

जश्न-ए-तालीम

देश के अग्रणी वैज्ञानिक और शिक्षाविद् इस बात पर एकमत हैं कि बच्चा सिद्धान्तों को मात्र प्रयोगों और खुली चर्चा के ज़रिए ही समझ सकता है।

स्कूलों और कॉलेजों में विज्ञान शिक्षण के लिए इस्तेमाल की जा रही अधिकांश पाठ्य पुस्तकों में जो कुछ पढ़ाया जाता है वह बासी पड़ चुका है या शायद गलत भी साबित हो चुका है। किसी भी नवीन विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का लक्ष्य विज्ञान को ऐसे रोमांचक विषय के रूप में प्रस्तुत करना होना चाहिए जिसकी सीमाएँ लगातार आगे बढ़ रही हैं।

शिक्षक की भूमिका एक निर्देशक की बजाय एक प्रेक्षक और मार्गदर्शक की होनी चाहिए जो सिर्फ प्रयोगों का प्रदर्शन करने की बजाय बच्चे को प्रयोग करने और विश्लेषणात्मक ढंग से सोचने में मदद करे।

कठोर सिलेबस और पाठ्य पुस्तकें स्कूल स्तर पर नवाचार के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ते। एक गतिशील विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में सभी सम्बन्धित पक्ष – छात्र, शिक्षक, शिक्षाविद् और वैज्ञानिक – सतत फीडबैक और कक्षा के अनुभव के माध्यम से पाठ्यक्रम व शिक्षण पद्धतियों के विकास व परिवर्तन में हाथ बँटाएँगे।

ऑल इण्डिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन के भौतिकी अध्ययन दल द्वारा तैयार किया गया भौतिकी शिक्षण कार्यक्रम उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति करता है।

प्रस्ताव यह है कि ऑल इण्डिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन भौतिकी दल का कार्यक्रम मध्य प्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में प्राथमिक व माध्यमिक स्कूलों में क्रियान्वित किया जाए।

15 स्कूलों के 30 शिक्षकों के लिए उन्मुखीकरण शिविर मई-जून 1972 में आयोजित किया जाए। शिविर के दौरान कार्य-पुस्तकों और किट को पुनर्गठित करके उन्हें ग्रामीण स्कूलों के लिए उपयुक्त बनाया जाएगा। इसके लिए उदाहरणों व प्रायोगिक सामग्री के लिए गाँव के भौतिक पर्यावरण को आधार बनाया जाएगा।

इसके लिए कार्यक्रम में शामिल स्कूलों को राज्य के सिलेबस और परीक्षा से छूट दी जाए।

यह प्रस्ताव होशंगाबाद ज़िले की 15 शालाओं के लिए था। राज्य शासन से अनुमति मिलने के बाद कुल 16 माध्यमिक शालाएँ कार्यक्रम में शामिल की गई थीं।

जब 1972 में हो.वि.शि.का. शुरू हुआ था तो वह भी निर्धारित पाठ्यक्रम या विषय-वस्तु को लेकर शुरू नहीं हुआ था। शुरुआत उपरोक्त अत्यन्त सीमित अकादमिक संसाधनों के साथ और विज्ञान शिक्षा के उद्देश्यों व प्रक्रिया की एक मोटी-मोटी समझ के साथ हुई थी।

1972 से 1975 का दौर

1972 से 1975 के बीच काफी फासला तय किया गया। जैसे दून स्कूल से निकलकर नगर निगम के स्कूलों में पहुँचना एक महत्वपूर्ण कदम था, उसी प्रकार से नगर निगम स्कूलों से आगे बढ़कर होशंगाबाद के ग्रामीण स्कूलों में कदम रखना एक छलॉंग थी। इस छलॉंग के कई आयाम हैं।

इस कार्यक्रम की पहली पाठ्य पुस्तक *बाल वैज्ञानिक* (जिसे शायद कार्य पुस्तक कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा) का प्रकाशन अक्टूबर 1972 में हुआ था। “बाल वैज्ञानिक” से आशय था कि कक्षा में बच्चे वैज्ञानिक के रूप में काम करते हुए सीखें। इस पहली *बाल वैज्ञानिक* का कवर लाल रंग का था और इसे प्यार से “लाल वैज्ञानिक” कहा करते थे। आगे *बाल वैज्ञानिक* के प्रथम संस्करण को “लाल वैज्ञानिक” ही कहा जाएगा। जहाँ सामान्य रूप से *बाल वैज्ञानिक* या किसी अन्य संस्करण की बात होगी वहाँ उसे *बाल वैज्ञानिक* कहेंगे।

पहला शिक्षक प्रशिक्षण शिविर इस पुस्तक के प्रकाशन से पहले फ्रेंड्स रूरल सेंटर, रसूलिया में मई 1972 में आयोजित किया गया था। यहीं से होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तक निर्माण की यात्रा शुरू होती है। बम्बई से होशंगाबाद आने के बाद कई नए आयाम जुड़ते गए। ये सारे आयाम किसी सोची-समझी रणनीति या नीतिगत वक्तव्य के तहत नहीं जुड़े थे। जैसे-जैसे काम आगे बढ़ा, स्कूलों में सामग्री का उपयोग हुआ, नए-नए स्रोत व्यक्ति जुड़े, शिक्षक प्रशिक्षण हुए, जैसे-जैसे पाठ्यक्रम के सिद्धान्त उभरते गए।

आगे बढ़ने से पहले एक और बात का ज़िक्र करना ज़रूरी है। हालाँकि यह बात अनुषांगिक है मगर इसका गहरा असर हो.वि.शि.का. की प्रक्रियाओं पर पड़ा था। फ्रेंड्स रूरल सेंटर और किशोर भारती, दोनों ही बहुआयामी

जश्न-ए-तालीम

“लाल वैज्ञानिक” में भौतिकी के 12 और जीव विज्ञान के 8 अध्याय थे। ये सारे अध्याय प्रयोगों और खोज पद्धति पर आधारित थे। ये अध्याय थे:

- | | |
|----------------------------------|---|
| 1. वस्तुएँ और समूह | 2. दूरी और उसका मापन |
| 3. घट-बढ़ और सन्निकटन | 4. सतह और क्षेत्रफल |
| 5. स्थान और सापेक्ष स्थिति | 6. आयतन और धारिता |
| 7. निकाय और पारस्परिक क्रिया | 8. समय और पुनरावर्ती निकाय |
| 9. बल और भार | 10. भार और तुला |
| 11. विद्युत प्रवाह और उसका परिपथ | 12. चुम्बक और पारस्परिक क्रिया |
| 13. जीव-जगत में विविधता | 14. वृद्धि |
| 15. विकास | 16. भोजन और पाचन क्रिया |
| 17. श्वसन और शक्ति | 18. सूर्य का प्रकाश और भोजन की उत्पत्ति |
| 19. संवेदनशीलता और प्रतिक्रिया | 20. सजीव और निर्जीव |

संस्थाएँ थीं। दोनों ही संस्थाएँ ग्रामीण परिवेश में स्थित थीं। फ्रेंड्स रुरल सेंटर होशंगाबाद ज़िला मुख्यालय के नज़दीक के गाँव रसूलिया में और किशोर भारती होशंगाबाद ज़िले के पूर्वी छोर पर बनखेड़ी विकास खण्ड के पलिया पिपरिया गाँव में थी।

फ्रेंड्स रुरल सेंटर एक क्वेकर (Quaker) संस्था थी जिसकी स्थापना उन्नीसवीं सदी के अन्त में अकाल राहत के उद्देश्य से की गई थी। 1971 में विख्यात गाँधीवादी शिक्षाविद् मार्जरी साइक्स रसूलिया का मार्गदर्शन कर रही थीं। उनका मत था कि शिक्षा के क्षेत्र में सेंटर ऐसा काम करे जो दिशा परिवर्तन का हो और मुख्यधारा को बदलने वाला हो। इसमें निहित था कि एक टापू नहीं बनाना है। स्पष्ट है कि बम्बई नगर निगम का काम इन दोनों शर्तों को पूरा करता था।

दूसरी ओर किशोर भारती की स्थापना यह समझने के उद्देश्य से की गई थी कि गाँव में जो बच्चे गरीबी के कारण स्कूल नहीं जा पाते हैं, उनके लिए किस ढंग की शिक्षा हो और किस तरीके से दी जाए ताकि ये बच्चे बेरोज़गारी व ग्रामीण शोषण की समस्या से जूझ पाएँ। इसकी प्रेरणा एक तरह से गाँधीजी की नई तालीम से मिली थी।

फ्रेंड्स रूरल सेंटर व किशोर भारती दोनों में ही ग्रामीण समाज को लेकर, विकास को लेकर, विकास में शिक्षा की भूमिका को लेकर निश्चित विचार थे। दोनों के काम में खेती-बाड़ी, पशुपालन, स्वास्थ्य वगैरह शामिल थे। इसके चलते हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम में एक ग्रामीण रुझान नज़र आता है। इसके अलावा विज्ञान शिक्षण को पर्यावरण, खासकर ग्रामीण पर्यावरण पर आधारित करना भी इन दो संस्थाओं की विशेष परिस्थिति का परिणाम कहा जा सकता है। दोनों संस्थाओं के सामाजिक सरोकारों का असर तैयार की गई सामग्री तथा कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओं में दिखाई पड़ता है। इसी सन्दर्भ में यह भी बताया जा सकता है कि इन दो संस्थाओं का सहज, नैसर्गिक माहौल भी लोगों को आकर्षित करता था। यहाँ खेती-बाड़ी से जुड़ी विभिन्न गतिविधियाँ चलती रहती थीं और ग्रामीण लोगों का आना-जाना लगा रहता था। इस परिवेश में खेती-बाड़ी व स्थानीय लोगों से सम्पर्क अनायास ही होता था, जिसका स्वाभाविक असर शिक्षा सम्बन्धी कार्य पर होता था।

दूसरे शब्दों में, विज्ञान शिक्षा में विज्ञान की आन्तरिक व्यवस्था और उसकी विधियों से परिचय की बात तो *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* व *प्रायोगिक पदार्थ विज्ञान* के साथ आई थी, मगर पाठ्यक्रम को बच्चों के परिवेश व पर्यावरण और सामाजिक मुद्दों से जोड़ना होशंगाबाद आकर शामिल हुआ।

जुड़ना विशेषज्ञों का

जल्दी ही कार्यक्रम के विकास का एक और अहम मोड़ आया। फ्रेंड्स रूरल सेंटर में आई.आई.टी., कानपुर, से एक कार्यकर्ता रशीद शेख⁵ आया, जो हो.वि.शि.का. का पहला पूर्णकालिक कार्यकर्ता बना। उसका विचार था कि ऐसे कार्यक्रम के लिए एक स्रोत दल चाहिए और ऐसे बहुत से लोग हैं जो विज्ञान शिक्षा के अन्तर्द्वन्द्वों से पीड़ित हैं। उसने बताया कि एन.सी.ई.आर.टी. की विज्ञान प्रतिभा खोज के ग्रीष्मकालीन शिविर में वह दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के डॉ. कृष्णा साने से मिला था और उनकी शिक्षण

5 रशीद शेख वर्तमान में न्यूयॉर्क एकेडमी ऑफ साइंस में शोध निदेशक हैं।

जश्न-ए-तालीम

तकनीक से बहुत प्रभावित हुआ था। परिणामस्वरूप अनिल सद्गोपाल और रशीद शेख अगस्त-सितम्बर 1972 में दिल्ली विश्वविद्यालय जाकर डॉ. साने से मिले।

अक्तूबर में डॉ. साने ने दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिकी व रसायन के अध्यापकों को इकट्ठा किया। यह समूह विज्ञान शिक्षण को लेकर पहले से चिन्तित था। अर्थात् टी.आई.एफ.आर. की ही तरह यहाँ भी तैयारी पहले से थी। यहाँ यह जोड़ना मुनासिब होगा कि दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ शिक्षक इस बात से दुखी थे कि स्कूलों से जो बच्चे उनके पास पहुँचते हैं वे विज्ञान में बहुत कमजोर होते हैं। यानी उन्हें भी स्कूली शिक्षा की चिन्ता सता रही थी।

इन 15-20 लोगों के साथ दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्र विभाग के एक कमरे में बैठक हुई और उन्होंने फौरन जुड़ने की इच्छा ज़ाहिर की। यह भी एक संयोग था कि वहाँ मौजूद विजय शंकर वर्मा उस भौतिकी अध्ययन दल के आमंत्रित सदस्य थे जिसने *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* तैयार की थी। उन्हें बहुत खुशी हुई कि 1966-67 में शुरू हुआ वह काम अब होशंगाबाद पहुँच गया है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के दल दिसम्बर 1972 व जनवरी 1973 में शिक्षकों की मासिक गोष्ठी में पहुँचे। इनके आने से माहौल ही बदल गया। इनके पास विज्ञान की बहुत अच्छी समझ थी, नए-नए तरीके थे। इन प्रयोगों से ये शिक्षकों की मासिक गोष्ठियों में जान डाल देते थे। शिक्षकों को जोश आया, कार्यक्रम के संचालकों को जोश आया और दिल्ली विश्वविद्यालय के लोगों को भी एक मंच मिला।

इस संवाद के परिणामस्वरूप दो प्रस्ताव विकसित हुए। दिल्ली विश्वविद्यालय व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को दिए गए इन प्रस्तावों में मूलतः विश्वविद्यालयीन शिक्षकों द्वारा स्कूली शिक्षा में सुधार के प्रयासों में भागीदारी के लिए अनुमति व समर्थन चाहा गया था। काफी जद्दोजहद के बाद यह अनुमति मिल गई और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इसे अपना समर्थन भी दे दिया। दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापकों और आगे चलकर

छात्रों से यह जुड़ाव दूरगामी व निर्णायक साबित हुआ। इस तरह सम्भवतः पहली बार विश्वविद्यालय के शिक्षक स्कूली शिक्षा में प्रत्यक्ष रूप से शामिल हुए।

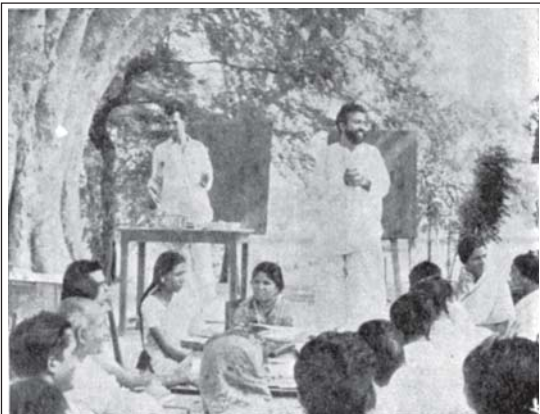
दिल्ली विश्वविद्यालय के ये शिक्षक मुख्यतः भौतिकी व रसायन के थे, हालाँकि जीव विज्ञान के कुछ शिक्षक भी थोड़े समय के लिए भागीदार रहे। इन लोगों ने नए अध्याय विकसित करने की जिम्मेदारी उठाई। इसी दौरान 1975 के आसपास मध्य प्रदेश के महाविद्यालयों के शिक्षकों का एक दल भी कार्यक्रम से जुड़ा। इस दल में ज़्यादा संख्या जीव विज्ञान के शिक्षकों की थी।

इस प्रकार विशेषज्ञों, स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं और शिक्षकों का एक सशक्त दल बना जिसने मिल-जुलकर अध्याय विकसित करने से लेकर परीक्षा प्रणाली, शिक्षक प्रशिक्षण, किट, शिक्षकों के लिए सतत समर्थन तंत्र वगैरह हर पक्ष को आकार दिया। यह भी पहली बार था कि विश्वविद्यालय के शिक्षक और स्कूल के शिक्षक कन्धे से कन्धा मिलाकर स्कूली शिक्षा, खासकर विज्ञान शिक्षा की समस्याओं से जुड़ रहे थे, उनके समाधान खोज रहे थे और अध्याय विकसित कर रहे थे।

एक और बात कहना ज़रूरी है। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की कहानी में “शिक्षा शास्त्रियों” का अभाव रहा है। चाहे टी.आई.एफ.आर. के वैज्ञानिक हों, दिल्ली विश्वविद्यालय, आई.आई.टी., मध्य प्रदेश के महाविद्यालयों के लोग हों, विभिन्न शोध संस्थानों के लोग हों या स्कूलों के शिक्षक, ये सब वैज्ञानिक या विज्ञान शिक्षक थे, इनमें शिक्षा शास्त्री कोई न था। इनके अलावा थे किशोर भारती और फ्रेंड्स रूरल सेंटर के कार्यकर्ता, जो विविध पृष्ठभूमियों से आए थे। यदा-कदा क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय और मध्य प्रदेश के शिक्षा महाविद्यालयों के शिक्षकों की भागीदारी को छोड़ दें, तो होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में कभी भी औपचारिक शिक्षा शास्त्रियों की उल्लेखनीय उपस्थिति नहीं रही। इस तथ्य ने कार्यक्रम की बनावट पर ज़रूर असर डाला होगा।

पहला प्रशिक्षण

मई 1972 में हो.वि.शि.का. का पहला 21 दिवसीय उन्मुखीकरण शिविर शुरू हुआ। फ्रेंड्स रूरल सेंटर के एक सभा कक्ष में 40 शिक्षक और साथ में कार्यक्रम के नवगठित स्रोत दल के सदस्य उपस्थित थे। *फिज़िक्स थू एक्सपेरिमेंट्स* के आधार पर भौतिकी के अध्याय तैयार थे। लेकिन जीव विज्ञान, रसायन वगैरह का काम बाकी था। टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फण्डामेंटल रिसर्च के आणविक जीव विज्ञान विभाग के कुछ शोध छात्रों ने लगभग डेढ़ महीने की कड़ी मेहनत से जीव विज्ञान के अनेक प्रयोग तैयार किए थे और वे



खुले वातावरण में शिक्षक प्रशिक्षण

उन्हें सलीके से लिखकर शिविर के लिए लाए थे। मगर जब ये प्रयोग करने की बारी आई तब तक इनके रचयिताओं का परिचय सरकारी स्कूलों के हालात, बच्चों के शैक्षणिक स्तर और सामाजिक मान्यताओं आदि से हो चला था। इसके आधार पर वे समझ गए कि उनके द्वारा तैयार की गई कार्य पुस्तक स्थानीय परिवेश से मेल नहीं खाती। उन्होंने स्वीकार किया कि उनकी यह समझ गलत थी कि विज्ञान के प्रयोग परिवेश को समझे बिना किए जा सकते हैं। बताते हैं कि 1974 में दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्रियों ने तो उनके द्वारा तैयार कार्य पुस्तक को बहुत ही नाटकीय ढंग से आग के हवाले कर दिया था। पहले ही प्रशिक्षण से यह अहम सबक सामने आया कि अवधारणाएँ व पद्धति का पर्यावरण आधारित होना आवश्यक है।

इसी प्रशिक्षण में एक और बात सामने आई। शिविर में जो प्रयोग सामग्री उपयोग की गई थी वह वैसे तो काफी मामूली थी, मगर फिर भी इसमें ब्यूरेट, पिपेट, राउण्ड बॉटम फ्लास्क, स्टेण्ड वगैरह शामिल थे। यह भी साफ हुआ था कि इस तरह की सामग्री थोड़ा बेगानापन पैदा करती है। इस सन्दर्भ में तत्काल तो कुछ नहीं किया गया मगर यह एक सरोकार रहा जिसे लेकर 1975 में एक शिविर के दौरान विचार किया गया था।

लाल वैज्ञानिक

सितम्बर 1972 में “लाल वैज्ञानिक” छपकर आ गई। यह किताब बम्बई कार्यक्रम के लिए तैयार की गई किताब *प्रायोगिक पदार्थ विज्ञान* और *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* के आधार पर तैयार की गई थी। *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* मात्र भौतिकी की किताब थी, यद्यपि बम्बई में कार्यक्रम चलने के दौरान टी.आई.एफ.आर. समूह ने जीव विज्ञान और रसायन के अध्याय भी विकसित किए थे। होशंगाबाद के लिए सोचा गया कि ये अध्याय नए सिरे से तैयार किए जाएंगे। “लाल वैज्ञानिक” इस तरह मूलतः *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* का अनुवाद थी और जीव विज्ञान के कुछ अध्याय टी.आई.एफ.आर. समूह द्वारा जोड़े गए थे। दिलचस्प बात यह है कि इसमें रसायन शास्त्र से सम्बन्धित अध्याय नहीं थे।

“लाल वैज्ञानिक” की सबसे प्रमुख विशेषता इसका मित्रवत रवैया और शैली थी। पुस्तक बच्चों को विज्ञान सीखने, कुछ खोजने और आनन्द लेने का न्यौता देती है। यह बात पुस्तक की भूमिका “आओ, प्रयोग करें” से स्पष्ट हो जाती है:

इन पुस्तकों में स्वतः प्रयोग करके विषय को अच्छी तरह समझने का तरीका बताया गया है।

नई बातों को “रटने” या “जानने” के स्थान पर यदि नए प्रयोगों को “करने” में तुम्हें अधिक मज़ा आता है तो तुम्हारे लिए विज्ञान सीखना बहुत सरल हो जाएगा।

हमें आशा है कि इस प्रयोग पुस्तक में सुझाई गई विधि से काम करने में तुम्हें उतना ही आनन्द और सन्तोष मिलेगा जितना वैज्ञानिकों को मिलता है।

जश्न-ए-तालीम

यानी तीन बातें स्पष्ट थीं। पहली यह कि हो.वि.शि.का. की पुस्तकों में जानकारी नहीं परोसी जाएगी, और दूसरी यह कि सीखने की प्रक्रिया में बच्चों को मज़ा आना चाहिए। ये दोनों ही बातें शिक्षा की उस रूढ़ अवधारणा से उलट थीं जिसमें शिक्षा का प्रमुख मकसद जानकारी रटना माना जाता है और मज़े वगैरह जैसी चीज़ों के लिए कोई स्थान नहीं होता। तीसरी बात यह थी कि बच्चों को वैज्ञानिक खोज का अनुभव मिले।

“लाल वैज्ञानिक” के भौतिकी के अध्याय मूलतः तीन बातों पर केन्द्रित थे। पहली थी समूहीकरण, दूसरी मापन और तीसरी पारस्परिक क्रियाओं का अध्ययन। ये बातें विज्ञान समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जा सकती हैं। जीव विज्ञान के अध्यायों के बारे में कहा जा सकता है कि सम्भवतः खोज पद्धति के ताने-बाने में यही अध्याय उस समय तैयार हो सके होंगे। फिर भी देखा जाए तो ये अध्याय जीव विज्ञान की कुछ बुनियादी अवधारणाओं से सम्बन्धित थे – सजीवों के गुणधर्मों को समझना (पोषण, श्वसन, वृद्धि-विकास, संवेदनशीलता), और अन्ततः इन गुणधर्मों के आधार पर सजीवों को निर्जीवों से अलग कर पाना। जीवजगत में विविधता को खास स्थान दिया गया था और यह आधुनिक जीव विज्ञान की एक प्रमुख अवधारणा है।

मगर ये अध्याय बच्चों के पर्यावरण से जुड़े हुए नहीं थे। खासकर भौतिकी के अध्याय काफी हद तक “प्रयोगशालात्मक” कहे जा सकते हैं। जीव विज्ञान के अध्यायों में भी पर्यावरण को आधार नहीं बनाया गया था।

“लाल वैज्ञानिक” के अध्याय काफी कुछ मानकर चलते हैं। जैसे यह मानकर चला जाता है कि बच्चों में गणित के हुनर काफी विकसित हैं। इसी प्रकार, वृद्धि के अध्याय में मानकर चला गया है कि बच्चे ग्राफ बनाना जानते ही हैं। इस तरह की कई चीज़ें “लाल वैज्ञानिक” में नज़र आती हैं। इन मान्यताओं को आगे चलकर गम्भीर चुनौती का सामना करना पड़ा।

कार्ड

इस दौरान एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया। यह निर्णय कार्यक्रम की प्रायोगिक प्रकृति का नतीजा कहा जा सकता है। पहले प्रशिक्षण से यह तो

स्पष्ट था कि जो भी अध्याय विकसित किए गए हैं या आगे विकसित किए जाएँगे, उनमें स्कूली अनुभव व फीडबैक के आधार पर सतत फेरबदल व संशोधन आवश्यक होगा। इसलिए तय किया गया कि फिलहाल इस कार्यक्रम हेतु किताब छापी ही न जाए। किताब ऐसा भाव पैदा करती है जैसे कोई “पत्थर की लकीर” हो, अन्तिम स्वरूप हो। इस प्रकार “लाल वैज्ञानिक” के अनुभव के आधार पर आगे के हरेक अध्याय के कार्ड तैयार किए गए और शिक्षकों को यह स्पष्ट कर दिया गया कि ये प्रायोगिक व आजमाइशी अध्याय हैं, स्कूली अनुभव के आधार पर इनमें व्यापक संशोधन किए जाएँगे। हरेक अध्याय एक-एक करके छापा जाता था और इसी रूप में शिक्षकों व छात्रों को दिया जाता था। चूँकि ये अध्याय एक जिल्द में नहीं थे, इसलिए सुरक्षा की दृष्टि से इन्हें मोटे कागज़ पर छापा जाता था। इन्हें कार्ड कहते थे।

कार्डों का एक फायदा यह भी था कि यदि किसी एक अध्याय में परिवर्तन करना हुआ तो बस उसे फिर से छापकर उपलब्ध कराना होता था। यदि किसी अध्याय को एक कक्षा से दूसरी कक्षा में स्थानान्तरित करना हुआ, तो भी यह सरलता से किया जा सकता था। इससे सतत संशोधन की प्रक्रिया भी आसान हो गई।

1972 से 1975 के बीच कई अध्याय तैयार किए गए। ये अध्याय स्कूलों में आजमाए गए, शिक्षकों के साथ करके देखे गए और धीरे-धीरे हो.वि.शि.का. के लिए अध्यायों का एक सेट बनता गया। इसी दौरान धीरे-धीरे अध्यायों की बनावट तथा पाठ्यक्रम के विभिन्न आयाम भी परिभाषित होते गए। लिहाज़ा 1972-75 की इस अवधि की कुछ प्रक्रियाओं पर ध्यान देना लाज़मी है।

यह तो स्पष्ट था कि इस बारे में कोई पूर्व निर्णय नहीं था कि कौन-से अध्याय शामिल किए जा सकते हैं और कौन-से नहीं। इसलिए इस दौरान कई विविध विषयों पर अध्याय तैयार करने की प्रक्रिया चली। इनमें से कई अध्याय अन्ततः *बाल वैज्ञानिक* के हिस्से बने, मगर कई अध्याय बीच में ही छूट गए। इस बात की काफी छूट थी कि आप किसी भी विषय पर अध्याय तैयार करने की कोशिश कर सकते थे।

जश्न-ए-तालीम

प्रक्रिया यह होती थी कि किसी स्रोत व्यक्ति को यह जिम्मेदारी सौंपी जाती थी कि किसी विषय पर अध्याय तैयार करे। सबसे पहले स्रोत दल के विभिन्न सदस्य इस पर विचार करते थे। इस चरण में मुख्यतः किसी अध्याय के वैज्ञानिक पक्ष, प्रयोगों की प्रकृति तथा तार्किक क्रम वगैरह पर ध्यान दिया जाता था। इस विचार-विमर्श के उपरान्त अध्याय के प्रथम प्रारूप को अन्तिम रूप दिया जाता था।

जब अध्यायों के पहले मसौदे तैयार हो जाते थे तब शिक्षकों के उन्मुखीकरण शिविर में इनकी आजमाइश होती थी। प्रतिदिन शिक्षकों की टोलियों को एक-एक अध्याय दिया जाता था और वे उसे ठीक उसी तरह करने का प्रयास करते जैसा कि वह लिखा गया था। अध्याय को करने के बाद प्रत्येक टोली उसके सारे पहलुओं पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती। इस प्रतिवेदन में प्रयोगों को करने में और भाषा को लेकर दिक्कतों तथा अवधारणा की अस्पष्टता वगैरह पर टिप्पणी की जाती थी। इसके बाद शिक्षक व स्रोत व्यक्ति सामूहिक रूप से बैठकर इन प्रतिवेदनों पर विचार करते थे। प्रत्येक बिन्दु पर विस्तार में चर्चा होती थी। कई बिन्दु ऐसे होते थे जिन पर मात्र विचार करके मामला सुलझ नहीं पाता था। ऐसे मामलों में गहन विचार-विमर्श के लिए एक “आयोग” का गठन होता था। यह आयोग उस मुद्दे पर विस्तार से काम करके अपनी रिपोर्ट देता था। इसके अलावा कुछ अवधारणात्मक मुद्दों के लिए अलग से समय रखा जाता था ताकि अध्याय के ढाँचे और सम्बन्धित मुद्दों पर ज़्यादा गहराई से विचार हो सके। इन सारी प्रतिक्रियाओं के आधार पर सम्बन्धित व्यक्ति तत्काल (यानी उसी शिविर में) उस अध्याय में संशोधन करता था। और उसे फिर से परखा जाता था।

इसके बाद इन अध्यायों के चित्र बनाने, भाषा सुधार करने, ले-आउट करने और मुद्रण की प्रक्रिया शुरू होती थी। अन्ततः अध्याय शिक्षकों को कक्षा में अध्यापन के लिए दिए जाते थे। ऐसा नहीं था कि पूरे वर्ष के सारे अध्याय एक साथ साल के शुरू में ही बँट जाएँ। साल भर अध्याय तैयार करना और स्कूलों को देना चलता रहता था।

स्कूलों में *बाल वैज्ञानिक* के अध्यापन के समय स्रोत दल के सदस्य मौजूद

रहते थे और हर अध्याय, हर प्रयोग, हर प्रश्न को लेकर विस्तृत फीडबैक हासिल होता था। यह फीडबैक कार्यक्रम व सामग्री के विकास में बहुत मददगार रहा। लगता है कि ऐसा अधिकांश फीडबैक मौखिक स्तर पर ही रहता था क्योंकि इसके कोई व्यवस्थित रिकॉर्ड उपलब्ध नहीं हैं।

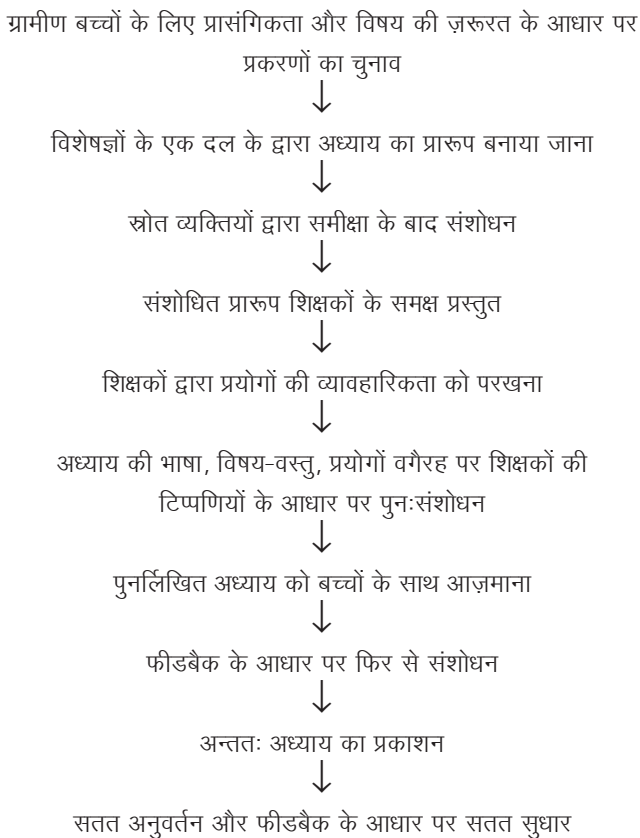
उस समय बच्चों के साथ कई सर्वेक्षण-अध्ययन भी किए गए थे। इसी प्रकार का एक अध्ययन बच्चों में दशमलव संख्याओं की समझ को लेकर किया गया था, जिसके निराशाजनक परिणामों के मद्देनजर बच्चों में स्थानीय मान व दशमलव की समझ की पुष्टि के लिए “गणक के खेल” नामक अध्याय विकसित किया गया।

इस तरह धीरे-धीरे एक-एक करके अध्याय विकसित होते गए। स्कूलों में शिक्षकों को बताया जाता था कि “लाल वैज्ञानिक” में से कौन-कौन-से अध्यायों का उपयोग किया जाना है और कार्डों के रूप में कौन-से अध्याय मिलेंगे। जब कार्यक्रम तीनों कक्षाओं में फैल गया तो “लाल वैज्ञानिक” के सारे अध्याय एक ही कक्षा में नहीं होते थे। इन्हें तीनों कक्षाओं में बाँटा जाता था। यानी तीनों कक्षाओं में कुछ अध्याय “लाल वैज्ञानिक” से और कुछ अध्याय कार्डों से होते थे। ये निर्णय हर साल किए जाते थे क्योंकि समूह यह आजमाकर सीख रहा था कि किस कक्षा में कौन-सी अवधारणाएँ उचित होंगी और किस कक्षा में क्या मानकर चला जा सकता है। यह भी देखने की बात थी कि यदि कोई अध्याय करवाना है, जिसके लिए पूर्व तैयारी के रूप में कुछ हुनर या अवधारणात्मक समझ की ज़रूरत है, तो क्या वह पहले से मौजूद है या उसके लिए अलग से अध्याय विकसित करने की ज़रूरत होगी। इन सब प्रयोगों को करते-करते पाठ्यक्रम और विषय-वस्तु सम्बन्धी मुद्दों पर स्पष्टता हासिल हो रही थी, कुछ सामान्य सिद्धान्त उभरते जा रहे थे और समझ परिष्कृत होती जा रही थी।

बाल वैज्ञानिक

अध्यायों का विकास

मोटे तौर पर *बाल वैज्ञानिक* अध्यायों के विकास की प्रक्रिया निम्नानुसार चलती थी:



पाठ्यक्रम और विषय-वस्तु की समझ

इस अध्याय में हम देखेंगे कि हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम व विषय-वस्तु किन सिद्धान्तों पर आधारित रहे हैं। मगर यह समझना गलत होगा कि ये सारे सिद्धान्त पहले दिन से पता थे – जैसे-जैसे स्कूलों में काम आगे बढ़ा, जैसे-जैसे समझ बढ़ी, और समझ ने सिद्धान्तों का रूप लिया। चूँकि समझ व सिद्धान्तों का सम्बन्ध काम व व्यवहार से है, इसलिए स्पष्ट है कि यह समझ निरन्तर परिवर्तनशील और विकासोन्मुख है। इसी वजह से होशंगाबाद विज्ञान को शिक्षण के किसी “वाद” के दायरे में रखकर देखना अनुचित होगा।

हो.वि.शि.का. समूह शुरू से ही इस बात को लेकर काफी सजग रहा कि “जानकारी का विस्फोट” पाठ्यक्रम का आधार नहीं होगा। समूह मानता था कि यदि “जानकारी के विस्फोट” के नाम पर अपने कार्यक्रम को बढ़ाते ही जाएँ, तो एक ऐसा समय आएगा जब सारी बातें डालना असम्भव हो जाएगा। जैसे भी पाठ्यक्रम में चाहे आज उपलब्ध सारी जानकारी ढूँस दें, तो भी आज से दस साल बाद जब बच्चे इस जानकारी का इस्तेमाल करना चाहेंगे तो वे पाएँगे कि उनकी जानकारी दस साल पुरानी है। इसलिए खुद सीखने की बात पर काफी ज़ोर दिया गया। चूँकि यह एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें बच्चे भी शामिल थे, इसलिए शुरू से ही स्पष्ट था कि इसमें समय लगेगा।

1972 से लेकर 1977 के बीच जो सघन प्रक्रिया चली उसमें से हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम और विषय-वस्तु से सम्बन्धित लगभग सारे प्रमुख सिद्धान्त उभरे

जशन-ए-तालीम

थे। इसी समझ को किशोर भारती में 3-8 अक्टूबर 1983 के दरम्यान आयोजित एक बैठक में प्रस्तुत किया गया था।

इस बैठक में प्रस्तुत विवरण और अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारी के मुताबिक हो.वि.शि.का. के पाठ्यक्रम व उसके विकास के प्रमुख मुद्दे निम्नलिखित थे:

1. पाठ्यक्रम गतिविधि आधारित हो, जिसमें बच्चे खुद प्रयोग करें। ख्याल यह था कि माध्यमिक स्कूलों में विज्ञान शिक्षण में प्रयोग एक बुनियादी गतिविधि होना चाहिए। यह स्पष्ट था कि केवल शिक्षक द्वारा प्रयोग करके दिखा देने भर से काम नहीं चलेगा। ऐसी अपेक्षा थी कि बच्चे टोलियों में प्रयोग करें। प्रयोग करके उस पर सवाल हों, चर्चा हो। इस चर्चा से विज्ञान के सिद्धान्त निकलें। प्रयोग इस तरह से क्रमबद्ध हों कि बच्चे धीरे-धीरे वैज्ञानिक सिद्धान्तों की ओर बढ़ें। हर गतिविधि बच्चों की समझ के स्तर को ध्यान में रखकर की जाए। यदि किसी अवधारणा को विकसित करना है तो अवलोकन बार-बार दोहराए जाने चाहिए। यह नहीं कि आपने एक बार प्रयोग कर दिया और बच्चे सिद्धान्त सीख गए। बार-बार, अलग-अलग तरह के प्रयोग करवाने पड़ेंगे जिनसे वे कदम-दर-कदम आगे बढ़ें। प्रयोगों से जुड़ा एक मुद्दा यह था कि इन प्रयोगों के निष्कर्ष पुस्तक में न दिए जाएँ ताकि बच्चों को खोज का आनन्द मिले। एक कोशिश यह भी रही कि बच्चे कुछ प्रयोग डिज़ाइन करने की कुशलता भी हासिल करें। प्रयोगों का एक पहलू यह भी था कि बच्चे प्रयोग में तुलना के प्रावधान के बारे में भी कुछ सीखें, ताकि अगर प्रयोग में दो-तीन अलग-अलग कारक हैं तो तुलनात्मक प्रयोग करके कह सकें कि कौन-से कारक के कारण क्रिया हो रही है।

दरअसल हो.वि.शि.का. और उसके पूर्ववर्ती कार्यक्रमों में प्रमुख सरोकार यह था कि विज्ञान शिक्षण का आधार प्रयोग व गतिविधियाँ होने चाहिए और बच्चों को वैज्ञानिक सिद्धान्तों, नियमों वगैरह की खोज में शरीक होना चाहिए। विज्ञान को प्रयोगों द्वारा पढ़ाने का यह निर्णय धीरे-धीरे एक मार्गदर्शक सिद्धान्त बना। इसका आशय यह हो गया कि हो.वि.शि.का. में ऐसी कोई चीज़ नहीं पढ़ाई जाएगी जिसे प्रयोगों के माध्यम से नहीं पढ़ाया

जा सकता। इसी मार्गदर्शक सिद्धान्त का नतीजा था कि परमाणु संरचना और रासायनिक सूत्र नहीं शामिल करने का निर्णय लिया गया।

उपरोक्त बात के पीछे यह समझ कभी नहीं रही कि विज्ञान केवल प्रयोग करके ही सीखा जा सकता है। मान्यता केवल इतनी ही थी कि कक्षा 8 तक विज्ञान के शिक्षण में अपेक्षाकृत ज़्यादा ध्यान वैज्ञानिक कौशल और दृष्टिकोण के विकास पर होना चाहिए जिसके लिए प्रयोगों को आधार बनाना ज़रूरी है। आगे की कक्षाओं और आम जीवन में विद्यार्थियों को बहुत सी ऐसी जानकारी स्वीकारने और समझने की ज़रूरत होगी जिस पर अन्य वैज्ञानिक वर्षों से शोधकार्य करते आ रहे हैं या कर चुके हैं। इस कार्यक्रम में प्रयास यह था कि विद्यार्थियों में ऐसे गुण विकसित कर दिए जाएँ जो ऐसी जानकारी को विवेकपूर्ण तरीके से प्राप्त करने और सही व गलत तथ्यों को पहचानने में सहायक हों।

2. एक सिद्धान्त यह रहा कि पाठ्यक्रम बच्चों के पर्यावरण से सम्बन्धित होना चाहिए। जीव विज्ञान में ऐसा करना आसान है। जीव विज्ञान से सम्बन्धित अध्यायों में आसपास के पेड़-पौधों या जीव-जन्तुओं के अवलोकनों को ही आधार बनाने की कोशिश रही। यह कुछ हद तक भौतिकी और रसायन के अध्यायों में भी किया गया। इसके पीछे समझ यह थी कि बच्चों की ज़िन्दगी में भौतिकी के कुछ सिद्धान्त या उपकरण या कोई मशीनरी हो तो उसकी चर्चा ज़रूर हो और उसी से अध्याय शुरू करें जिससे उन्हें लगे कि अपने आसपास की चीज़ों के बारे में कुछ सीख रहे हैं।

दरअसल पर्यावरण को किसी भी पाठ्यक्रम का आधार बनाना या हम जो भी सीखते हैं उसे पर्यावरण पर लागू कर देना, ये दोनों बातें महत्वपूर्ण हैं। जैसे आयतन का अध्याय विकसित करते हुए लगा कि लोगों और बच्चों की आयतन को लेकर पूर्व धारणाएँ हैं और उन्होंने आयतन को अलग-अलग ढंग से समझा है। होशंगाबाद के आसपास के क्षेत्र में पाई (अनाज नापने का एक बर्तन) का प्रचलन है। लोग जानते हैं कि इससे अलग-अलग प्रकार के अनाज का वज़न अलग-अलग मिलता है। यह सब मज़दूरी के लेन-देन से जुड़ा है। इस उदाहरण को आयतन के अध्याय में शामिल किया गया

जश्न-ए-तालीम

है। यदि कहीं लोगों व बच्चों की अवधारणाओं और वैज्ञानिक अवधारणाओं में कुछ अन्तर्विरोध दिखा तो उसे भी उभारने की कोशिश की गई।

दूसरी बात यह थी कि जो कुछ सीखा जाए उसे पर्यावरण पर लागू करने की कोशिश की जाए। “जन्तुओं का जीवन चक्र” अध्याय इसका अच्छा उदाहरण है। बच्चों की बहुत सी गलत धारणाएँ हैं, जैसे इल्ली अपने-आप गोबर में से निकल आती है। इसके लिए प्रयोग विकसित किया गया, जिससे साफ हो जाता है कि जिस गोबर में अण्डे नहीं थे उसमें न इल्ली पैदा होती है, न मक्खी। इसके बाद प्रश्नों के माध्यम से प्रचलित अन्धविश्वासों पर सवाल उठाए गए।

स्कूली शिक्षण को पर्यावरण से जोड़ने के लिए परिभ्रमण को पाठ्यक्रम का अंग बनाया गया। इसमें कोशिश यह थी कि बच्चे स्कूल की चारदीवारी से बाहर निकलें, चीज़ें इकट्ठी करें, आसपास जो चीज़ें हैं, पौधे हैं, उनकी जानकारी इकट्ठी करें। वे पाठ्य पुस्तक और शिक्षक को ही सारे ज्ञान का स्रोत न समझें। इसलिए जहाँ सम्भव हुआ, उनसे अपेक्षा की गई कि वे अन्य स्रोतों से भी जानकारी प्राप्त करें। किसानों, ग्राम सेवकों, स्थानीय पशुचिकित्सकों और कारीगरों वगैरह से जानकारी प्राप्त करने को काफी अहमियत दी गई। कई जगहों पर सर्वेक्षण को भी जानकारी प्राप्त करने के एक तरीके के रूप में शामिल किया गया।

3. एक प्रमुख सरोकार यह रहा कि कार्यक्रम बोझिल न लगे। बच्चे खुशी से प्रयोग करें, प्रयोग उनको रुचिकर लगे, प्रयोग करने में आनन्द आए। कक्षा में ही नहीं, कक्षा के बाहर व घर पर भी वे प्रयोग करें। और सिर्फ प्रयोग न हों, वे उन पर आपस में चर्चा करें, शिक्षक से चर्चा करें और इससे जो सिद्धान्त निकलते हैं उनकी ओर बढ़ें।

4. सबसे ज़रूरी बात यह थी कि किसी भी विषय-वस्तु या अध्याय के उद्देश्य क्या हैं। जैसे फूलों का अध्याय है। आमतौर पर फूलों के अध्याय का उद्देश्य यह होता है कि बच्चे फूलों के अंगों के नाम सीख जाएँ, उनके अन्तर्सम्बन्ध और रूपान्तरण वगैरह की जो सामान्य जानकारी है वह उन तक पहुँच जाए। *बाल वैज्ञानिक* के इस अध्याय का उद्देश्य केवल यह नहीं था कि खूब सारे फूलों के अंगों और उनके रूपान्तरण की जानकारी बच्चों

तक पहुँचे, हालाँकि बच्चे बहुत सारे फूलों का अध्ययन करते हैं। उद्देश्य यह था कि जो भी फूल मिले बच्चे उसकी रचना खुद समझें और दूसरों को समझाएँ। वे खोजबीन की प्रक्रिया को पकड़ लें। दूसरे शब्दों में, जब पुस्तक के अध्याय स्कूलों में खत्म हों तो इनमें दिए गए विषयों की खोज स्कूल के बाहर जारी रहे।

5. एक और कोशिश यह थी कि विज्ञान की पद्धति भी बच्चे सीखें। वैज्ञानिक पद्धति के तत्वों – यानी प्रयोग करना, प्रयोग के निष्कर्षों पर चर्चा करना, इसके आधार पर सिद्धान्त विकसित करना व सिद्धान्त को परखने के लिए प्रयोग विकसित करना – से भी वे परिचित हों।

6. पाठ्यक्रम का एक अहम हिस्सा यह था कि बच्चे अपने शब्दों में अपने अनुभवों को व्यक्त करें। हमेशा ज़ोर दिया जाता था कि प्रयोग करने के बाद प्रश्नों के उत्तर बच्चे खुद अपने शब्दों में लिखें। कभी यह कोशिश नहीं हुई कि प्रयोग हो जाएँ, चर्चा हो जाए, और फिर शिक्षक खड़ा होकर कह दे कि बच्चो आज हमने यह सीखा। यह तो स्पष्ट ही था कि बच्चों का लेखन बहुत साफ नहीं होगा, उसमें ज़रूर खामियाँ होंगी, पर फिर भी उन्हें कुछ लिखवा देने से उतना फायदा नहीं है जितना कि तब जब वे खुद अपनी टूटी-फूटी भाषा में लिखें। यदि चित्र बनाकर दिखाएँ तो उनकी समझ और भी ज़्यादा विकसित होती है।

7. एक और चीज़ जिस पर ज़ोर दिया गया वह थी हाथों के कौशल का विकास। बच्चे खुद प्रयोग सामग्री बनाएँ, अन्य चीज़ें बनाएँ, इसका काफी अभ्यास करवाया जाता था।

8. नापने की क्रिया सिखाने को भी काफी महत्व दिया गया। पाठ्यक्रम में यह सिखाने का प्रयास था कि आँकड़े क्या होते हैं, कैसे इकट्ठे किए जाते हैं, और उन्हें व्यवस्थित करके कैसे प्रस्तुत करते हैं; स्तम्भालेख, ग्राफ आदि बनाकर आँकड़ों का विश्लेषण कैसे करते हैं, और आँकड़ों के आधार पर कौन-से निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

मापन में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि मापन की किसी भी क्रिया में कुछ घट-बढ़ होती है और यह घट-बढ़ कभी शून्य नहीं की जा सकती।

जश्न-ए-तालीम

प्रयोगों को बेहतर करके ज़्यादा शुद्ध परिणाम निकाला जा सकता है, मगर विज्ञान में यह कभी नहीं कह सकते कि अमुक परिणाम एकदम सही है।

9. समूहीकरण की प्रक्रिया व उसके उपयोग पर काफी ज़ोर दिया गया। विज्ञान सीखने, नियम आदि विकसित करने, पैटर्न देखने और आगे अध्ययन के लिए प्रश्नों का चुनाव करने व परिकल्पना विकसित करने में समूहीकरण का महत्व बताने की ज़रूरत नहीं है। समूहीकरण पूरी *बाल वैज्ञानिक* में पसरा मिलेगा।

10. यह भी माना गया कि प्रयोग व गतिविधि आधारित पाठ्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग किट होता है। यह इसलिए ज़रूरी है कि दिए गए प्रयोगों को करने के लिए आवश्यक सामग्री यदि स्थानीय क्षेत्र में उपलब्ध न हो तो उसे किट के माध्यम से पहुँचाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

पाठ्यक्रम: एक अलग नज़र से

पाठ्यक्रम का एक और कथन हमें एक अलग सन्दर्भ में भी मिलता है। हो.वि.शि.का. में परीक्षा की दृष्टि से विज्ञान की कुछ प्रक्रियाओं व अवधारणाओं को मूल अवधारणाएँ माना गया था। विषय-वस्तु का चयन व विकास इस तरह किया गया था कि बच्चों को इन चीज़ों का अधिक से अधिक अभ्यास कराया जाए। कहा जा सकता है कि ये चीज़ें मिलकर ही हो.वि.शि.का. का पाठ्यक्रम बनता था क्योंकि वर्ष के अन्त में होने वाली परीक्षा में इन चीज़ों की जाँच खास तौर से की जाती थी। ये मूल अवधारणाएँ निम्नलिखित थीं:

वैज्ञानिक कौशल

- बारीक और सही अवलोकन करना;
- सर्वेक्षण और संकलन करना;
- आँकड़ों को व्यवस्थित करके प्रस्तुत करना – तालिका, स्तम्भालेख, ग्राफ व रेखाचित्र बनाना;
- आँकड़ों का विश्लेषण;
- अलग-अलग प्रयोगों में सम्बन्ध पहचानना;
- तार्किक विवेचन द्वारा निष्कर्ष निकालना;

- विवेचन के तार्किक क्रम में स्पष्ट, सटीक व नए प्रश्न पूछना;
- सामान्यीकरण एवं अमूर्त चिन्तन;
- प्रायोगिक कुशलता;
- मापन, मापन में घट-बढ़ की सम्भावना की समझ;
- नक्शा बनाना; तथा
- स्थानीय स्रोतों से उपकरण बनाना।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

- जिज्ञासा का विकास;
- पर्यावरण के प्रति सजगता व उससे सीखने की निरन्तर प्रवृत्ति;
- खोज की प्रवृत्ति;
- प्रयोग में तुलना के प्रावधान के महत्व की समझ;
- तथ्यों या जानकारी को स्वीकार करने से पहले उसकी प्रामाणिकता की माँग करना;
- एक प्रश्न के एक से अधिक उत्तरों की सम्भावना को स्वीकारने की तैयारी; तथा
- मतभेद, आलोचना और प्रश्नों के प्रति सकारात्मक रुख।

अवधारणाएँ

- समूह और उपसमूह;
- वर्गीकरण;
- निर्देशांक;
- क्षेत्रफल, आयतन व भार;
- पृथक्करण;
- अम्ल, क्षार, लवण एवं उदासीनीकरण;
- विभिन्न पदार्थों को रासायनिक परीक्षण द्वारा पहचानना;
- जीव-जगत में विविधता के महत्व को समझते हुए जीव विज्ञान के सिद्धान्तों को विकसित करना; तथा
- संयोग और सम्भावितता।

विषय-वस्तु चयन के आधार

विषय-वस्तु के चयन में सर्वोपरि मार्गदर्शक सिद्धान्त यह रहा कि उन्हीं वैज्ञानिक अवधारणाओं को शामिल किया जाएगा जिन्हें प्रयोगों या गतिविधियों के माध्यम से पढ़ाया जा सके या जो बच्चे के प्रत्यक्ष अनुभव अथवा अवलोकन के दायरे में आती हों। यदि किसी अवधारणा के लिए समुचित गतिविधियाँ या अवलोकन उपलब्ध नहीं हैं, तो वह नहीं पढ़ाई जाएगी। समुचित गतिविधियों से तात्पर्य ऐसी गतिविधियों और प्रयोगों से है जिन्हें ग्रामीण मिडिल स्कूल में किया जा सके।

एक सिद्धान्त यह भी रहा कि विषय-वस्तु का सम्बन्ध बच्चे के पर्यावरण से होना चाहिए।

इसी प्रकार विज्ञान की सामान्य प्रक्रियाओं (जैसे समूहीकरण) को प्राथमिकता दी गई।

कुछ हद तक उस समय प्रचलित सरकारी पाठ्यक्रम का भी ध्यान रखा गया, खासकर जीव विज्ञान में। दिसम्बर 1990 में एकलव्य के एक स्रोत व्यक्ति अरविंद गुप्ते द्वारा लिखी गई एक टीप से लगता है कि 1978 में कार्यक्रम के ज़िला स्तरीय प्रसार के समय जीव विज्ञान की विषय-वस्तु के चयन का एक प्रमुख आधार यह था कि उसका पाठ्यक्रम मोटे तौर पर मिडिल स्कूलों के लिए निर्धारित विज्ञान पाठ्यक्रम के अनुसार होना चाहिए।¹ लिहाज़ा, जन्तुओं व पादपों की संरचना व कार्य से सम्बन्धित अधिकांश अध्याय अपने आप शामिल हो गए। फिर भी, पारम्परिक पाठ्यक्रम में शामिल कुछ विषय जानबूझकर छोड़ दिए गए। इनमें कोशिका की संरचना, कोशिका विभाजन और जन्तुओं और पादपों के रूढ़िगत वर्गीकरण के उदाहरण दिए जा सकते हैं। कोशिका इतनी सूक्ष्म इकाई होती है कि मिडिल स्कूल के बच्चे उसे भलीभाँति समझ नहीं सकते। कोशिका विभाजन तो और भी अमूर्त चीज़ है और इस विषय का कोई भी विवरणात्मक अध्याय बच्चों को भ्रमित ही करेगा।

1 अरविंद गुप्ते, “ए नोट ऑन बायोलॉजी चेप्टर्स”, दिसम्बर 1990।

कुछ ऐसे विषय भी *बाल वैज्ञानिक* में शामिल किए गए जो पारम्परिक विषय-वस्तु के अंग नहीं थे। जैसे जीवजगत में विविधता जो आधुनिक जीव विज्ञान की एक मूल अवधारणा है। मगर प्रयोगों व प्रत्यक्ष अवलोकन की कसौटी के चलते कई ऐसी चीजें छोड़ दी गईं जो सरकारी पाठ्यक्रम में शामिल थीं। इनमें परमाणु संरचना, रासायनिक संकेत, सूत्र, समीकरण, जीव विज्ञान का मानक वर्गीकरण वगैरह प्रमुख थीं।

परमाणु संरचना और रासायनिक सूत्रों को छोड़ने का एक कारण यह समझ भी थी कि इस उम्र (10-13 वर्ष) में बच्चे की मानसिक क्षमता इतनी नहीं होती कि वह परमाणु संरचना समझ सके। इसी से सम्बन्धित दूसरी बात यह थी कि यदि परमाणु संरचना सिखानी है, तो ऐसे प्रयोग करके दिखाना ज़रूरी है जिनसे बच्चे विश्वास करें कि स्थूल चीजें वास्तव में छोटे-छोटे परमाणुओं से मिलकर बनी हैं। ऐसे प्रयोग उपलब्ध तो ज़रूर हैं जो उन्हें बता सकते हैं कि परमाणु संरचना का ठोस आधार है, मगर इन प्रयोगों को समझने में काफी बौद्धिक विकास की ज़रूरत होती है। दूसरे, इन प्रयोगों के लिए उपकरण भी बहुत महँगे हैं। यह कदापि स्वीकार्य नहीं था कि शिक्षक बच्चों को किसी प्रकार बता दे कि मॉडल के आधार पर परमाणु संरचना का सबूत मिलता है।

इसी प्रकार, जीव विज्ञान में वर्गीकरण का एक आधार है, मगर यह आधार बहुत अमूर्त है। वास्तव में वर्गीकरण जैव विकास से जुड़ा हुआ है। इसलिए विकास की बात किए बिना यदि आप सजीवों के वर्गीकरण पर ज़ोर दें तो यह केवल रटने वाली बात रह जाएगी। प्रारम्भिक अवस्था में इसे बच्चों पर थोपना अनावश्यक है। मध्य प्रदेश के बच्चों ने शायद ही फर्न के दर्शन किए हों। जिन्होंने इसे देखा होगा, उन्हें भी यह समझाना मुश्किल होगा कि ये लगभग बराबर आकार के फूलधारी पादपों से भिन्न हैं। यह समझाना तो और भी कठिन होगा कि इकाइनोडर्मेटा “कण्टकयुक्त त्वचा” वाले जीव होते हैं जिनका “कंकाल केल्केरियस प्लेटों से बना होता है।” दूसरी बात यह है कि जन्तु व पादप वर्गीकरण में ढेर सारे पारिभाषिक शब्द होते हैं जो यूनानी अथवा लैटिन मूल के होते हैं। जो बच्चे अंग्रेज़ी वर्णमाला से भी ठीक तरह से परिचित नहीं हैं, उनसे इन शब्दों को याद करने की अपेक्षा अन्याय है।

**पाठ्यक्रम की बात चली है तो 12 मई 1976 को एक बैठक में
निम्नलिखित उद्देश्य उभरे थे:**

- I. आसपास खोजने और सीखने में आनन्द
 1. अपने आप चीज़ें पता करने की इच्छा
 2. प्रश्न पूछने की इच्छा
 3. सारी इन्द्रियों का उपयोग करने और कुछ करने में आनन्द
 4. सजीवों में विविधता के प्रति चेतन होना
- II. अवलोकन, व्याख्या और क्रमबद्ध करना
 1. चुने हुए गुणधर्मों के आधार पर वस्तुओं के समूहीकरण की क्षमता
 2. प्रेक्षणीय गुणधर्मों के आधार पर चीज़ों को सजीव व निर्जीव में बाँटने की क्षमता
 3. चीज़ों का वर्गीकरण अलग-अलग ढंग से करने की क्षमता
 4. घटनाओं और गतियों में नियमितता देखने की क्षमता
 5. प्रासंगिक व अप्रासंगिक अवलोकनों के बीच भेद कर पाना
- III. प्रश्न पूछना और उनका उत्तर खोजने के लिए प्रयोग विकसित करना; तार्किक सोच
 1. खोजबीन के द्वारा आसान सवालों के हल खोजने की क्षमता
 2. मापन की ज़रूरत का एहसास
 3. एक गुणधर्म या परिवर्ती के आधार पर तुलना करना
 4. उस परिवर्ती को पहचानना जिस पर कोई गुणधर्म निर्भर है
- IV. अवधारणाएँ, ज्ञान और हुनर
 1. अध्यायों की विषय-वस्तु और अवधारणाएँ, जैसे अम्लीयता, प्रतिक्रिया, विकर्षण वगैरह
 2. मनमानी और मानक इकाइयों में लम्बाई, आयतन और वज़न नापने की क्षमता
 3. गणितीय हुनर (इकाइयों व दशमलव के उपयोग समेत)
 4. प्रयोगशाला उपकरणों के उपयोग का हुनर

- V. 5. जानकारी के लिए किताबों व अन्य स्रोतों के उपयोग की क्षमता
अर्थबोध और सम्प्रेषण
1. सरल शब्दों और रेखाचित्रों की मदद से समझने व समझाने की क्षमता
 2. घटनाओं को उनके क्रम में रिकॉर्ड करने की क्षमता
 3. जानकारी को तालिकाबद्ध करने और तालिकाओं, स्तम्भालेखों व ग्राफों का उपयोग करने की क्षमता
- VI. पैटर्न और पारस्परिक सम्बन्धों को समझना और आँकड़ों की व्याख्या करना
1. यह समझ पाना कि चीज़ों के आभासी आकार, आकृतियाँ व सम्बन्ध प्रेक्षक की स्थिति पर निर्भर होते हैं
 2. सजीवों में विविधता का एहसास – मौसमी व अन्य परिवर्तन
 3. कार्य-कारण सम्बन्ध की समझ
 4. अंश और पूर्ण के बीच सम्बन्धों की समझ
 5. सजीवों के बीच परस्पर निर्भरता

टिप्पणियाँ

1. आम तौर पर माना जाता है कि 11 वर्ष के बच्चे में अर्थबोध होता है। हमने इसे शामिल किया है क्योंकि हमारे स्कूलों में बच्चों में इसका अभाव दिखता है।
ऐसी अन्य क्षमताओं को इस सूची में जोड़ा जाना चाहिए।
जो लक्ष्य पूरे हो चुके हैं या मामूली हैं, उन्हें इस सूची से हटा दिया जाना चाहिए। हासिल न किए जा सकने वाले लक्ष्यों को भी हटा देना चाहिए।
2. कक्षा 8 के प्रश्न पत्र से पता चलता है कि इसमें 60 प्रतिशत तो V.1, III.1 और IV.1 से ही बन जाता है। हमें फैसला करना होगा कि क्या यह उचित है।
3. अध्याय के लेखकों को चाहिए कि वे अपने हरेक अध्याय में IV.1 को विस्तार देने का प्रयास करें। जैसे यह जानकारी कि गर्मी पाकर हवा फैलती है या चुम्बक की पहचान विकर्षण है।
4. कक्षा 6 के प्रथम तीन या छह महीनों में बच्चों की समझने की क्षमता बढ़ाने के लिए उन्हें बाहर ले जाकर व्यक्तिगत तौर पर विवरणात्मक चीज़ें लिखने को कहा जा सकता है।

जश्न-ए-तालीम

वैसे विज्ञान में वर्गीकरण के महत्व को देखते हुए इसे हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम में काफी अलग ढंग से शामिल किया गया था। सजीवों का वर्गीकरण भी एक सर्वथा अलग ढंग से व अलग उद्देश्य के साथ *बाल वैज्ञानिक* का अंग बना था। “वर्गीकरण के नियम” नामक अध्याय में बच्चे अपने स्कूली बस्ते की सामग्री का समूहीकरण करते हुए धीरे-धीरे वर्गीकरण के नियम सीखते हैं। सजीवों का वर्गीकरण करने के लिए आसपास पाए जाने वाले जन्तुओं के गुणधर्मों को आधार बनाया जाता है।

क्रमिक विकास

बाल वैज्ञानिक में विषय-वस्तु को काफी सलीके से रखा गया है। इसमें अवधारणाओं के क्रमिक विकास, परस्पर सम्बन्धों, जटिलता, अमूर्तीकरण के स्तर वगैरह का ध्यान रखा गया है।

बाल वैज्ञानिक में पहले गुणात्मक अवधारणाएँ हैं और धीरे-धीरे मात्रात्मक अवधारणाएँ जुड़ती जाती हैं। छठी कक्षा में गुणात्मक अवधारणाओं को अधिक महत्व दिया गया है और जैसे-जैसे सातवीं, आठवीं में पहुँचते हैं मात्रात्मक अवधारणाएँ बढ़ती जाती हैं। इसके कई उदाहरण हैं। जैसे समूहीकरण (गुणात्मक) छठी में है, पर क्षेत्रफल और आयतन नापना सातवीं में है। इससे ज़्यादा जटिल मात्रात्मक चीज़ें – जैसे सम्भाविता – आठवीं में रखे गए हैं।

इसी प्रकार से रसायन शास्त्र में चीज़ों को अलग-अलग करना या पृथक्करण छठी में है जबकि अम्ल, क्षार और लवण, जिसमें गणना करनी होती है, को आठवीं में रखा गया है। ऐसा नहीं है कि छठी में मात्रात्मक अवधारणाएँ ही नहीं, पर ज़्यादा गुणात्मक हैं; जैसे दूरी नापना। पहले क्षेत्रफल और आयतन भी छठी में थे। पर पता चला कि बच्चों को इनसे दिक्कत आ रही है; इनके पहले उन्हें बहुत कुछ और सीख जाना चाहिए। इसलिए बाद में इन्हें सातवीं में कर दिया गया।

कई अवधारणाओं के लिए ज़्यादा अमूर्त, ज़्यादा अवधारणात्मक कौशल चाहिए और गणितीय कौशल भी होना चाहिए। जैसे बच्चे दशमलव के भाग खास तौर से नहीं कर पाते। कुछ अवधारणाओं के लिए प्रायोगिक कौशल

की भी ज़रूरत होती है। मसलन, “जल – मृदु और कठोर” के प्रयोगों में उचित परिणामों तक पहुँचने के लिए ज़रूरी है कि उपकरणों की सफ़ाई अच्छी तरह से हो और सारे प्रयोग अत्यन्त सावधानी से किए जाएँ।

एक और चीज़ भी है। इसे शिक्षा के लोग ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ना कहते हैं। इस सिद्धान्त को मूलतः इस रूप में लागू किया गया कि अवधारणाओं को बच्चों के परिवेश से जोड़ा जाए, बात परिचित उदाहरणों से शुरू हो।

विषय-वस्तु के विकास का एक सिद्धान्त यह भी है कि बच्चों को अमूर्त चिन्तन सिखाना चाहिए। इसे क्रमिक ढंग से विकसित किया गया है। छठी-सातवीं में बच्चों से अपेक्षा है कि जिस परिस्थिति का अध्ययन उन्होंने किया है, उससे एक चरण में सीधे-सीधे जो निष्कर्ष या सिद्धान्त वे निकाल सकते हैं, निकाल लें। परन्तु एक चरण से बढ़कर दो, तीन, चार चरणों की बात छठी में नहीं रखी गई। उसे सातवीं कक्षा में थोड़ा डाला, और आठवीं में और ज़्यादा डाला। पहली बार सातवीं में इस प्रकार की कोशिश पतियों द्वारा मण्ड बनाने के सन्दर्भ में है। इस अध्याय (“पतियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश”) में जब बच्चे सीख गए कि बिना सूर्य के प्रकाश के पतियाँ मण्ड नहीं बना सकती तो यह प्रश्न उठाया गया कि हरी पतियों और सूर्य के प्रकाश का जीवन में क्या महत्व है। इसमें उनसे आशा की गई कि वे कई अवधारणाओं को जोड़ें और इसका जवाब दें; जैसे उन्होंने “भोजन और पाचन क्रिया” अध्याय में सीखा था कि भोजन का महत्वपूर्ण अंग मण्ड है। इसी अध्याय में एक प्रश्न यह है कि यदि पृथ्वी पर हमेशा अँधेरा रहे तो क्या तुम्हें दूध मिलेगा?

मगर “आकाश की ओर” नामक अध्याय में इसकी अति हो गई। कक्षा 7 व 8 में फैले इस अध्याय में सौर मण्डल की गतियों का अध्ययन किया जाता है। इसमें 6-7 प्रयोगों के निष्कर्षों को जोड़कर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया है। इन प्रयोगों से जो आँकड़े प्राप्त होते हैं, उन्हें समझने के दो तरीके हैं। इनमें से एक सरल हल है, इसलिए बेहतर है। पर इसको समझने में बहुत मुश्किल आई। इसके पीछे विज्ञान की यह समझ है कि जो सरल हल हो, वही अपेक्षाकृत बेहतर हल होगा। शिक्षकों को भी यह हल समझने में काफी

जश्न-ए-तालीम

मुश्किल आई। इसमें मॉडल के आधार पर समझाने की तकनीक का उपयोग किया गया था।

इसी तरह “संयोग और सम्भाविता” अध्याय में भी प्रयोगों से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। बहुत सारे अवलोकन एक साथ लेकर और उनको जोड़कर एक निष्कर्ष निकालना होता है। पर इन सारे अवलोकनों से भी सीधे-सीधे कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। इन आँकड़ों में कोई पैटर्न समझकर ही निष्कर्ष निकल सकता है। यह और भी ऊँचे स्तर का अमूर्तीकरण है।

इस तरह की अमूर्त अवधारणाएँ शामिल करते हुए एक चिन्ता बनी रहती है कि क्या इन्हें पूरी गहनता से परीक्षा में भी पूछा जाएगा या नहीं। इस बारे में हो.वि.शि.का. समूह की समझ यह रही है कि जब पाठ्यक्रम में बच्चों को अमूर्तीकरण की ऐसी सघन प्रक्रिया में से गुज़ारते हैं तो उनसे अपेक्षा यह नहीं होनी चाहिए कि वे उसे पूरी तरह आत्मसात कर लेंगे। यदि वे इसमें से मोटे-मोटे एहसास भी हासिल कर लेते हैं तो यह काफी है। जैसे संयोग और सम्भाविता का अध्ययन करते हुए चित या पट आने की सम्भाविता के बारे में यदि वे यह बता पाते हैं कि दिए गए पैटर्न में से कौन-सा उन्हें अपने प्रयोगों के दौरान कभी नहीं मिला या उसके मिलने की सम्भावना बहुत कम है, तो काफी है। पाठ्यक्रम में लचीलेपन की दृष्टि से यह बहुत अहम बात है।

आम तौर पर यह समझ थी कि अध्यायों में जानकारी नहीं दी जाएगी। मगर इसको लेकर थोड़ा भ्रम है जिसे दूर करने की ज़रूरत है। कहीं-कहीं बच्चों के प्रयोगों को आगे बढ़ाने के लिए या बच्चों द्वारा विश्लेषण को आगे बढ़ाने के लिए कुछ जानकारी ज़रूरी हो जाती है। ऐसी जगहों पर उस जानकारी को पाने के लिए बच्चों के पास यदि और कोई तरीके नहीं हैं तो वहाँ नपी-तुली मात्रा में जानकारी बच्चों को दी गई है। लेकिन समय के साथ इस समझ में काफी परिवर्तन हुआ है।

बाल वैज्ञानिक की विषय-वस्तु में आन्तरिक कड़ियाँ हैं। इस पर काफी मेहनत की गई है। कड़ियों के दो पहलू हैं। एक है विषय-वस्तु का क्रमिक विकास। दूसरा पहलू है विषय-वस्तु या अवधारणाओं के बीच में कड़ी; केवल क्रम के आधार पर नहीं, अवधारणा के स्तर पर। यह क्रमिक प्रक्रिया

ग्राफ बनाना सिखाने में नज़र आती है। ग्राफ बनाना सीखने की शुरुआत छठी कक्षा में हो जाती है। यहाँ बच्चे स्तम्भालेख बनाना सीखते हैं। सातवीं कक्षा में एक अध्याय है “नक्शा बनाना सीखो”। इसमें बच्चे कार्तीय निर्देशांक और पैमाने के आधार पर आकृतियों को छोटा-बड़ा करने की अवधारणा को समझते हैं। इसके बाद ग्राफ बनाने का अध्याय शुरू होता है। इसी तरह आठवीं कक्षा में एक अध्याय है जिसमें यह सिखाया जाता है कि जो ग्राफ बनाया है उसे समझा कैसे जाता है। इस तरह का क्रमबद्ध नियोजन बहुत जगह मिलता है।

एक अन्य उदाहरण एक अध्याय “हवा” का है। इसमें हवा के कुछ गुणधर्मों का अध्ययन किया जाता है। इसके बाद एक अध्याय गैसों का है। कार्बन डाईऑक्साइड और ऑक्सीजन का अध्ययन उसमें है। उसके बाद तीसरा अध्याय है श्वसन का। श्वसन का अध्याय तभी कर पाएँगे जब हवा और गैसों के दो अध्याय कर लिए जाएँ, क्योंकि जब गैसों के गुणधर्म समझ लें तभी यह अध्याय हो सकता है।

सजीव और निर्जीव की अवधारणा को भी क्रमशः उसकी परिणति तक लाया गया। पहले कई सारे जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों तथा जैविक क्रियाओं का अध्ययन करने के बाद कक्षा 8 में इन जैविक क्रियाओं के आधार पर सजीव और निर्जीव का वर्गीकरण किया जाता है और उनके आपसी सम्बन्धों की चर्चा होती है।

विषय-वस्तु को सम्प्रेषित करने के नए-नए, दिलचस्प और सरल तरीके खोजने की बहुत कोशिश की गई। जैसे विद्युत मोटर क्यों घूमती है इसे समझने में बहुत दिक्कत आ रही थी। तो कुछ लोगों ने एक बिलकुल नया ढंग ईजाद किया इसको समझाने का। एक विद्युत नट की कल्पना की गई। इसी तरह एक मॉडल की मदद से दाहिने हाथ के नियम का प्रदर्शन किया जाता है।

शरीर की आन्तरिक रचना का अध्याय तैयार करते हुए लगा कि एक बहुत गलत धारणा बच्चों तक पहुँच रही है। वह यह कि सारे आन्तरिक अंग एक ही स्तर पर हैं जबकि वास्तव में वे अलग-अलग स्तरों पर हैं। इसके लिए एक खेल बनाया गया। इसमें बच्चे अंगों के चित्रों को काट-काटकर बताई

जश्न-ए-तालीम

गई प्रक्रिया के अनुसार एक बड़े रेखाचित्र में जमाते हैं और जब जमाते हैं तो ये अंग अलग-अलग स्तरों पर आ जाते हैं। इस तरह के बहुत सारे उदाहरण दिए जा सकते हैं।

बच्चों में सृजनात्मक शक्ति – वैज्ञानिक सृजन शक्ति और चीजें बनाने की सृजन शक्ति – को बढ़ावा देने के लिए विषय-वस्तु में कई प्रयोग व अभ्यास दिए गए। उदाहरण के लिए कक्षा 7 में माचिस की तीलियों और वॉल्व ट्यूब से चीजें बनाने का एक स्वतंत्र अध्याय है। इसके अलावा, अलग-अलग अध्यायों में सूक्ष्मदर्शी बनाना, लैक्टोमीटर बनाना, हैण्ड पम्प बनाना, पेरिस्कोप, कैलिडोस्कोप, तराजू बनाना आदि गतिविधियाँ जानबूझकर रखी गई हैं।

पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम के सवाल

आजकल प्राथमिक शिक्षा के समस्त कार्यक्रमों में यह बात ज़रूर कही जाती है कि पर्यावरण शिक्षा का आधार होना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने तो इस सन्दर्भ में आश्चर्यजनक छलौंग लगाकर हर कक्षा में पर्यावरण शिक्षा अनिवार्य कर दी है। इस निर्णय के पीछे समझ यह है कि अन्य विषयों की तरह पर्यावरण भी एक विषय की भाँति पढ़ाया जाना चाहिए। हो.वि.शि.का. में पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम की समझ थोड़ी अलग रही है। हो.वि.शि.का. में मान्यता यह थी कि विज्ञान की विभिन्न अवधारणाओं को सीखने में पर्यावरण (यानी बच्चों का अपना परिवेश) एक महत्वपूर्ण किरदार होना चाहिए। इसका मतलब यह है कि सीखने के लिए उदाहरण स्थानीय पर्यावरण से लिए जाएँ। कक्षा में कोई सिद्धान्त या नियम उभरे तो उसे अपने पर्यावरण पर लागू करके देखा जाए। स्थानीय स्तर पर उपलब्ध जानकारी के स्रोतों (बुजुर्ग लोग, पटवारी, आम किसान, स्वास्थ्य कार्यकर्ता वगैरह) का पूरा उपयोग किया जाए। स्थानीय भाषा को दृष्टिगत रखा जाए। और सबसे बड़ी बात यह कि किसी भी विषय को पढ़ाते समय इस बात का ख्याल रखा जाए कि उसके बारे में स्थानीय स्तर पर किस ढंग की समझ व धारणाएँ प्रचलित हैं। इस पहलू को रेखांकित करते हुए यशपाल ने हो.वि.शि.का. के प्रथम शिक्षक प्रशिक्षण शिविर के बारे में लिखा था, “यदि हम चाहते हैं कि विज्ञान उस धरती में जड़ें जमाए जिसमें

आस्थाओं, मिथकों और अनुभवों के बीज पड़े हैं, तो खोज पद्धति को ही अपनाना होगा क्योंकि विज्ञान शिक्षा के पारम्परिक तरीके में इन चीज़ों का उपयोग करने की बात तो दूर, इन्हें स्पर्श तक नहीं किया जाता।”²

दरअसल हो.वि.शि.का. में समझ यह नज़र आती है कि सारी जानकारी आसपास के परिवेश में बिखरी पड़ी है। स्कूली शिक्षा का प्रमुख मकसद बच्चों को वे तरीके सिखाना होना चाहिए जिनकी मदद से यह जानकारी प्राप्त की जा सकती है और इसका विश्लेषण किया जा सकता है। इस मायने में *बाल वैज्ञानिक* के पाठ्यक्रम को पर्यावरण आधारित कहने की बजाय परिवेश से जुड़ा कहना ज्यादा सही होगा। शिक्षा बच्चे के परिवेश से जुड़ी होनी चाहिए। परिवेश में प्राकृतिक पर्यावरण तो शामिल है ही, उसके अलावा समुदाय, परिवार, रीति-रिवाज़, तौर-तरीके आदि भी इसके अंग हैं। इन सब स्रोतों से जानकारी प्राप्त करना *बाल वैज्ञानिक* अध्यापन का एक प्रमुख अंग है। इसके लिए परिभ्रमणों व सर्वेक्षणों के अलावा जगह-जगह बच्चों से गाँव के सयानों, कारीगरों वगैरह से जानकारी प्राप्त करने को कहा गया है। शिक्षण साधन के रूप में कई घरेलू चीज़ों का उपयोग भी शिक्षा को बच्चों के परिवेश से जोड़ने का काम करता है।

बाल वैज्ञानिक में पर्यावरण का आधार कई रूपों में उभरता है।

इसका सबसे सरल व आसानी से नज़र आने वाला रूप जीव विज्ञान के अध्यायों में दिखता है। जीव विज्ञान के कई अध्याय बच्चों के परिवेश में उपलब्ध सामग्री के अध्ययन पर आधारित हैं। 1978 के संस्करण में जीव विज्ञान से सम्बन्धित कुल 22 अध्याय थे। इनमें से छह में बच्चों को परिभ्रमण पर जाना होता था।

कुछ अध्याय ऐसे हैं जिनमें बच्चे आसपास से इकट्ठी की गई चीज़ों का अध्ययन करते हैं। यह परिभ्रमण वाले अध्यायों में तो निहित है ही। इसके अलावा “भोजन व पाचन क्रिया” नामक अध्याय में शुरुआत आसपास के जीव-जन्तुओं के भोजन, खाने के ढंग व खाने के अंगों की जानकारी

2 यशपाल, “टुडे”ज़ एजुकेशन फॉर दी नीड्स ऑफ़ टुमॉरो”, फिज़िक्स स्टडी ग्रुप, दिसम्बर 1972.

जशन-ए-तालीम

संकलित करके होती है। मनुष्यों के भोजन का अध्ययन भी अमूर्त श्रेणियों के रूप में नहीं बल्कि वास्तविक खाद्य पदार्थों के परीक्षण के आधार पर होता है। बाद में इनके समूह बनाए जाते हैं। इस अध्याय में कुपोषण व गरीबी के सम्बन्ध को समझने के लिए बच्चों से एक सर्वेक्षण करके पता करने को कहा गया है कि कुपोषित बच्चों को क्यों कम भोजन मिलता है। बीजों, फूलों आदि के अध्ययन में भी उन चीजों के अध्ययन को वरीयता दी गई है जो बच्चे लेकर आते हैं।

पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम के लिए सजीवों का वर्गीकरण एक खास चुनौती प्रस्तुत करता है। इसकी कुछ चर्चा हम कर ही चुके हैं। *बाल वैज्ञानिक* में “जन्तुओं का वर्गीकरण” अध्याय में वर्गीकरण के लिए कुछ रूढ़िगत आधारों (जैसे मेरुदण्ड, पंख, स्तन ग्रन्थियों की उपस्थिति, टाँगों की संख्या आदि) के अलावा अन्य आधारों (आवास, त्वचा पर आवरण की उपस्थिति वगैरह) का उपयोग भी किया गया है। यह आग्रह बिलकुल नहीं किया गया है कि बच्चे परम्परागत वर्गीकरण को याद कर लें।

भौतिकी व रसायन के अध्यायों में पर्यावरण की बुनियाद इतनी गहन नहीं है। फिर भी जहाँ गुंजाइश थी वहाँ कोशिश की गई है कि भौतिक या रासायनिक सिद्धान्तों व अवधारणाओं को सीखने के लिए स्थानीय सामग्री व उदाहरणों का ही उपयोग किया जाए। जैसे मिट्टी, अम्ल, क्षार और लवण, संयोग और सम्भावितता, पृथक्करण वगैरह से सम्बन्धित अध्यायों में बच्चों के परिवेश से जुड़ी सामग्री व उदाहरण लेकर ही प्रयोग व चर्चा विकसित की गई है।

इस सन्दर्भ में मापन का उदाहरण गौरतलब है। दूरी, क्षेत्रफल व आयतन, इन तीनों राशियों के मापन को स्थानीय सन्दर्भ में इनकी समझ से शुरू किया जाता है। “क्षेत्रफल” अध्याय की बात खेतों के क्षेत्रफल से शुरू होती है। “आयतन” अध्याय विकसित करते हुए लगा कि लोगों और बच्चों की आयतन को लेकर पूर्व धारणाएँ हैं और उन्होंने आयतन को अलग-अलग ढंग से समझा है। इन अवधारणाओं के आधार पर अध्याय विकसित किया गया।

पाठ्यक्रम को बच्चों के परिवेश से जोड़ने का सम्बन्ध भाषा से भी है। जिस

भाषा में पूरी शिक्षा होती है, उसके तीन पहलू हैं: एक वह भाषा जो लोग आम तौर पर समाज में बोलते हैं; दूसरी वह भाषा जो शिक्षक विद्यार्थी के साथ बोलता है; और तीसरी वह भाषा जो शिक्षक जोर देता है कि लिखी जाए। *बाल वैज्ञानिक* पुस्तकों का प्रथम संस्करण (1978) तैयार करते समय इस बात का बहुत ध्यान रखा गया था कि बच्चे जिस भाषा का इस्तेमाल करते हैं अधिकांशतः वही *बाल वैज्ञानिक* में आए। खासकर यह समस्या आई पारिभाषिक शब्दों के सवाल पर। कई बार तो पारिभाषिक शब्दों का उपयोग सिर्फ एक समझौते के रूप में किया गया। जब भी ऐसे शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है, ये विषय को समझने में बाधा बन जाते हैं; उनको रटना ही मुख्य काम हो जाता है। उदाहरण के लिए हड्डियों वाला अध्याय देखा जा सकता है। अधिकांश पाठ्य पुस्तकों में कंकाल के एक ही चित्र में ढेर सारे मुश्किल नाम मिलेंगे – संस्कृत से निकले हुए। इसे सरल करने के लिए *बाल वैज्ञानिक* में आम शब्दों का उपयोग किया गया है। मगर एक समझौता किया गया; बोलचाल के शब्दों के साथ कोष्ठकों में पारिभाषिक शब्द लिख दिए गए – आँख का गड्ढा (नेत्र कोटर) आदि। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि बच्चे हड्डियाँ पहचानें; यह न हो कि वे हड्डी न पहचानें पर कोई मुश्किल-सा नाम रट लें। पारिभाषिक शब्दों को लेकर यह समस्या काफी गम्भीर है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब एक ही जिले के दो हिस्सों में एक ही चीज़ के लिए अलग-अलग शब्द आ गए, तो शिक्षकों की आपत्ति के चलते खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग किया गया।

कुल मिलाकर, पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम या शिक्षण पद्धति के कई आशय हैं। इसका मतलब है कि वैज्ञानिक अवधारणाओं को सिखाने के लिए बच्चों के परिवेश से उदाहरण लिए जाएँगे; पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तक व शिक्षण विधि में बच्चों की इन अवधारणाओं की समझ का संज्ञान लिया जाएगा और उसे सम्बोधित किया जाएगा; स्थानीय पर्यावरण के अध्ययन को महत्व दिया जाएगा; स्थानीय परिवेश में उपलब्ध ज्ञान का पूरा उपयोग किया जाएगा, उससे एक संवाद स्थापित किया जाएगा; और किताब में बच्चों की भाषा का अधिक से अधिक उपयोग किया जाएगा।

जश्न-ए-तालीम

दरअसल कार्डों के बाद जब *बाल वैज्ञानिक* पुस्तक तैयार करने की बात आई तो अध्यायों को पर्यावरण आधारित बनाने के उद्देश्य से 1975 में एक कार्यशाला आयोजित की गई थी: ग्रामीणीकरण कार्यशाला। नाम से ही साफ है कि इस कार्यशाला में अध्यायों को ग्रामीण परिवेश के अनुकूल बनाने पर विचार-विमर्श हुआ: कार्यशाला में चार प्रमुख बातों पर विचार हुआ था – समूहीकरण और वर्गीकरण, मापन, जीव विज्ञान के अध्याय तथा किट। इसमें हो.वि.शि.का. स्रोत दल और कार्यक्रम से जुड़े करीब 40 शिक्षकों ने भाग लिया था।

ग्रामीणीकरण कार्यशाला में तीन दिनों तक शिक्षकों व स्रोत दल ने मिलकर यह समझने का प्रयास किया था कि समूहीकरण और वर्गीकरण तथा मापन का ग्रामीण जीवन में क्या उपयोग है और इन्हें लेकर स्थानीय स्तर पर क्या समझ है। जीव विज्ञान के मामले में इस बात पर विचार किया गया था कि ग्रामीण परिवेश में किस तरह के विषय उपयुक्त होंगे। इसे लेकर कई छोटे-छोटे प्रोजेक्ट भी किए गए, मगर इसमें से सामग्री के स्तर पर कुछ ठोस निकला ऐसा प्रतीत नहीं होता। इतना जरूर है कि इस कार्यशाला ने शिक्षकों के बीच पाठ्यक्रम व सामग्री निर्माण की एक नई समझ को बढ़ावा दिया और पाठ्यक्रम को पर्यावरण आधारित बनाने की बात को एक स्पष्ट गम्भीरता प्रदान की।

एक रोचक बात यह है कि आम तौर पर पर्यावरण शिक्षा का मतलब माना जाता है कि बच्चे पर्यावरण के विवरण पढ़ लें। पर्यावरण से वास्तविक अन्तःक्रिया पर प्रायः नाक-भों सिकोड़ी जाती है। स्कूल स्तर के फीडबैक में कई बार यह बात आई कि परिभ्रमण करने में बहुत मुश्किल आती है, बच्चों को सम्हालना बहुत मुश्किल होता है, बच्चे कहीं भी चले जाते हैं, किसी को साँप वगैरह ने काट लिया तो क्या होगा, बच्चे खेत को नुकसान पहुँचाते हैं, वगैरह-वगैरह।

इसका कारण यही लगता है कि मिट्टी में हाथ सानना आम तौर पर एक गन्दा काम समझा जाता है और शिक्षा को इससे दूर रखने की कोशिश की जाती है। इस सन्दर्भ में होशंगाबाद ज़िले के इटारसी विधान सभा क्षेत्र के विधायक ने तो हद ही कर दी। होशंगाबाद की ज़िला योजना समिति को

लिखे एक पत्र (2002) में विधायक महोदय ने कहा था, “छात्रों को प्रयोग हेतु अनेक प्रकार की पत्तियाँ एकत्रित करनी होती हैं जिसके कारण छात्रों को अत्यधिक असुविधा होती है।”

बहरहाल, शिक्षकों (और पालकों) की मजबूरियों और अनिच्छा के अलावा पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि और कार्य पुस्तक को लेकर एक अलग ढंग की चर्चा ज़िला स्तरीय प्रसार (1978) के समय ही शुरू हो चुकी थी। पर्यावरण आधारित पहलू के लिहाज़ से कार्यक्रम के ज़िला स्तरीय प्रसार ने दो चुनौतियाँ पेश कीं।

पहली चुनौती यह थी कि होशंगाबाद ज़िला काफी बड़ा था (अब इसे दो भागों में बाँटकर होशंगाबाद व हरदा ज़िले बना दिए गए हैं)। इस कारण इसके अलग-अलग हिस्सों में भाषा और संस्कृति के अलावा खेती-बाड़ी में भी बहुत विविधता थी। एक इलाका मूलतः धान उगाता था, पर कपास उगाने वाला इलाका भी काफी बड़ा था। इस विविधता के कारण *बाल वैज्ञानिक* पर एक नए किस्म का दबाव पड़ा। इस दबाव का सबसे छोटा पक्ष था शब्दों का चयन।

मगर बात सिर्फ शब्दों की नहीं थी। आप अध्ययन के लिए जो उदाहरण चुनते हैं, जिन धारणाओं के आधार पर आगे बढ़ते हैं, उन सब पर इस बात का असर पड़ना स्वाभाविक है। और यह सिर्फ जीव विज्ञान तक सीमित नहीं है। इसका सबसे उपयुक्त उदाहरण संयोग और सम्भाविता का अध्याय है, जिसके बारे में कृष्ण कुमार ने कहा था कि स्थानीय ट्रेनों के आने-जाने के समय को शिक्षा का आधार बनाना एक अनूठा नवाचार है। संयोग और सम्भाविता का अध्याय बनखेड़ी नामक स्टेशन पर एक पैसेंजर ट्रेन के टाइम टेबल और वास्तव में उसके आने-जाने के इतिहास से शुरू होता है। यह अध्याय आज भी उसी रूप में है मगर पता नहीं अन्य जगहों के बच्चे इसे अपनेपन से लेते हैं या नहीं। इसी प्रकार से आयतन का अध्याय है जिसमें स्थानीय धारणाओं को आधार बनाकर आयतन की अवधारणा विकसित की गई है। ऐसे कई और अध्याय भी हैं।

किसी भी पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम में यह एक महत्वपूर्ण पक्ष होना चाहिए। पाठ्यक्रम को स्थानीय परिस्थिति से जुड़ना चाहिए व बच्चों के

जशन-ए-तालीम

पास पहले से उपलब्ध ज्ञान की बुनियाद पर ही सीखने-सिखाने की प्रक्रिया चलनी चाहिए। पर साथ ही ध्येय यह भी होना चाहिए कि बच्चों की समझ को किस हद तक सामान्यीकृत किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में एक और बात पर गौर करना भी ज़रूरी है। यदि हम सिर्फ ग्रामीण पर्यावरण की बात करें तो चाहे अलग-अलग स्थानों पर फसलें अलग-अलग होती हों, कीड़ों और जन्तुओं में अन्तर हों या फूल, पत्तियों में फर्क हो, मगर इन सबके बारे में सीखने के तरीके सब जगह लगभग एक से ही होंगे। इसलिए बच्चों को उन्हीं तरीकों का उपयोग करते हुए एक भिन्न तरह की खेती का अध्ययन करना होता है। चूँकि *बाल वैज्ञानिक* में किसी एक पर्यावरण का विवरण देने की बजाय बच्चों से उम्मीद की गई है कि वे अपने पर्यावरण के अलग-अलग घटकों का अध्ययन करते हुए उसका एक विवरण विकसित करेंगे, इसलिए एक ही अध्याय का कई स्थानों पर आसानी से उपयोग किया जा सकता है।

इस बात को इस रूप में व्यक्त किया गया था कि अध्याय पर्यावरण आधारित तो हों मगर क्षेत्र विशेष के पर्यावरण से स्वतंत्र हों। यह तरीका ग्रामीण क्षेत्रों में तो कमोबेश ठीक बैठता है (हालाँकि वहाँ भी गैर-खेतिहर इलाकों का मुद्दा उठेगा) मगर शहर-कस्बे एकदम अलग ही चुनौती पेश करते हैं।

असल में ज़िला स्तरीय प्रसार के साथ कार्यक्रम सिर्फ ग्रामीण इलाकों तक सीमित नहीं रह गया था। कई कस्बों और छोटे शहरों में *बाल वैज्ञानिक* का उपयोग होने लगा था। शहरों में कार्यक्रम लागू होने का मतलब था कि बड़ी संख्या में बच्चों के पास खेती-बाड़ी का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होगा। *बाल वैज्ञानिक* में फसल वगैरह सम्बन्धी अध्याय पूरी तरह प्रत्यक्ष अवलोकनों और ग्रामीण क्षेत्र में उपलब्ध जानकारी पर आधारित थे। यदि हम यह मान लें कि खेती-बाड़ी विज्ञान के पाठ्यक्रम का एक अंग होना चाहिए तो सवाल यह उठता है कि शहरी बच्चों को इससे कैसे जोड़ा जाए।

इसी सवाल का दूसरा पहलू यह है कि यदि पाठ्यक्रम को पर्यावरण आधारित बनाना है तो शहरी बच्चों के पर्यावरण से सम्बन्धित अध्याय विकसित किए जाएँ। यह भी एक चुनौती ही थी। इस पर चर्चाएँ भी हुईं।

यह कहा गया कि शायद बेहतर होगा कि इस सन्दर्भ में ग्रामीण व शहरी पर्यावरण से सम्बन्धित अलग-अलग अध्याय हों और वैकल्पिक हों। अलबत्ता, अन्ततः ऐसा कुछ हुआ नहीं। तीसरे संस्करण में खेती आधारित अध्यायों का स्वरूप काफी बदला गया था और इन्हें प्रत्यक्ष अवलोकनों के स्थान पर मूलतः पुस्तक में दी गई जानकारी के विश्लेषण के आधार पर विकसित किया गया था। इसी प्रकार से पौधों में प्रजनन सम्बन्धी अध्याय में भी कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग छोड़ देना पड़े थे। वैसे तो ग्रामीण स्कूलों में भी ये क्रियाएँ करवाना मुश्किल साबित होने लगा था, मगर ये निर्णय मूलतः इस चुनौती का सृजनात्मक प्रत्युत्तर न दे पाने के परिणाम कहे जा सकते हैं।

इस सवाल को एक और नज़रिए से भी देखा जा सकता है। यदि प्रसार की प्रक्रिया में पर्यावरण से सीधे सम्पर्क का स्थान किताब में लिखित जानकारी लेती जाएगी तो वास्तव में हम बच्चों को सीखने के एक महत्वपूर्ण स्रोत से वंचित कर देंगे। पूरे प्रदेश या देश के लिए एक पाठ्य पुस्तक की महत्वाकांक्षा रखने वालों को इस बात पर विचार करना चाहिए। और यदि बात सिर्फ भौतिक या प्राकृतिक पर्यावरण से आगे जाकर पूरे परिवेश की हो तो केन्द्रीकृत प्रक्रियाओं पर और भी गम्भीर सवाल खड़े हो जाते हैं।

जानकारी न देने का हट

बाल वैज्ञानिक तैयार करते हुए स्रोत दल ने निर्णय किया था कि बच्चों को चीज़ें खोजना है। इसलिए किताब में जानकारी, नियम, सिद्धान्त वगैरह खोजने पर जोर है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि बच्चों को सीधे जानकारी परोसी नहीं जाएगी। इसके पीछे विचार यह था कि किताब में जानकारी दी गई तो इसे परीक्षा में पूछा जाएगा और बच्चों पर इसे रटने का दबाव बनेगा, इसे समझने की प्रक्रिया कमज़ोर पड़ जाएगी। एक डर यह भी था कि एक बार जानकारी देना शुरू किया तो फिर इसकी बाढ़ को रोकना मुश्किल होगा क्योंकि मुख्यधारा तो चाहती ही है कि किताबों में जानकारी की भरमार हो। परन्तु सबसे बड़ी शंका यह थी कि खोज की प्रक्रिया पर इसका प्रतिकूल असर होगा।

वास्तव में जानकारी (यानी परिभाषाएँ, नियम वगैरह) पाठ्य पुस्तक में न देने का निर्णय एक और बात से भी प्रेरित रहा है। आम तौर पर

जश्न-ए-तालीम

हो.वि.शि.का. को “करके सीखो” के नाम से जाना जाता है। इसलिए ऐसा भ्रम होता है कि यदि ढेर सारे प्रयोग करवा दिए जाएँ तो काम बन जाएगा। हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम के जिस अंग को प्रायः नहीं समझा जाता वह है खोज करने वाला अंग। सिर्फ प्रयोग और गतिविधि करना ही मकसद नहीं है, उनके अवलोकनों पर विचार करना, मत ज़ाहिर करना, अन्य लोगों के मतों को समझना, तर्क करना, कुछ निष्कर्ष निकालना, उसकी पुष्टि करना वगैरह भी इस प्रक्रिया के हिस्से हैं। इस पूरी प्रक्रिया को एक परिभाषा से विस्थापित किया जा सकता है। वह सरल लगता है क्योंकि खुद सोचकर कहीं पहुँचना कई बार खिझाने वाला और निराशाजनक काम हो सकता है। इसलिए जब आप जानकारी न देकर खोज की प्रक्रिया को अपनाने का फैसला करते हैं तो आप एक सपाट सड़क को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ राह पर चलने का निर्णय करते हैं। सत्तर के दशक में मुख्यधारा की पाठ्य पुस्तकों पर “जानकारी का विस्फोट” का भूत सवार था जो आज भी पूरी तरह उतरा नहीं है हालाँकि वह कमज़ोर पड़ता नज़र आ रहा है। इसका श्रेय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हो.वि.शि.का. समूह को जाता है जिसने अपना पाठ्यक्रम “जानकारी का विस्फोट” की धारणा पर आधारित नहीं किया और मुख्यधारा के साथ इस बहस को लगातार जारी रखा।

मगर आज देखने पर लगता है कि यह एक हठ-सा बन गया था। जानकारी न देने के इस हठ के कारण *बाल वैज्ञानिक* कई जगह थोड़ी बनावटी खोज पद्धति को बढ़ावा देती नज़र आती है। इसी कारण से *बाल वैज्ञानिक* में आपको मूलतः दो तरह की भाषा नज़र आएगी: निर्देश और प्रश्न।

कई बार कोई जानकारी चर्चा या प्रयोगों की ज़ंखला को आगे बढ़ाने के लिए ज़रूरी होती है मगर इसे भी प्रयोग के माध्यम से खोजने का आग्रह होता है। इस कारण से कहीं-कहीं एक सहजता टूटती है। हो.वि.शि.का. में आगे के अनुभवों से साफ होता है कि यह ज़रूरी नहीं कि जानकारी हमेशा खोज की प्रक्रिया में और उससे भी आगे जाकर सोच की प्रक्रिया में बाधक ही बने।

जैसे कक्षा 7 के *बाल वैज्ञानिक* (प्रथम संस्करण, 1979) में “पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश” नाम का एक अध्याय था। इसमें बच्चे यह पता करते हैं कि पत्तियों में मण्ड का निर्माण सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में ही होता

है। इसके लिए वे एक क्लासिकल प्रयोग करते हैं: पत्ती को एक काले कागज़ से ढँककर कुछ दिनों बाद उसमें मण्ड का परीक्षण करके देखा जाता है कि किस हिस्से में मण्ड बना है और किसमें नहीं।

इसमें यह ज़रूरी है कि बच्चों को पता हो कि काला कागज़ लगाने पर पत्ती के उस हिस्से को प्रकाश नहीं मिलता। मगर *बाल वैज्ञानिक* यह बात सीधे-सीधे नहीं कहती। इसकी बजाय बच्चों से कहा जाता है कि “काले कागज़ को आँखों के सामने रखकर सूरज की तरफ देखो और बताओ कि इस प्रयोग में काले कागज़ का उपयोग क्यों किया गया?” हालाँकि विडम्बना यह है कि यह उदाहरण उन दुर्लभ अपवादों में से है जहाँ *बाल वैज्ञानिक* में प्रयोग का निष्कर्ष दिया गया है: “तुमने ऊपर पता किया है कि पत्तियों में मण्ड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश ज़रूरी है।”

आम तौर पर *बाल वैज्ञानिक* में जब जानकारी और प्रयोग के बीच चुनाव की स्थिति आई तो फैसला प्रयोग के हक में हुआ।

एक और उदाहरण लीजिए। यह उदाहरण कक्षा 7 (1979) के अध्याय “हवा” से है। अध्याय की शुरुआत इस तरह से होती है:

प्रयोग 1: अपने हाथ पर मुँह से फूँको और बताओ कि तुमने क्या महसूस किया? (1)

एक पत्ती या कागज़ का टुकड़ा लो और उसके एक सिरे को पकड़कर दूसरे सिरे पर फूँक मारो। ऐसा करने पर पत्ती को क्या होता है? (2)

अब पत्ती के दूसरे सिरे को उँगली से पकड़ो और फिर से फूँक मारो।

क्या तुम बता सकते हो कि फूँक मारने से पत्ती क्यों झुक गई थी और मुँह से निकलकर पत्ती पर क्या गया था? (3)

यह पूरी ज़ंखला थोड़ी बनावटी लगती है और बचकाना भी। शायद यह महत्वहीन भी है। इसकी बजाय एक अच्छा पैराग्राफ लिखना शायद बेहतर होता।

“हवा” अध्याय (1979) से ही एक और उदाहरण है।

इस अध्याय में एक जगह हवा का आयतन नापा जाता है। प्लास्टिक की एक बोतल में पानी के विस्थापन से कुछ हवा इकट्ठी की जाती है और

जश्न-ए-तालीम

पानी में रखे-रखे ही उसे नापा जाता है। यहाँ यह ज़रूरी हो जाता है कि बोतल के अन्दर हवा का दाब वायुमण्डलीय दाब के बराबर हो। इसका तरीका यह है कि बोतल को पानी में इतना डुबोकर रखा जाए कि बोतल के अन्दर व बाहर पानी का तल बराबर हो। अध्याय में यह बात बताने की बजाय कहा गया है: “प्लास्टिक की बोतल में पानी के तल को देखते समय क्या बोतल को किसी विशेष स्थिति में पकड़े रहना आवश्यक है? गुरुजी से चर्चा करो।”

इस तरह *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों की एक प्रमुख समस्या शिक्षक की भूमिका को लेकर संशय की रही है। कई बार ऐसा लगता है कि जो सवाल शिक्षक को स्थिति के अनुसार पूछना चाहिए, उन्हें *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों का ही अंग बना दिया गया है। जैसे हवा के अध्याय में प्रयोग 1 भूमिका-स्वरूप ही दिया गया है। इसके स्थान पर शिक्षक कई अन्य ढंगों से शुरुआत कर सकता है। वास्तव में खोज प्रक्रिया का पूर्वानुमान एक हद तक ही किया जा सकता है। उसे एक ढाँचे में बाँधने और फिर भी एक लचीलापन बनाए रखने के प्रयासों के बीच मध्यमार्ग की जद्दोजहद इन अध्यायों में कई जगह नज़र आती है।

शायद *बाल वैज्ञानिक* नुमा खोज पद्धति का बेहतर स्वरूप यह होगा कि बच्चों के लिए कोई किताब ही न हो। शिक्षक के पास एक खाका हो और उसके अनुसार कक्षा-कार्य चले। शिक्षक के पास जो खाका हो वह काफी विस्तृत हो, जिसमें विषय की गहरी समझ हो, करने के लिए प्रयोग/ गतिविधियाँ हों। उसमें बच्चों के साथ की जाने वाली प्रक्रिया का एक ऐसा विवरण हो जिसमें से शिक्षक चुन सके कि किसी कक्षा विशेष में क्या करना है।

सम्भवतः और भी बेहतर यह होगा कि सीखने की प्रक्रिया बच्चों के मन में उठ रहे सवालों से शुरू व उन्हीं से प्रेरित हो। शिक्षक की भूमिका इन सवालों की खोजबीन के लिए ज़रूरी गतिविधियाँ/प्रयोग सुझाने तथा सवालों को एक परिप्रेक्ष्य में रखने की होगी। इस तरह का एक तज़ुर्बा दिल्ली विश्वविद्यालय स्थित विज्ञान शिक्षा एवं संचार केन्द्र ने किया था। इस कार्यक्रम का निर्देशन हो.वि.शि.का. से जुड़े स्रोत व्यक्तियों ने किया था

और हो.वि.शि.का. समूह ने इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। “सबके लिए विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी साक्षरता” नामक इस कार्यक्रम के विस्तार में हम यहाँ नहीं जाएँगे।

मगर वर्तमान हालात में सरकारी स्कूलों में शिक्षण के लिए एक पाठ्य पुस्तक ज़रूरी मानी जाती है। पाठ्य पुस्तक (*बाल वैज्ञानिक*) होने पर भी पालकों को यह शिकायत रहा करती थी कि उसमें ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसे बच्चे याद कर लें। एक शिकायत यह भी रही कि पालक जानते नहीं कि परीक्षा के समय बच्चों को क्या तैयारी करवाएँ। यानी *बाल वैज्ञानिक* पाठ्य पुस्तक की उनकी परिभाषा में फिट नहीं बैठती। तब यदि पाठ्य पुस्तक न हो, तो कल्पना की जा सकती है कि पालकों की क्या हालत होगी।

जानकारी न देने की बात का एक पहलू और भी है जो उतना ही महत्वपूर्ण है। *बाल वैज्ञानिक* के लेखक जानते थे कि बच्चों के साथ इस पद्धति में कई जगह जानकारी की ज़रूरत होगी। कई मुकाम ऐसे भी होंगे जहाँ कक्षा में उभरे निष्कर्षों को एक परिप्रेक्ष्य देने के लिए जानकारी देनी होगी। कई बार तो निष्कर्ष निकालने या अगला प्रयोग शुरू करने के लिए भी जानकारी देना ज़रूरी होगा। इसका एक रास्ता निकाला गया था। जहाँ भी ऐसी जानकारी की ज़रूरत की सम्भावना थी वहाँ बच्चों से कहा गया है कि वे गुरुजी से बात करें। इसी तरह, *बाल वैज्ञानिक* में एक तरह के सवाल वे हैं जहाँ बच्चों से कहा गया है कि वे आपस में चर्चा करके उस सवाल का जवाब दें। ये दो संकेत हैं शिक्षक के लिए कि यहाँ उसकी एक अलग ढंग की भूमिका की आवश्यकता है। इन सवालों के जवाब देना शायद सिर्फ वहाँ किए गए प्रयोग के आधार पर सम्भव नहीं होगा; उसके लिए अतिरिक्त तर्क, जानकारी या अनुभव ज़रूरी होगा। यहाँ शिक्षक से अपेक्षा है कि वह आवश्यकतानुसार जानकारी मुहैया कराए।

इस व्यवस्था का एक फायदा यह होता है कि यह जानकारी पाठ्य पुस्तक का अंग नहीं बनती। इसलिए शिक्षक अपने विवेक से, कक्षा व बच्चों की स्थिति को देखकर तय कर सकते हैं कि कितनी जानकारी दी जाए और किस तरह दी जाए। इसे *बाल वैज्ञानिक* को जानकारी के बोझ से बचाने

जश्न-ए-तालीम

का एक तरीका भी माना जा सकता है। मगर साथ ही नुकसान यह होता है कि पूरा मामला शिक्षक की तैयारी, समझ व हुनर पर टिक जाता है। दरअसल यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें नवाचार की ज़रूरत है।

यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि शिक्षक निर्देशिका, पूरक पठन सामग्री तथा *बाल वैज्ञानिक* के टीका सहित संस्करणों वगैरह को इस व्यवस्था का एक अंग माना गया था। मगर उनके परिणाम आशाजनक नहीं रहे हैं।

बाद के संस्करणों में इस सन्दर्भ में थोड़ा ज़्यादा उदार नज़रिया अपनाया गया था। इसके अन्तर्गत तीसरे संस्करण में कई बदलाव किए गए और कुछ पूरक पठन सामग्री तो पुस्तक में ही शामिल कर दी गई।

जानकारी सम्बन्धी उदारता खास तौर से तीसरे संस्करण में देखी जा सकती है। एक मत यह बन रहा था कि *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों का ढाँचा काफी सपाट व रूखा है। इनमें प्रयोग-प्रश्न-प्रयोग-प्रश्न का एक सख्त सिलसिला चलता है। इस बारे में सवाल उठने लगे थे कि बगैर किसी अपेक्षा के प्रयोग करने से अवलोकनों और निष्कर्षों पर क्या असर पड़ता है। कार्यक्रम की एक स्रोत व्यक्ति अनीता रामपाल द्वारा कुछ स्कूलों में किए गए एक अध्ययन से पता चला था कि यदि कोई अपेक्षा न हो, कोई परिकल्पना न हो, तो बच्चे ऐसे अवलोकन भी नहीं कर पाते जो हमें एकदम साफ नज़र आते हैं। जैसे, एक पुष्टे के नीचे चुम्बक रखकर उस पर लोहे का बुरादा बिखराकर थोड़ा ठोंकें तो चुम्बकीय बल रेखाएँ हमें एकदम साफ नज़र आती हैं, मगर बच्चों के लिए वह बेतरतीब बिखरा लोहे का बुरादा ही रहा। वैसे भी यह लगने लगा था कि *बाल वैज्ञानिक* में किसी प्रयोग को क्यों किया जा रहा है, यह बताए बगैर ही अधिकांश प्रयोग शुरू कर दिए जाते हैं। इससे प्रयोग करने का जोश कम होता है और बच्चे विज्ञान के इस प्रमुख तत्व से वंचित रह जाते हैं कि प्रयोग करने से पहले कुछ न कुछ परिकल्पना दिमाग में होती है।

यह बात उभरने लगी थी कि “करके सीखो” के चक्कर में सीखने के कुछ अन्य पहलुओं की उपेक्षा हो रही है। उदाहरण के लिए, अन्य वैज्ञानिकों द्वारा किए गए प्रयोगों के विवरण पढ़कर तर्क करना, वैज्ञानिकों द्वारा किए गए कार्यों को पढ़ना, किसी विषय को सीखने में उसके इतिहास का उपयोग

करना, किसी विषय के बारे में रोचक विवरण पढ़ना और अपनी गतिविधियों को एक परिप्रेक्ष्य में रखकर देख पाना वगैरह। सीखने के इन पहलुओं को लेकर होशंगाबाद विज्ञान समूह में काफी तीखी बहस हुई। कुछ लोगों को लगता था कि ये सब चीजें विज्ञान की प्रयोग आधारित खोज प्रकृति को दुर्बल बनाएंगी। ये विवरण किस्से-कहानियों के रूप में प्रयोगों पर हावी हो जाएंगे। खुद करने की प्रक्रिया कमज़ोर पड़ेगी।

इसी दौरान यह भी स्पष्ट हो चला था कि “जानकारी” का मतलब सिर्फ यह नहीं होता कि प्रयोगों के निष्कर्ष बता दिए जाएँ या नियम व परिभाषाएँ लिख दी जाएँ। ज़्यादा व्यापक अर्थों में जानकारी का अर्थ यह है कि ऐसी विवरणात्मक पाठ्य वस्तु हो जो बच्चों को सोचने को प्रेरित करे, उनके सामने ज़्यादा व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करे, सीखी गई बातों को विविध सन्दर्भों से जोड़ने का काम करे।

बाल वैज्ञानिक के सन्दर्भ में एक बात और सामने आ रही थी। वह बात यह थी कि “करके सीखो” का मुस्तैदी से पालन करने के कारण कई विषय अधीन में ही छूटते जा रहे हैं। जैसे पौधों का पोषण, बल, फसलें, वृद्धि, परिवर्धन वगैरह। कारण यह था कि *बाल वैज्ञानिक* किसी विषय को वहीं तक ले जाती थी जहाँ तक प्रयोग – मिडिल स्कूल के स्तर पर करने योग्य प्रयोग – उपलब्ध हों। दूसरी ओर, कई विषय ऐसे थे जिनके लिए बहुत अच्छे प्रयोग उपलब्ध थे, मगर इन प्रयोगों को करने के बाद तर्क का जो स्तर ज़रूरी था वह शायद मिडिल स्कूल के बच्चों (खासकर उपलब्ध शिक्षकों के साथ) की पहुँच के बाहर था। मगर ये विषय *बाल वैज्ञानिक* में शामिल थे। “आकाश की ओर” और “संयोग और सम्भावितता” (प्रथम संस्करण के स्वरूप में) इसके अच्छे उदाहरण हैं।

बाल वैज्ञानिक को लेकर एक समस्या यह भी सामने आई थी कि कक्षा के बाद जब पालक अपने बच्चों के साथ किताब को लेकर बैठें तो करें क्या, यह समझ नहीं आता था। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि *बाल वैज्ञानिक* की कल्पना कभी भी एक स्वयंपूर्ण (stand-alone) किताब के रूप में नहीं की गई थी। हालाँकि *बाल वैज्ञानिक* बच्चों को सम्बोधित है मगर वास्तव में यह एक प्रक्रिया निर्धारित करती है जिसे बच्चे और शिक्षक

जश्न-ए-तालीम

मिलकर आगे बढ़ाते हैं। प्रश्न बच्चों से पूछे गए हैं मगर यह अपेक्षा नहीं है कि प्रत्येक बच्चा अकेले बैठकर प्रयोग करे और उन प्रश्नों के उत्तर लिख दे। मिल-जुलकर शिक्षक की मदद से प्रश्नों के उत्तर खोजना ही सीखने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को संचालित करने के लिए शिक्षक प्रशिक्षण है। मगर इस प्रक्रिया में पालक कहाँ आते हैं?

पूरक सामग्री: एक मरीचिका

यहाँ यह कह देना ज़रूरी है कि ऐसा कभी न रहा कि हो.वि.शि.का. समूह ने बच्चों के लिए जानकारी के महत्व को नहीं समझा था, पर यह समझ बदलती रही है। जैसे, 1983 में समझ थी कि “हमारी ओर से जानकारी नहीं दी जाएगी। मगर बच्चों के प्रयोग को आगे बढ़ाने के लिए या बच्चों के द्वारा विश्लेषण को आगे बढ़ाने के लिए ज़रूरी होने पर हमने वह जानकारी सोच-समझकर, नपी-तुली मात्रा में दी।”

इससे स्पष्ट है कि जानकारी को सीखने का ज़रिया कदापि नहीं माना गया था। जब कोई और विकल्प नहीं रहा, तब जानकारी एक समझौते के रूप में दी गई। और इसमें भी काफी कंजूसी बरती गई। इसके पीछे एक ही डर झलकता है: कि जानकारी का समावेश हुआ तो रटना शुरू हो जाएगा। मगर जानकारी को लेकर इस समझ का साकार रूप थेंगलों के रूप में ही सामने आता है। यह जानकारी पूरी प्रक्रिया के अभिन्न अंग के रूप में नहीं बल्कि एक समझौते के रूप में ही दी जाती है।

लेकिन जीव विज्ञान के अध्यायों के सन्दर्भ में जानकारी की समस्या को शुरू से ही पहचान लिया गया था। 1990 में जीव विज्ञान के अध्यायों पर लिखी गई एक टीप में कहा गया था, “जीव विज्ञान की प्रकृति के चलते यह सम्भव नहीं है कि इसमें वही तरीका अपनाया जा सके जो भौतिकी और रसायन में अपनाया गया था। जीव विज्ञान में आप जानकारी, परिभाषाओं और पारिभाषिक शब्दों से पूरी तरह कन्नी नहीं काट सकते।”

बहरहाल, धीरे-धीरे सीखने में जानकारी तथा विवरणों के महत्व को लेकर जागरूकता बढ़ रही थी। यह बात कई अलग-अलग ढंगों से व्यक्त हो रही थी। शिक्षक प्रशिक्षणों में यह बात ज़ोर पकड़ने लगी थी कि शिक्षकों को

सम्बन्धित विषय-वस्तु की “अतिरिक्त जानकारी” दी जाए। साथ ही यह डर भी व्यक्त किया जा रहा था कि शिक्षकों की आदत है कि वे जानकारी मिलते ही इसे बच्चों पर लाद देंगे। दूसरी बात शिक्षक निर्देशिका की उठ रही थी। ऐसा सोचा जा रहा था कि शिक्षक निर्देशिकाओं में शिक्षकों को वह जानकारी प्रदान की जाएगी जिसकी ज़रूरत कक्षा में चर्चा को आगे बढ़ाने के लिए हो सकती है।

अक्तूबर 1985 में *बाल वैज्ञानिक* संशोधन के सन्दर्भ में विचार-विमर्श के लिए एक कार्यशाला आयोजित की गई थी। कार्यशाला के दौरान *बाल वैज्ञानिक* के लगभग सारे अध्यायों की बारीक समीक्षा की गई थी और उनमें सुधार के सुझाव दिए गए थे। कई अध्यायों के बारे में यह सुझाव आया था कि जानकारी की ज़रूरत है। कई बार यह कहा गया था कि अतिरिक्त जानकारी शिक्षक निर्देशिका में शामिल की जाए; कहीं-कहीं कहा गया कि वह पूरक सामग्री के रूप में दी जाए। मगर यह स्पष्ट नहीं हुआ कि यह पूरक सामग्री कहाँ व किस रूप में दी जाएगी और बच्चों तक किस तरह पहुँचाई जाएगी। इस स्पष्टता के अभाव में यह कार्य साकार रूप नहीं ले पाया। वैसे इस समय तक एकलव्य द्वारा बच्चों के लिए एक पत्रिका *चकमक* का प्रकाशन होने लगा था और एक सोच यह थी कि यह पत्रिका बच्चों के लिए पूरक सामग्री का काम करेगी।

एक सुझाव और आया था कि *बाल वैज्ञानिक* में कुछ हिस्से ऐसे जोड़े जाएँ जिन्हें साफ तौर पर चिन्हित कर दिया जाए कि इनके बारे में परीक्षा में प्रश्न नहीं पूछे जाएँगे। इससे पता चलता है कि परहेज़ जानकारी देने से उतना नहीं था जितना यह डर था कि जानकारी को रटने का दबाव होगा।

इसी दौरान, द्वितीय संस्करण बनाते समय स्वयं *बाल वैज्ञानिक* में जानकारी जोड़ने का निर्णय नहीं लिया गया। कम से कम यह तो किसी ने नहीं कहा कि जानकारी को सीखने के एक साधन के रूप में शामिल किया जाए।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर केन्द्र सरकार द्वारा गठित गांगुली समिति की रिपोर्ट रही। जहाँ गांगुली समिति ने अपनी रिपोर्ट में होशंगाबाद विज्ञान के पाठ्यक्रम के उद्देश्यों और पद्धति से पूरी सहमति जताई, वहीं उसमें इस बात पर चिन्ता ज़ाहिर की गई

जश्न-ए-तालीम

कि *बाल वैज्ञानिक* में “विज्ञान की प्रक्रिया और विज्ञान के उत्पाद” के बीच एक असन्तुलन है और इसमें विज्ञान के उत्पाद की उपेक्षा हुई है। “विज्ञान के उत्पाद” से आशय विज्ञान की परिभाषाओं, नियमों, सिद्धान्तों वगैरह से था। गांगुली समिति की सिफारिश थी कि हो.वि.शि.का. समूह इस असन्तुलन को दूर करे। समिति ने जानकारी के मामले में जो बात उठाई थी उसका सम्बन्ध इस बात से था कि बच्चों को “विज्ञान का संचित ज्ञान” पहुँचाने की क्या व्यवस्था है। इसलिए 1994 में शुरू किए गए संशोधन में गांगुली समिति की रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ बिन्दु रही थी।

इस सम्बन्ध में इसमें समूह की एक सीमा को साफ तौर पर देखा जा सकता है। जानकारी को इस रूप में प्रस्तुत करना कि वह सोच की प्रक्रिया को बढ़ावा दे, इसका कोई मॉडल समूह के पास नहीं था। जानकारी आधारित पाठ्य-वस्तु के जो मॉडल सामने थे वे सब इस प्रकार के थे जिनमें दी गई किसी भी जानकारी को याद कर लेने की ही बात होती थी। इसलिए समूह के सामने चुनौती थी कि इसके सर्वथा नए स्वरूप विकसित करे। जब भी जानकारी देने की बात होती थी तो वह इस रूप में ली जाती थी कि वह प्रयोगों, गतिविधियों का स्थान ले लेगी, खोज करने का आनन्द समाप्त कर देगी या उससे प्रयोग करने की अनिवार्यता पर आँच आएगी। ये बातें हो.वि.शि.का. समूह को अस्वीकार्य थीं। लेकिन जब सृजनात्मता की इस सीमा को तोड़ा गया तो समूह ने जानकारी आधारित अध्यायों को भी सहर्ष स्वीकार किया। तीसरे संस्करण में कई ऐसे अध्याय शामिल किए गए थे जिनमें जानकारी या विवरणों को सीखने की प्रक्रिया में गुँथा गया था। इनमें “फसलों के सवाल-जवाब”, “पौधों में पोषण”, “कहाँ-कहाँ नहीं है बल” वगैरह अध्याय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पाठ्यक्रम का लचीलापन

हो.वि.शि.का. में पाठ्यक्रम की समझ एक पाठ्य पुस्तक तक सीमित नहीं रही। समझ तो यह थी कि *बाल वैज्ञानिक* का प्रत्येक अध्याय किसी विषय-वस्तु पर आधारित जरूर है मगर इसके माध्यम से विज्ञान की पद्धति को

उभारना हर अध्याय का मकसद है। यह हो सकता है कि अलग-अलग अध्यायों में इस पद्धति के अलग-अलग तत्व रेखांकित होते हैं। अब यह शिक्षक पर है और बच्चों की तैयारी पर है कि किसी कक्षा विशेष में वह अध्याय क्या स्वरूप लेता है। इसमें शिक्षक की रुचि व दक्षता, कक्षा का माहौल वगैरह जैसी चीजों का हाथ भी होता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक अध्याय इतने समय में पढ़ा दिया जाएगा और उसे पढ़ाने के बाद बच्चे फलॉ-फलॉ चीज़ें सीख जाएंगे। यह तो इस बात पर निर्भर करेगा कि उस कक्षा में उस अध्याय की परतें किस तरह खुलती हैं। विजय वर्मा के शब्दों में, “हमने खुद सीखने पर ज़ोर दिया है। इस प्रक्रिया में यह ज़रूरी नहीं है कि शिक्षक ही मार्गदर्शक हो, ज़रूरी यह है कि बच्चे भी उसमें भाग लें।”

इस लचीलेपन के चलते शिक्षकों को बहुत दिक्कत होती थी। वे एक ऐसे पाठ्यक्रम के आदी थे जिसमें सब कुछ पहले से तय होता है, उन्हें सिर्फ पाठ्य पुस्तक लेकर पाठ पूरा करना होता था। दूसरी ओर यहाँ कभी कोई प्रयोग हुआ और उसकी चर्चा लम्बी खिंच गई तो दिन उसी में निकल गया। या कोई प्रयोग ठीक से नहीं हो पाया तो आगे बढ़ना मुश्किल हो गया। या किसी बच्चे या टोली के अवलोकन अलग आ गए तो समय खप गया। लेकिन खोज पद्धति अपनाने के ये “जोखिम” तो मानकर ही चलना होगा। शिक्षक प्रशिक्षण में तो कई बार ऐसा हुआ कि किसी प्रयोग में से कोई ऐसा सवाल निकला कि उसे लेकर नए-नए प्रयोग होने लगे और अध्याय व आपकी योजना धरी की धरी रह गई।

आम तौर पर शिक्षा विभाग में एक परम्परा है। हरेक शिक्षक को एक “सिलेबस” बनाना होता है। कई बार यह सिलेबस शिक्षा विभाग बनाकर देता है। इसमें हरेक अध्याय में लगने वाले पूर्व-निर्धारित समय के हिसाब से साल भर का एक कार्यक्रम होता है। इसे इकाईवार योजना भी कहते हैं। *बाल वैज्ञानिक* के लिए ऐसा सिलेबस बनाना असम्भव था। शिक्षकों और शिक्षा विभाग ने हो.वि.शि.का. समूह से बार-बार आग्रह किया कि एक सिलेबस तैयार किया जाए। काफी समय तक समूह ने इसका प्रतिरोध किया मगर अन्ततः हारकर एक सिलेबस बनाया और प्रसारित किया। इस

जश्न-ए-तालीम

सिलेबस को प्रसारित करते हुए हो.वि.शि.का. समूह की पीड़ा का अन्दाज़ सिलेबस के आवरण पत्र से लगाया जा सकता है:

प्रस्तुत इकाईवार विज्ञान पाठ्यक्रम हमारा आपसे व शासकीय मान्यताओं से चार वर्षों से चल रहे वार्तालाप के बाद एक समझौता है। हमारे विचार में प्रयोगनिष्ठ और क्रिया आधारित शिक्षण की शैली एवं इकाईवार योजनाबद्ध पाठ्यक्रम में परस्पर विरोधाभास है। इसलिए हमारा आपसे अनुरोध है कि इस योजना को मात्र न्यूनतम आधार ही मानें, एक सीमा नहीं। आपके उत्साह, कल्पना शक्ति एवं पहल को एक चुनौती दी जा रही है कि प्रस्तुत इकाईवार योजना के बन्धनों को तोड़कर आप अपने विद्यार्थियों को स्वतंत्र चिन्तन के लिए प्रेरित करें। हमें यह विश्वास है कि यदि आप संलग्न इकाईवार योजना की सीमाओं से बाहर निकल सके तो विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम को नई दिशा मिलेगी (जनवरी 9, 1977)।

असल में यह बात पाठ्यक्रम निर्माण की किसी भी प्रक्रिया के लिए मौजूद है; खासकर पूरे देश के लिए पाठ्यक्रम बनाते हुए तो यह एक बुनियादी बात होनी चाहिए। मगर 1978 में ज़िला स्तरीय प्रसार के समय हो.वि.शि.का. समूह के लिए यह आवश्यक हो गया कि एक पुस्तक हो जिसे कक्षा में पूरा कराया जाए। इस तरह *बाल वैज्ञानिक* बनने के साथ ही हो.वि.शि.का. का “सिलेबस” अश्मीभूत हो गया या उसका लचीलापन समाप्त हो गया। पता नहीं अच्छा हुआ या बुरा।

उपरोक्त विवरण से ज़ाहिर है कि हो.वि.शि.का. का पाठ्यक्रम *बाल वैज्ञानिक* से काफी आगे जाता था। *बाल वैज्ञानिक* के अध्याय इस पाठ्यक्रम के विभिन्न तत्वों को साकार रूप देने की प्रक्रिया निर्धारित करते थे। इस प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं की चर्चा हम आगे विस्तार में करेंगे। हम यह भी देखेंगे कि प्रथम संस्करण (1978) से लेकर तीसरे संस्करण (2000) तक इनका विकास किस तरह हुआ था।

मगर आगे बढ़ने से पहले *बाल वैज्ञानिक* के एक सामान्य अध्याय की संरचना देखना उपयोगी होगा। अगले अध्याय में हम न सिर्फ *बाल वैज्ञानिक* के अध्याय की सामान्य संरचना देखेंगे बल्कि पाठ्यक्रम के कुछ और तत्व भी उभारने का प्रयास करेंगे।

5

अध्यायों की संरचना

यह पूरी चर्चा मूलतः *बाल वैज्ञानिक* के प्रथम संस्करण (1978-80) के सन्दर्भ में है, मगर ज़रूरत होने पर साथ-साथ बाद के संस्करणों का ज़िक्र भी किया गया है।

जैसा कि हमने पहले भी कहा है, *बाल वैज्ञानिक* के अध्याय सही मायनों में खुद खोज करने की पद्धति पर आधारित हैं। इनके अलग-अलग रूपों की चर्चा तो हम बाद में करेंगे, पहले एक सामान्य ढाँचे की बात करना मुनासिब होगा।

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों में विषय के प्रस्तुतीकरण में एक खास ढंग की योजना है। पर्यावरण के किसी आधार को लेकर शुरुआत होती है। कुछ प्रश्नों के माध्यम से बच्चों के पास पहले से जो जानकारी है उसको उभारा जाता है, व्यवस्थित किया जाता है। इसके बाद उस विचार को आगे बढ़ाने के लिए कुछ प्रयोग किए जाते हैं और हर प्रयोग के निर्देश देने के बाद उन प्रयोगों से जुड़े सवाल एक बढ़ते हुए क्रम में दिए जाते हैं। आम तौर पर ये वे सवाल हैं जिनके बारे में अनुभव से अनुमान किया गया है कि वे उठेंगे और उठने चाहिए। अपेक्षा यह है कि जो आँकड़े इकट्ठे किए गए हैं बच्चे उनको समझेंगे और दिए गए सवालों की मदद से निष्कर्ष निकालेंगे। यह एक सामान्य प्रक्रिया है।

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों की शुरुआती भूमिका में काफी विविधता नज़र आती है। कुछ अध्यायों में कुछ प्रश्नों के माध्यम से बच्चों की समझ को उभारा जाता है। जैसे कक्षा 7 के अध्याय “आयतन” में:

एक लोटा चाय से कितने प्याले भरे जा सकते हैं?

जश्न-ए-तालीम

तुम अपनी गाय का दूध कैसे नापते हो?

क्या एक पाई धान और एक पाई गेहूँ का भार बराबर होगा?

यदि इनका भार बराबर नहीं है, तो इनमें किस तरह की बराबरी है?

कुछ अध्यायों की शुरुआत किसी प्रयोग या गतिविधि के साथ होती है, जिसके माध्यम से बच्चों के सामने उस अध्याय से सम्बन्धित कुछ सवाल उठाए जाते हैं। जैसे कक्षा 8 के अध्याय “चीज़ें क्यों तैरती हैं?” में:

तुमने देखा होगा कि कुछ चीज़ें पानी पर तैरती हैं और कुछ डूब जाती हैं। क्या कभी पानी पर तैरने वाली चीज़ों को मिट्टी के तेल में डालकर देखा है?

एक उफननली लो और उसे पानी से आधा भरो। उसमें लगभग 15-20 मि.ली. मिट्टी का तेल डालो। अब प्लास्टिक के 2-3 रंग-बिरंगे बटन, 1-2 आलपिन, माचिस की तीली के टुकड़े, कागज के टुकड़ों की गोलियाँ, छोटे कंकड़, थोड़ी-सी रेत, मोम के टुकड़े इत्यादि वस्तुएँ एक-के-बाद-एक उफननली में डालो और देखो कि क्या होता है।

उफननली के मुँह को हाथ से ढँककर उसे अच्छी तरह हिलाकर रख दो। कुछ देर बाद देखो कि क्या होता है।

...इस खेल में ये चीज़ें अलग-अलग करतब क्यों दिखाती हैं? कौन-सी चीज़ें किस द्रव में डूबेंगी और किस में तैरेंगी? लोहे को भी पानी पर कैसे तैराया जा सकता है? इन सवालों के उत्तर इस अध्याय में मिलेंगे।

इसके बाद *बाल वैज्ञानिक* के प्रत्येक अध्याय में बच्चों को कुछ प्रयोग या गतिविधि करने के निर्देश दिए गए हैं। हरेक प्रयोग करने के बाद कुछ सवाल पूछे गए हैं जो बच्चों को अपने अवलोकन रिकॉर्ड करने, उन अवलोकनों का विश्लेषण करने तथा उनसे निष्कर्ष निकालने में मदद करते हैं। यह एक मोटा-मोटा खाका है। यदि कोई व्यक्ति सिर्फ *बाल वैज्ञानिक* का अध्याय देखे तो उसे *बाल वैज्ञानिक* में विषय-वस्तु की गहराई का आभास नहीं मिलता क्योंकि *बाल वैज्ञानिक* के अध्याय पढ़कर पता ही नहीं चलता कि ये कक्षा में क्या चमत्कार पैदा कर सकते हैं। इन्हें समझने के लिए कई अन्य बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

एक मायने में *बाल वैज्ञानिक* एक अधूरी किताब है। इसमें तो सिर्फ प्रयोग करने की विधि और सवाल हैं। इन सवालों के जवाबों के साथ ही यह पूरी होती है। इस बात को *बाल वैज्ञानिक* (कक्षा 6, 1978) में सवालीराम¹ ने

यदि हम *बाल वैज्ञानिक* के प्रथम संस्करण (1978-80) को देखें तो अध्याय की शुरुआत बहुत अचानक होती है। लगभग कोई भूमिका प्रस्तुत नहीं की जाती। आगे चलकर यह आलोचना का एक प्रमुख बिन्दु बना था। दरअसल *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों में सिर्फ शुरुआत में ही नहीं, पूरे अध्याय में एक आकस्मिकता दिखती है। कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट करते हैं। कक्षा 6 के अध्याय निम्नानुसार शुरू होते हैं:

अध्याय 2: “समूह बनाना सीखो” – “कक्षा के सब बच्चों के नाम क्रमवार कापी में लिखो। (1)”

अध्याय 6: “बल और भार” – “बल क्या है? पानी से भरी बाल्टी हो या गल्ले की बोरी – किसी भी तरह का बोझ उठाने पर अपने शरीर में खिंचाव महसूस होता है। क्या कुएँ से पानी खींचते समय या हल चलाते समय भी ऐसा होता है? (1)”

अध्याय 8: “बीज और उनका अंकुरण” – “गाँव का जीवन खेती के जीवन से जुड़ा हुआ है। आम तौर पर खेती की शुरुआत बीज से होती है।

उन फसलों की सूची बनाओ जिनकी शुरुआत बीज से नहीं होती। (1)”

अध्याय 9: “विद्युत-1” – “**तैयारी** - विद्युत के प्रयोग करने के लिए घर से टॉर्च या रेडियो में से सेल निकाल लाना। प्रयोग करने के बाद सेलों को वापिस टॉर्च या रेडियो में ही लगा देना।”

अध्याय 11: “दूरी नापना” – “पहले बताओ गिल्ली डण्डे के खेल में गुच्चक से गिल्ली की दूरी कैसे नापते हो? (1)”

ये कुछ अध्यायों के उदाहरण हैं जिनमें शुरुआत किसी सवाल या निर्देश से की गई है। अन्य अध्यायों में संक्षिप्त सी भूमिका दी जाती है। यह पैटर्न *बाल वैज्ञानिक* में हर मोड़ पर मिलेगा।

1 सवालीराम हो.वि.शि.का. के तहत गढ़ा गया एक काल्पनिक पात्र है जो बच्चों से जीवन्त संवाद का माध्यम था। सवालीराम के अनुभवों की चर्चा आगे की जाएगी।

इन शब्दों में व्यक्त किया था: “तुम्हारी किताब में हर प्रयोग और परिभ्रमण के बाद कई सवाल दिए गए हैं। हर सवाल के सामने उसका नम्बर भी दिया गया है।...तुम अपनी कॉपी में हर सवाल का नम्बर डालकर जवाब लिखना। तुम्हारी किताब में सवाल हैं और अब कॉपी में जवाब। दोनों को फिर मिलाने पर पूरी किताब बनेगी।”

मगर बात सिर्फ सवाल और जवाब की नहीं है। सवालों और जवाबों के बीच एक पूरी प्रक्रिया है जिससे होकर ये जवाब मिलते हैं। वह प्रक्रिया है प्रयोगों की, अवलोकनों की, चर्चा की, आँकड़ों के प्रस्तुतीकरण की, विश्लेषण की, सिद्धान्त व नियम विकसित करने की। इस बात को *बाल वैज्ञानिक* (कक्षा 8, 1989) में सवालीराम ने इन शब्दों में कहा था, “*बाल वैज्ञानिक* में दिए गए प्रयोग करके तुम्हें प्रश्नों के उत्तर खुद खोजने हैं। फिर आपस में चर्चा करके सही-गलत का निर्णय भी तुम्हें ही करना है। अब यदि यह सब किए बिना ही प्रश्नों के उत्तर तुम्हें कहीं से मिल जाएँ, तो क्या तुम कभी उत्तर खोजने का तरीका खोज पाओगे?...अब बताओ जो व्यक्ति तुम्हें बने-बनाए उत्तर दे देता है, वह तुम्हारा फायदा करता है या नुकसान?” यह बात उस समय लिखी गई थी जब कुछ शिक्षकों ने सवालों के उत्तर लिखवाकर खोज पद्धति में सेंधमारी शुरू कर दी थी। कुछ प्रकाशकों ने *बाल वैज्ञानिक* की “कुंजियाँ” भी प्रकाशित कर दी थीं और पुस्तक विक्रेताओं द्वारा दबाव डालकर इन्हें बेचा जा रहा था। दबाव बनाने का एक तरीका यह था कि कुंजी खरीदे बगैर किताब नहीं मिलेगी। यह दूसरी बात है कि ये कुंजियाँ कभी लोकप्रिय नहीं हो पाईं।

बाल वैज्ञानिक के प्रत्येक अध्याय में पाठ्यक्रम के लगभग सारे अंगों का समावेश है। इसलिए यह शिक्षक की अभिरुचि, हुनर, आत्मविश्वास, सम्बन्धित विषय की जानकारी व समझ और बच्चों की तैयारी व कक्षा के माहौल पर निर्भर है कि पाठ्यक्रम के तत्व किन अध्यायों में सर्वोत्तम ढंग से प्रकट होंगे। इस दृष्टि से देखें तो *बाल वैज्ञानिक* के हरेक अध्याय के दो पक्ष हैं और दोनों बराबर महत्व के हैं। पहला पक्ष है विषय-वस्तु का। अध्याय चुम्बक से सम्बन्धित हो सकता है या भोजन व पाचन क्रिया से। मगर दूसरा पक्ष सभी अध्यायों में लगभग एक-सा है; वह है विज्ञान की पद्धति

का। यानी प्रयोग करना, अवलोकन करना, अवलोकनों को रिकॉर्ड करना, उन्हें व्यवस्थित रूप देना, पैटर्न पहचानना, तार्किक विश्लेषण करना, निष्कर्ष निकालना, उस निष्कर्ष को तर्क व अनुभव की कसौटी पर कसना, तर्क करना, और इस सबको अपने शब्दों में व्यक्त करना। इन तत्वों को विषय-वस्तु में गूँथने का काम अध्याय करते हैं। सवाल सिर्फ यह है कि किस कक्षा में कौन-से अध्याय में ये तत्व बखूबी उभरकर आते हैं। इसीलिए “विज्ञान की विधि” या “जीवन में विज्ञान” पर अलग से एक व्याख्यान देने की ज़रूरत कभी महसूस नहीं की गई।

लेकिन एक बात का ज़िक्र यहाँ मुनासिब होगा। शुरु से ही लग रहा था कि जीव विज्ञान के सारे अध्यायों को इस सामान्य ढाँचे में नहीं ढाला जा सकता। जहाँ भौतिकी व रसायन से जुड़े विषयों में प्रयोगों को आधार बनाना अपेक्षाकृत आसान है, वहीं जीव विज्ञान में इतनी कठोरता से इसका पालन करना मुश्किल है। कई जगह पर पारिभाषिक शब्द या परिभाषाएँ और जानकारी देना आवश्यक हो जाता है। हर चीज़ को प्रयोग करके दिखाया नहीं जा सकता। इसलिए मोटे तौर पर देखें तो *बाल वैज्ञानिक* में जीव विज्ञान के अध्याय तीन प्रकार के हैं:

1. बड़ी संख्या में अध्याय परिभ्रमणों पर आधारित हैं और इस प्रकार से बच्चों को उनके पर्यावरण से परिचित कराने का प्रयास करते हैं जिसमें जन्तु व पौधे जीते हैं। पत्तियों, जड़ों, फसलों, फसलों के कीटों और रोगों, जन्तुओं के जीवन चक्र, कीट वगैरह से सम्बन्धित अध्याय इस श्रेणी में आते हैं।
2. कुछ अध्याय कक्षा में किए गए प्रयोगों पर आधारित हैं। “बीज व उनका अंकुरण”, “भोजन व पाचन क्रिया”, “संवेदनशीलता”, “वृद्धि”, “विकास”, “श्वसन”, “शरीर के आन्तरिक अंग” और “सूक्ष्मदर्शी से अवलोकन” इस प्रकार के अध्यायों के उदाहरण हैं।
3. तीसरे किस्म के अध्याय वे हैं जो मूलतः बच्चों के पूर्व ज्ञान के आधार पर चर्चा पर टिके हैं। जैसे, “सजीव और निर्जीव”, “वर्गीकरण और जन्तुओं में प्रजनन” इत्यादि।

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों में जैसे तो विभिन्न घटक एक साथ गूँथे गए थे मगर इनकी बात अलग-अलग करना मुनासिब है। इससे इन घटकों को विस्तार से देखने में मदद मिलेगी और यह भी स्पष्ट होगा कि पाठ्यक्रम के स्तर पर बनी समझ को ठोस रूप कैसे दिया गया।

प्रयोग व गतिविधियाँ

प्रयोग और गतिविधियों के निर्देश काफी विस्तार में दिए गए हैं। ये निर्देश लिखित रूप में भी हैं और चित्रों के माध्यम से समझाए भी गए हैं। हरेक प्रयोग के निर्देशों को अपने-आप में पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है ताकि बच्चे इन्हें पढ़कर खुद वह प्रयोग कर सकें।

आम पाठ्य पुस्तकों के विपरीत बाल वैज्ञानिक में लगभग कहीं भी प्रयोग के निर्देश देने के बाद उसके अवलोकन या निष्कर्ष नहीं दिए गए हैं। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि बाल वैज्ञानिक में भरसक कोशिश की गई है कि बच्चों को तनिक भी आभास न मिले कि किस तरह के अवलोकन की उम्मीद करें। इस प्रयास में कभी-कभी लगता है कि सवालों की संख्या बहुत अधिक हो गई थी और वे काफी पेचीदा हो गए थे। मगर प्रयोग करने में बच्चों की रुचि जगाने के लिए ज़रूरी है कि अवलोकन व निष्कर्ष पहले से मालूम न हों और न ही कहीं से पके-पकाए मिल जाएँ।

प्रयोग करना ही पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है बल्कि प्रयोगों के अवलोकन की व्याख्या के लिए जूझना भी सीखने का एक प्रमुख अंग है। एन.सी.ई.आर.टी. आदि की पुस्तकों में “करके सीखो” का बंटोटाइर इसीलिए होता है कि प्रयोग के निर्देशों के तत्काल बाद अवलोकन व निष्कर्ष बता दिए जाते हैं। इस मायने में बाल वैज्ञानिक में जानकारी नहीं है।

बाल वैज्ञानिक में प्रयोग/गतिविधि के अवलोकन व निष्कर्ष न देना एक सोचा-समझा फैसला है। इसके पीछे समझ यह है कि यदि अवलोकन व निष्कर्ष दे दिए जाएँगे तो प्रयोग करने की न तो ज़रूरत रहेगी, न ही उसके लिए उत्साह रहेगा। जैसा कि अन्य पाठ्य पुस्तकों के साथ होता है, प्रयोग पढ़कर ही काम चल जाएगा। दरअसल यह बात बाल वैज्ञानिक को इस तरह के अन्य प्रयासों से एकदम अनूठा बनाती है।

गलत अवलोकन

यह तो हो ही सकता है कि कोई प्रयोग करने के बाद बच्चे गलत अवलोकन ले लें। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि प्रयोग गलत ढंग से किया गया है या प्रयोग सही होने के बावजूद बच्चे सही (अपेक्षित?) अवलोकन रिकॉर्ड नहीं कर पा रहे हैं। ये दोनों ही स्थितियाँ कक्षा में उपस्थित होती हैं।

शासकीय माध्यमिक शाला, जुमेराती की शिक्षिका सरला नाफड़े ने इस बात को लगभग इन शब्दों में व्यक्त किया था, “जब प्रयोग सफल नहीं होता, तो पता नहीं लगता कि अभ्यास पुस्तिका में क्या लिखें। सच ही लिखना चाहिए।” (*अनुवर्तन रिपोर्ट*, पंचापकेसन, 3 जुलाई 1976)

हो.वि.शि.का. पद्धति का तकाज़ा होगा कि उस प्रयोग को दोहराया जाए और “सफल” किया जाए। उदाहरण के लिए, 1973 की एक अनुवर्तन रिपोर्ट देखिए। यह रिपोर्ट शासकीय माध्यमिक शाला, मालाखेड़ी की है (*अनुवर्तन रिपोर्ट*, विजय वर्मा, 1 व 6 नवम्बर 1973)। प्रयोग है एक ब्यूरेट में से गिरने वाले पानी की मात्रा और समय का ग्राफ बनाना:

1 नवम्बर 1973

समय के अध्याय में ब्यूरेट का प्रयोग। वे सब मानकर चल रहे हैं कि समय के बराबर अन्तराल में बराबर पानी गिरता है। वे अपने प्रयोग पर विश्वास करने से इन्कार करते हैं जो दर्शाता है कि ऐसा नहीं होता। जब उन्होंने ब्यूरेट के सुराख से 5-5 सेकण्ड के लिए उँगली हटाकर प्रयोग दोहराया और देखा कि प्रयोग बार-बार करने पर नतीजे एक से आते हैं यानी अवलोकन reproducible हैं, तो कुछ बच्चों के मन में सन्देह पैदा हुआ मगर अभी यह एहसास काफी प्रबल है कि प्रयोग असफल रहा है।

6 नवम्बर 1973

उन्होंने शायद ब्यूरेट वाला प्रयोग नहीं दोहराया है। हमने प्रयोग फिर से सेट किया, फिर से पानी बूँद-बूँद गिरने की व्यवस्था की। पानी का स्तर घटने के साथ पानी का प्रवाह घटता जाता है मगर विद्यार्थी कहते हैं कि ऐसी गड़बड़ कचरे के कारण हो रही है। हमने यह प्रयोग फिर से किया और देखा कि नतीजे पहले से अलग थे – बच्चों को लगा कि वे सही कह रहे थे और खुश हो गए।

हमने कुएँ के पानी को छान लिया और उँगली से स्टॉपर का काम लेते हुए 5-5 सेकण्ड में (ब्यूरेट में) पानी की ऊँचाई नापी। जब उन्होंने देखा कि समय बीतने के साथ ऊँचाई में गिरावट कम होती जाती है तो वे कहने लगे कि कचरा फिर से गड़बड़ कर रहा है। मगर इस बार अवलोकन reproducible थे, इसलिए सबने बारी-बारी से ब्यूरेट खोलने-बन्द करने और घड़ी देखने का काम किया। अन्ततः उन्हें यकीन हो गया कि बराबर समय अन्तराल में बराबर पानी नहीं बहता है और यह कहना बन्द कर दिया कि प्रयोग सफल नहीं हुआ।

लेकिन “लाल वैज्ञानिक” में इस तरह का कोई आग्रह नहीं था। उसमें कई प्रयोगों के बाद निष्कर्ष रूप में बच्चों को समझाया जाता था कि उस प्रयोग या प्रयोगों की ज़ुखला से उन्होंने क्या सीखा है।

यहाँ यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि यदि कक्षा में प्रयोग ठीक से न हुए, अवलोकन “गलत-सलत” आ गए तो आगे की पूरी प्रक्रिया का क्या होगा? यह सवाल एकदम वाजिब है मगर इसे एक समस्या के रूप में नहीं बल्कि एक चुनौती के रूप में देखा गया था। सबसे पहली बात तो यह है कि प्रयोग इतने सरल व सहज हों कि उनमें गलत होने की गुंजाइश बहुत कम हो। इसे यों भी कह सकते हैं कि प्रयोगों में “सहनशीलता” बहुत अधिक होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि यदि अवलोकन ठीक न आ रहे हों तो शिक्षक इसे भी एक शैक्षणिक अवसर के रूप में ले।

दूसरी तरफ, यह स्वीकार करने में कोई हर्ज़ नहीं है कि यदि कक्षा में प्रयोग न हों तो सीखने-सिखाने की पूरी प्रक्रिया खटाई में पड़ जाएगी। बच्चे घर पर *बाल वैज्ञानिक* को पढ़कर काम नहीं चला सकते। इस दृष्टि से देखा जाए तो *बाल वैज्ञानिक* बहुत हद तक शिक्षक की सक्रियता की माँग करती है।

बाल वैज्ञानिक में दिए गए प्रयोगों के बारे में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि ये “सत्यापन प्रयोग” नहीं हैं। यानी इन प्रयोगों का मकसद यह नहीं है कि पहले से ज्ञात किसी नियम या सिद्धान्त की पुष्टि करना है। आम तौर पर हाई स्कूल व कॉलेज के स्तर पर विज्ञान में प्रयोगों का प्रावधान

होता है मगर वहाँ प्रयोग सत्यापन के लिए होते हैं। शिक्षण में उस तरह के प्रयोगों की भूमिका के विश्लेषण में न जाते हुए भी यह बताना ज़रूरी है कि *बाल वैज्ञानिक* में प्रयोगों के आधार पर नियम व सिद्धान्त आदि विकसित करना सीखने का प्रमुख आधार है।

तीसरी बात यह है कि, चन्द अपवादों को छोड़कर, सारे प्रयोग बच्चों द्वारा खुद करने के लिए हैं, शिक्षक द्वारा प्रदर्शन के लिए नहीं।

प्रयोग में तुलना का प्रावधान

खोज पद्धति के बुनियादी मुद्दे जल्दी ही उभरने लगे। उदाहरण के लिए वनस्पतियों के जीवन पर एक सत्र के दौरान किसी शिक्षक ने पूछा, “उर्वरक मिट्टी से पत्तियों तक कैसे पहुँच जाते हैं?” फौरन एक प्रयोग तैयार किया गया। एक टहनी काटकर लाल स्याही के घोल में रख दी गई। आधे घण्टे बाद पत्ती की शिराएँ लाल हो चुकी थीं, निष्कर्ष ज़ाहिर था। मगर एक शिक्षक ने शंका ज़ाहिर की, “हम पक्का कैसे कह सकते हैं? हो सकता है कि शिराएँ इसलिए लाल हो गई हैं क्योंकि हमने टहनी को काट दिया है। मैंने देखा है कि काटने पर सेब कथई हो जाते हैं।”

हालाँकि हमें यह सवाल काफी मामूली लगा मगर इसे अनदेखा भी नहीं किया जा सकता था। ऐसे सवाल ही तो खोज पद्धति की रीढ़ हैं जिनसे आगे प्रयोग करने के लिए कड़ियाँ बनती हैं। गर्मागरम बहस शुरू हो गई। तय किया गया कि इस प्रयोग में एक और टहनी होनी चाहिए जिसे सादे पानी में रखा जाए। “तुलना के प्रावधान” यानी control की अवधारणा का जन्म हो चुका था। (साइंस टुडे, दिसम्बर 1977, में प्रकाशित लेख में एक शिक्षक शिविर का विवरण)

“साँप बीन की धुन पर नाचता है।” इस कथन की सत्यता पर सन्देह का कोई कारण नहीं है क्योंकि हर साल नाग पंचमी के दिन साँपेरे साँप लेकर आते हैं, बीन बजाते हैं और साँप नाचता है। इस तरह के कई अवलोकन हैं जिनसे बहुत “आसानी” से निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। मगर यह “आसानी” एक छलावा होती है। चाहे मानव जीवन पर ग्रहों का असर हो, दवाइयों के असर हों, झाड़-फूँक का असर हो, हर मामले में दिखता तो यही

जश्न-ए-तालीम

है कि अमुक क्रिया करने पर फलौं असर हुआ। मगर इसके आधार पर निष्कर्ष यह निकाला जाता है कि अमुक क्रिया करने के कारण फलौं असर हुआ। वास्तव में इस तरह के मामलों में कई सम्भावनाएँ होती हैं। जैसे हो सकता है कि ये दोनों बातें किसी तीसरे कारण की वजह से हमेशा साथ-साथ होती हैं। या यह भी हो सकता है कि संयोगवश ये साथ-साथ हुई हों। और यह भी हो सकता है कि इनके बीच कार्य-कारण का सम्बन्ध हो। आधुनिक विज्ञान में प्रयोग करना जानकारी प्राप्त करने, कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित करने और प्रमाण का एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रमाण और कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयोग का उपयोग करते हुए कई बातों का ध्यान रखना होता है। कई मर्तबा ऐसा होता है कि एक ही प्रयोग में एक से अधिक कारक काम करते हैं और निष्कर्ष निकालने में दिक्कत होती है। इस तरह के भ्रम से बचने के लिए विज्ञान के प्रयोगों में “कण्ट्रोल” की अवधारणा विकसित हुई है।

कण्ट्रोलशुदा प्रयोग का मतलब यह होता है कि आप एक ही प्रयोग की उन सारी बातों को पहचानें जिन्हें बदलने पर कोई प्रभाव नज़र आता है और फिर इन्हें एक-एक करके बदलकर देखें। यानी एक कारक को बदलते हुए शेष सारे कारक नहीं बदलना चाहिए। मगर ऐसा करना हमेशा सम्भव नहीं होता। इसलिए तरीका यह अपनाया जाता है कि एक ही प्रयोग को एक साथ दो ढंग से किया जाए। दोनों में शेष समस्त बातें एक-सी हों, सिर्फ कोई एक चीज़ असमान हो। इन्हें हम तुलना के प्रावधान-युक्त प्रयोग या कण्ट्रोलशुदा प्रयोग कहते हैं।

बाल वैज्ञानिक में ऐसे प्रयोगों को खास महत्व दिया गया है। कक्षा 6-8 में कम से कम आठ ऐसे प्रयोग विशेष तौर पर शामिल किए गए हैं और ऐसे सवाल पूछे गए हैं जिनसे बच्चे इन प्रयोगों में तुलना के महत्व को स्पष्ट तौर पर देख पाएँ। विज्ञान के किसी भी पाठ्यक्रम में ऐसे प्रयोगों का समावेश ज़रूरी है क्योंकि आम तौर पर दैनिक जीवन में हम लोग अपने अवलोकनों के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं और इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि उनमें तुलना का कोई प्रावधान नहीं था। साँप और बीन का मामला इसका एक उदाहरण है।

बाल वैज्ञानिक (1978 संस्करण) के ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं:

कक्षा	अध्याय	प्रयोग
6	भोजन और पाचन क्रिया	<ul style="list-style-type: none"> • मण्ड पर लार का प्रभाव • पौधों में पानी के साथ खनिज पदार्थों का ऊपर चढ़ना
6	संवेदनशीलता	<ul style="list-style-type: none"> • पौधों में प्रकाश के प्रति संवेदनशीलता • पौधों में गुरुत्व के प्रति संवेदनशीलता
7	जल – मृदु और कठोर	<ul style="list-style-type: none"> • विभिन्न लवणों का कठोरता पर प्रभाव
7	वृद्धि	<ul style="list-style-type: none"> • वृद्धि में बीजपत्रों की भूमिका
7	पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश	<ul style="list-style-type: none"> • मण्ड के निर्माण में प्रकाश की भूमिका
7	श्वसन	<ul style="list-style-type: none"> • साँस की हवा के गुणधर्म
8	जन्तुओं का जीवन चक्र	<ul style="list-style-type: none"> • स्वतः जनन की अवधारणा की जाँच
8	पौधों में प्रजनन	<ul style="list-style-type: none"> • प्रजनन में नर की भूमिका

जश्न-ए-तालीम

एक रोचक बात यह है इस तरह के प्रयोग ज़्यादातर जीव विज्ञान के अध्यायों में हैं। शायद इसलिए कि जीव विज्ञान में चीज़ों की खोजबीन कहीं अधिक पेचीदा मसला होता है और कारकों का घालमेल ज़्यादा होता है।

पुस्तक में कई जगहों पर बच्चों का ध्यान इस बात पर दिलाया गया है कि एक ही प्रयोग में एक से अधिक बातों का प्रभाव होता है और निष्कर्ष निकालते समय इस चीज़ पर ध्यान देना ज़रूरी है। *बाल वैज्ञानिक* में कई प्रयोग ऐसे हैं जिनमें बच्चों को प्रेरित किया जाता है कि वे जिस परिकल्पना की जाँच कर रहे हैं उस पर प्रभाव डालने वाले अन्य कारकों को नियंत्रित करें। इनमें स्पष्ट रूप से तुलना का प्रावधान एक अन्य प्रयोग के माध्यम से तो नहीं किया जाता मगर एक ही प्रयोग में परिस्थितियों को इस तरह नियंत्रित किया जाता है कि हम एक कारक का असर देख सकें। उदाहरण के लिए, *बाल वैज्ञानिक* कक्षा 6 के तीसरे संस्करण (2000) के अध्याय “संवेदनशीलता यानी आसपास की खोज खबर” में एक प्रयोग है जिसमें आवाज़ की दिशा पता करने में कानों की भूमिका पता करने की कोशिश की जाती है। प्रयोग यह है:

एक छात्र को कक्षा के बीचों बीच बैठा कर उसकी आँख पर पट्टी बाँध दो।

अब चार छात्र उसके चारों ओर थोड़ी दूरी पर खड़े हो जाएँ। एक छात्र उसके ठीक सामने, एक ठीक पीछे, एक दाईं तथा एक बाईं ओर। अब बारी-बारी से ये छात्र ताली बजाएँगे और बीच में बैठे, आँख पर पट्टी बाँधे छात्र को हाथ के इशारे से बताना है कि आवाज़ किधर से आई।

रानी पिपरिया (तहसील सोहागपुर) की शासकीय माध्यमिक शाला में जब यह प्रयोग किया गया तो छात्रों ने पहचाना कि बीच में बैठा छात्र दाएँ-बाएँ से आवाज़ की दिशा तो सही बता देता है मगर आगे-पीछे और ऊपर से आई आवाज़ की दिशा में गलतियाँ करता है। जब उनसे पूछा गया कि प्रयोग तो सुनने से सम्बन्धित है, फिर आँखों पर पट्टी क्यों बाँधी है, तो उन्होंने उत्साह से बताया कि यदि पट्टी नहीं बाँधेंगे तो वह देखकर भी बता सकता है।

बाल वैज्ञानिक में ऐसे कई प्रयोग हैं जो बच्चों में यह तर्क क्षमता पैदा करने का अवसर प्रदान करते हैं। कुछ जगहों पर बच्चों से ऐसे प्रयोग डिज़ाइन करने को भी कहा गया है।

कक्षा 7 (तृतीय संस्करण, 2001) के एक अध्याय में इसी तरह का एक और उदाहरण है, जिसमें प्रयोग न करके बच्चे कहीं अन्यत्र किए गए प्रयोगों के अवलोकनों का विश्लेषण इस नज़रिए से करते हैं:

साँपों की संवेदनशीलता के बारे में एक वैज्ञानिक ने नाग के साथ प्रयोग किए थे।

इस प्रयोग में उसके निम्नलिखित अवलोकन आए:

क – उसने नाग की आँख पर पट्टी चिपकाकर कमरे में बीन बजाई। बीन का नाग पर कोई असर नहीं हुआ।

ख – फिर उसने कमरे में ज़मीन पर रखी कुर्सी को घसीटा तो नाग ने फन उठा लिया।

ग – नाग की आँखों पर से पट्टी हटाकर बिना आवाज़ वाली बीन उसके फन के सामने हिलाई तो नाग भी उसके साथ डोलने लगा।

घ – उसने यही प्रयोग बीन की जगह डण्डा लेकर किया तो भी नाग डोलने लगा।

इस प्रयोग के आधार पर निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो:

क्या नाग बीन सुनकर नाचता है?

नाग को कुर्सी खिसकाए जाने का पता कैसे चला होगा?

जानकारी के अन्य स्रोत

सीखने को पाठ्य पुस्तक तक सीमित न रखने के कई प्रयास बाल वैज्ञानिक में नज़र आते हैं। जैसे कई अध्यायों, खासकर जीव विज्ञान के अध्यायों में परिभ्रमण व सर्वेक्षण को काफी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परिभ्रमण के उद्देश्यों में काफी विविधता है। कहीं इनका उद्देश्य मात्र सामग्री एकत्रित करना है, तो कहीं वास्तविक परिस्थिति में पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं का अध्ययन करना भी है। कुछ परिभ्रमण ऐसे भी हैं जिनमें वास्तविक परिस्थिति

जश्न-ए-तालीम

में प्रयोग करने की अपेक्षा है।

जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों में सर्वेक्षणों का प्रावधान भी है। इनमें बच्चों में कुपोषण की स्थिति का सर्वेक्षण, फसलों तथा फसलों को हानि पहुँचाने वाले कारकों का सर्वेक्षण वगैरह शामिल हैं। इसके अलावा कुछ अध्यायों में यह भी अपेक्षा है कि सम्बन्धित विषय पर चर्चा के लिए किसी विशेषज्ञ (जैसे पशु चिकित्सक या कृषि विस्तार अधिकारी) से सम्पर्क किया जाएगा या उन्हें कक्षा में बुलाकर चर्चा की जाएगी।

परिभ्रमण

पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम में स्कूल से बाहर जाकर अध्ययन करना एक महत्वपूर्ण घटक होगा ही। खास तौर से मिट्टी, पानी, फूल-पत्ती, फसलें, कीड़े-मकोड़े वगैरह का अध्ययन तो खुले आसमान के नीचे ही होना चाहिए।

होशंगाबाद विज्ञान में परिभ्रमण को काफी महत्व दिया गया था। जहाँ भी सम्भव हुआ बच्चों से कक्षा से बाहर जाकर चीजों का अध्ययन करने या चीजें इकट्ठी करके लाने को कहा गया है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि परिभ्रमण वास्तव में हों, इसके लिए हरेक परिभ्रमण में क्या करना है, इसकी विस्तृत योजना दी गई है। सिर्फ इतना कहकर काम नहीं चलाया गया है कि “यदि तुम अपने आसपास देखो तो...”

कई अध्यायों में तो पूरा अध्ययन ही परिभ्रमण आधारित है। जैसे “मिट्टी, पत्थर और चट्टानें”, “फूल और फल”, “पत्तियों का समूहीकरण”, “पौधों में प्रजनन”, “जन्तुओं की दुनिया”, “हमारी फसलें और उनका समूहीकरण”, “मिट्टी” वगैरह। इसके अलावा “जल – मृदु व कठोर”, “भोजन व पाचन क्रिया” जैसे अध्यायों के लिए सामग्री सीधे बच्चों के परिवेश से ली जाती है।

इस हिस्से की सफलता काफी हद तक इस बात पर निर्भर है कि स्वयं शिक्षक इन चीजों के कितने जानकार हैं। खेतों में पहुँचकर कीड़े-मकोड़ों,

जश्न-ए-तालीम

था जो सबसे पहले कुर्बान हुआ था। अधिकांश स्कूलों में परिभ्रमण नहीं हो रहे थे, और जहाँ हो रहे थे वहाँ भी इनका स्वरूप प्रायः सामग्री इकट्ठा करने तक सीमित हो गया था। इसमें समय व प्रबन्धन की दिक्कतों की भूमिका ज़रूर रही होगी मगर शायद इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि आम शिक्षकों में परिभ्रमण के शैक्षिक मूल्य को लेकर बहुत उत्साह नहीं था। पाठ्य पुस्तक आधारित शिक्षण के अभ्यस्त समाज में इसकी उम्मीद भी करना ज़्यादाती है। वैसे भी परीक्षा पूरे पाठ्यक्रम पर हावी रहती है। परिभ्रमण एक ऐसी चीज़ थी जिससे परीक्षा परिणाम पर कोई असर नहीं पड़ता था।

देखा जाए तो हो.वि.शि.का. समूह ने इस बात को एक तरह से स्वीकार कर लिया था। इसलिए पहले और दूसरे संशोधन के समय *बाल वैज्ञानिक* में परिभ्रमण का स्वरूप भी बदला।

परिभ्रमण में एक तो इस बात को स्वीकार किया गया कि यदि सिर्फ सामग्री एकत्रित करने के लिए परिभ्रमण करवाना है तो बेहतर यह है कि छात्रों को घर से स्कूल आते समय यह करने को कह दिया जाए। जहाँ परिभ्रमण रखे जाएँ, वहाँ मैदानी परिस्थिति में कुछ अवलोकन, कुछ गतिविधि करने का काम ज़रूर हो। जैसे पत्तियों से सम्बन्धित परिभ्रमण में यह जोड़ा गया कि छात्र पेड़-पौधों पर पत्तियों की जमावट देखें व उनके चित्र बनाएँ। इस तरह से परिभ्रमण को ज़्यादा सार्थक बनाने का प्रयास किया गया। दूसरी ओर कई अध्यायों के स्वरूप बदल जाने के कारण परिभ्रमण के दौरान किए जाने वाले प्रयोगों का कोई स्थान नहीं रहा, जबकि उसी समय कुछ अन्य अध्यायों में ऐसे मैदानी प्रयोग जोड़े गए।

सवाल-दर-सवाल

हर प्रयोग के बाद प्रश्न दिए गए हैं। ये प्रश्न मूलतः दो प्रकार के हैं। एक हैं वे प्रश्न जो बच्चों का ध्यान अवलोकन पर केन्द्रित करवाने के लिए हैं। इनमें अपेक्षा यह है कि वे अपने अवलोकनों को व्यवस्थित ढंग से लिखेंगे। कहीं-कहीं अवलोकन रिकॉर्ड करवाने के लिए तालिकाओं का उपयोग भी किया गया। इन प्रश्नों के साथ एक दिक्कत रही जिसे कुछ हद तक तीसरे

संस्करण में सम्बोधित किया गया।

दिक्कत यह थी कि प्रत्येक प्रयोग से सम्बन्धित प्रश्न प्रयोग के बाद आते थे। यानी प्रयोग करते समय बच्चों को यह पता नहीं होता था कि उसमें किस चीज़ का अवलोकन करना है। ज़ाहिर है, हरेक प्रयोग में कई बातें होती हैं। बच्चों को यह बिलकुल अन्दाज़ नहीं होता था कि वे यह प्रयोग कर क्यों रहे हैं। अक्सर *बाल वैज्ञानिक* के प्रथम संस्करण में प्रयोगों की कोई भूमिका भी नहीं बनाई जाती थी। यहाँ तक कि पिछले प्रयोग से उसका क्या सम्बन्ध है यह तक स्पष्ट नहीं किया जाता था। इसलिए प्रयोग करने से पहले बच्चों की कोई अपेक्षा नहीं होती थी, किस खास चीज़ पर ध्यान देना है यह साफ नहीं होता था। प्रथम संस्करण में ऐसा करने का कारण शायद यह समझ रही कि थोड़ा-सा भी अन्दाज़ देने की कोशिश की गई तो प्रयोग बेमानी हो जाएगा। मगर ज़्यादा सम्भव कारण यह लगता है कि शिक्षक से यह अपेक्षा की गई थी कि वह कक्षा में वार्तालाप के ज़रिए एक भूमिका बनाने का काम करेगा। इस तरह के प्रस्तुतीकरण में अपेक्षा यह होती है कि बच्चे और शिक्षक प्रयोग शुरू करने से पहले सम्बन्धित हिस्से को पूरा पढ़ लें।

कारण जो भी रहा हो, मगर शायद इसी वजह से *बाल वैज्ञानिक* पर एक आरोप यह लगा था कि वह बहुत रूखी है। इस दृष्टि से तीसरे संस्करण में कई परिवर्तन किए गए और इन परिवर्तनों की बदौलत प्रयोग ज़्यादा सार्थक हो पाए थे (हालाँकि तीसरा संस्करण पूरा होते-होते ही कार्यक्रम बन्द होने के कारण उस पर पूरा फीडबैक उपलब्ध नहीं है)। तीसरे संस्करण के अध्यायों में कई जगह बच्चों को आगामी प्रयोग के अवलोकन का अन्दाज़ लगाने को भी कहा गया है, जिससे परिकल्पना निर्माण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

प्रश्नों के सन्दर्भ में एक दिक्कत और भी है। *बाल वैज्ञानिक* से एक शिकायत यह रही है कि इसमें प्रश्न बहुत ज़्यादा हैं। मगर यदि बच्चों को प्रश्नों के माध्यम से कदम-दर-कदम किसी सिद्धान्त तक पहुँचाना है तो प्रश्न क्रमबद्ध ढंग से आएँगे। दरअसल प्रश्नों की बौछार के पीछे यह प्रमुख कारण लगता है। लेकिन प्रयोगों के बाद पूछे गए प्रश्नों में इस बात का कोई भेद नहीं है

जश्न-ए-तालीम

कि कौन-से प्रश्न मात्र अवलोकन को सामने लाने के लिए हैं, कौन-से आपसी चर्चा करके उत्तर निकालने के लिए हैं, और कौन-से वे प्रश्न हैं जिनके जवाब से उस प्रयोग की खोज का निष्कर्ष व्यक्त किया जाता है। इन सारे प्रश्नों को बराबर महत्व मिला है। या यों कहें कि इनके बीच कोई भेद नहीं किया गया है।

उम्मीद यह की जाती है कि शिक्षक सारे बच्चों के अवलोकन देखकर यह सुनिश्चित कर लेंगे कि सबके “सही” अवलोकन आ गए हैं। यदि ऐसा नहीं है तो चर्चा के माध्यम से यह समझने की कोशिश होगी कि प्रयोग करने में कोई खामी तो नहीं रह गई। बच्चों द्वारा खुद प्रयोग करने में इसकी सम्भावना रहती है। मगर जब कक्षा में दस टोलियाँ प्रयोग कर रही हैं तो इस बात की प्रबल सम्भावना है कि कुछ टोलियों के प्रयोग “सही” होंगे और विविधता के आधार पर आपको यह मौका मिल जाएगा कि विश्लेषण करके प्रयोग दोहराने की बात कर पाएँ। आदर्श रूप में यही अपेक्षा की जाती है। पर यह नाजुक मसला है क्योंकि इसमें निहित है कि सम्बन्धित प्रयोग का एक “सही” अवलोकन है जो शिक्षक को मालूम है। इस स्थिति का उचित ढंग से संचालन करने में शिक्षक को काफी चतुराई से आगे बढ़ना पड़ेगा।

अवलोकन रिकॉर्ड हो जाने के बाद दूसरे प्रकार के प्रश्नों का सेट आता है, हालाँकि किताब में इन दो प्रकार के प्रश्नों को अलग-अलग चिन्हित नहीं किया गया है। दूसरे प्रकार के प्रश्न वे हैं जिनमें अवलोकनों का विश्लेषण किया जाता है। यहाँ अपेक्षा यह है कि बच्चे टोलियों में और सामूहिक रूप से अवलोकनों की व्याख्या करेंगे। इसके लिए वे अपने पूर्व अनुभवों का उपयोग भी करेंगे और प्रयोग के अवलोकनों का भी। आदर्श रूप में प्रत्येक बच्चे को मौका मिलेगा कि वह अपनी परिकल्पना या व्याख्या प्रस्तुत करे, अन्य बच्चों द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं पर सवाल खड़े करे, उन्हें समझने की कोशिश करे। इस पूरी चर्चा व बहस में शिक्षक की भूमिका बहुत सक्रिय व महत्वपूर्ण होती है। उससे यह उम्मीद नहीं है कि “सही व्याख्या” बता दे। उम्मीद यह है कि वह बच्चों द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं पर आपसी चर्चा में मदद करे, सवाल पूछकर उन्हें अपनी बात स्पष्ट करने में मदद करे, अन्य अनुभवों की कसौटी पर उनकी व्याख्याओं को परखे और ज़रूरी हो तो

विभिन्न व्याख्याओं को परखने के लिए पूरक प्रयोग करवाए। यह प्रक्रिया उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना सही व्याख्या तक पहुँचना।

बच्चों की कॉपियाँ देखकर एक बात और उजागर होती है। आम तौर पर बच्चे *बाल वैज्ञानिक* में दिए गए प्रश्न व उनके उत्तर लिख लेते थे या वे उन्हें लिखवा दिए जाते थे। इनमें उस प्रक्रिया का ज़िक्र नहीं होता था जिसके माध्यम से ये उत्तर प्राप्त हुए थे। यह कहना मुश्किल है कि कुछ दिनों बाद इन प्रश्नोत्तरों को पढ़ने से क्या मिलता होगा।

मॉडल का निर्माण या विकास

विज्ञान में चीज़ों को समझने के लिए उनके मॉडल बनाना एक महत्वपूर्ण गतिविधि है। ये मॉडल ठोस चीज़ें भी हो सकती हैं और मानसिक मॉडल भी। दरअसल विज्ञान में सारी समझ का विकास यथार्थ के मॉडलों के ज़रिए ही होता है, चाहे हमें सौर मण्डल को समझना हो या अणु और परमाणु को।

बाल वैज्ञानिक में बच्चों को इस गतिविधि से परिचित कराने के कई प्रयास किए गए हैं। प्रथम संस्करण में तो इसका पुट बहुत ज़्यादा था मगर बाद के संस्करणों में कम होता गया।

प्रथम संस्करण (1978-80) को देखें विशेष कोशिश की गई थी:	तो निम्नलिखित अध्यायों में इसकी
अध्याय मिट्टी, पत्थर और चट्टानें (कक्षा 6) सूक्ष्मदर्शी में से जीवजगत (कक्षा 8) विद्युत – 3 (कक्षा 8) आकाश की ओर – 2 (कक्षा 8)	मॉडल का विषय ईंट-भट्टे के आधार पर समझना कि चट्टानें कैसे बनती हैं। विभिन्न मॉडलों के आधार पर कोशिका की त्रि-आयामी रचना को समझना। दाहिने हाथ का नियम समझने के लिए विद्युत नट। आकाश में सूर्य और चन्द्रमा की गति, चाँद की कलाओं, चन्द्र व सूर्य ग्रहण तथा सूर्य केन्द्रित सौर मण्डल को समझने के लिए।

जश्न-ए-तालीम

शरीर के आन्तरिक अंग – 2 (कक्षा 8) शरीर के अंगों की जमावट का एहसास बनाने के लिए।

आम तौर पर पाठ्य पुस्तकों में विच्छेदित शरीर के चित्र को देखकर यह समझ में नहीं आता कि शरीर में ये अंग किस तरह जमे हुए हैं। यह भी पता नहीं चलता कि कई अंग एक-दूसरे के ऊपर होते हैं। इस समस्या का एक समाधान तो यह निकाला गया था कि प्रत्येक स्कूल को किट में दो-दो विच्छेदित चूहे दिए गए थे। बच्चों को इनके अवलोकन से शरीर की आन्तरिक बनावट समझने में काफी मदद मिलती थी। सम्भवतः यह पहली बार ही था कि माध्यमिक स्कूल के बच्चों के लिए इस तरह की व्यवस्था की गई थी। अधिकांश शिक्षकों ने भी शायद पहली बार ही आन्तरिक अंगों का प्रत्यक्ष अवलोकन किया होगा। इस अवलोकन के बाद बच्चों से कागज़ का एक मॉडल बनवाया जाता था। इसमें मानव शरीर का एक खाका है और विभिन्न अंगों की रेखाकृतियाँ हैं। इन रेखाचित्रों को काटकर सही जगह पर लगाना होता था। क्रम से ऐसा करने पर ये अंग मानव शरीर के खाके में ठीक उस तरह जम जाते थे जैसे वे वास्तव में जमे होते हैं। यह सबसे लोकप्रिय गतिविधियों में से एक थी। इस गतिविधि को चार्ट रूप में शिक्षण साधन का स्वरूप भी दिया गया है।

कई मॉडल मानसिक बिम्ब का निर्माण करने के लिए थे। ये बच्चों को काफी सोचने को मजबूर करते थे और अधिकांश शिक्षकों का मत था कि ये काफी मुश्किल हैं। जैसे कोशिका का मॉडल। इस मॉडल का प्रमुख मकसद यह था कि बच्चे समझ पाएँ कि कोशिकाएँ चपटी नहीं होतीं हालाँकि सूक्ष्मदर्शी में से वे चपटी ही दिखाई देती हैं। इसमें आड़ी व खड़ी कटानों की अवधारणा समझाने की कोशिश भी की गई थी। बच्चों से कल्पना करने को कहा जाता है कि विभिन्न चीज़ों को आड़ा और खड़ा काटने पर वे कैसी दिखाई देंगी और इसके आधार पर उन्हें यह चित्र निर्मित करने को कहा जाता है कि मूल चीज़ कैसी होगी।

इसी प्रकार से “आकाश की ओर” अध्याय के मॉडल भी थे। मगर ये मॉडल कहीं अधिक अमूर्त थे। इस अध्याय में बच्चे प्रयोग करके आकाश में चाँद और सूरज के रास्तों का चित्रण करते हैं। इसके बाद वे तारों के पथ का

चित्रण भी करते हैं। फिर इन मार्गों को देखकर तर्क के आधार पर यह समझने की कोशिश करते हैं कि ये सब चीज़ें पृथ्वी के आसपास घूमें या पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमें, अवलोकन एक से आएँगे। इसके बाद उनसे यह सोचने को कहा जाता है कि इनमें से किस बात को मानना बेहतर होगा। इसके अलावा ग्रहण को समझने और चाँद की कलाओं को समझने के लिए भी मॉडल बनवाए जाते थे।

खास तौर से आकाश और सूक्ष्मदर्शी से सम्बन्धित मॉडल बच्चों के लिए काफी मुश्किल साबित हुए थे। इस दिक्कत का सम्बन्ध बहुत विशाल और बहुत सूक्ष्म चीज़ों की कल्पना करने की दिक्कत से भी हो सकता है।

लेकिन दूसरे संस्करण में मॉडल की मदद से सीखने-समझने की बात लगभग नदारद हो गई। शरीर के आन्तरिक अंगों वाला मॉडल रहा, चन्द्रमा की कलाओं वाला मॉडल रहा, मगर सीखने की यह पद्धति लगभग नगण्य रह गई। ऐसा शायद जानबूझकर नहीं हुआ, मगर जब मुश्किल हिस्सों की बात चली तो मॉडल निर्माण से सीखने (खासकर दिमागी मॉडलों से सीखने) की विधा पर सबसे पहले कैंची चली। शायद ज़रूरत इस बात की थी कि मॉडल निर्माण के ज़रिए सीखने की प्रक्रिया को एक चुनौती के रूप में लिया जाता और कुछ नए व सरल मॉडलों को पाठ्यक्रम में शामिल किया जाता।

हाथों का कौशल

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों में कई जगह बच्चों से चीज़ें बनाने को कहा गया है। खास तौर से प्रयोग में उपयोग करने के लिए उपकरण बनाना अध्यायों का एक प्रमुख अंग है। कुछ अध्यायों में तो चीज़ें बनाना अध्याय का केन्द्रीय हिस्सा है। जैसे, “कुछ खेल खिलवाड़” (कक्षा 6), “एक मजेदार खेल” (कक्षा 7), “मशीनें” (कक्षा 8) इत्यादि अध्यायों में। इसके अलावा कई अध्यायों में बच्चों से प्रयोगों के लिए उपकरण बनाने का आग्रह किया गया है। जैसे “तराजू का सिद्धान्त” में बच्चे खुद एक तराजू बनाकर प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार से “दूरी नापना” में पैमाना बनाना, “आयतन” में नपनाघट

बनाना, “संवेदनशीलता” में पौधों की प्रकाश के प्रति संवेदनशीलता परखने के लिए काले कागज़ का डिब्बा बनाना, पत्तियाँ एकत्रित करने के लिए लिफाफे बनाना वगैरह। कुछ अन्य अध्यायों में सीखे गए सिद्धान्तों को जीवन्त करने के लिए नाना प्रकार की चीज़ें बनाने को कहा गया है। जैसे “प्रकाश” में पिन होल कैमरा, पेरिस्कोप, कैलाइडोस्कोप, दूरदर्शी, सूक्ष्मदर्शी; “हवा” में हैण्डपम्प; “विद्युत – 3” में विद्युत मोटर; “चीज़ें क्यों तैरती हैं” में लैक्टोमीटर वगैरह। और इन सारी चीज़ों के बनाने के निर्देश अत्यन्त विस्तार में दिए गए थे तथा किट में व्यवस्था थी कि बच्चे वास्तव में इन्हें बना सकें।

अब हम *बाल वैज्ञानिक* पाठ्यक्रम के दो पक्षों की बात करेंगे जिनका ज़िक्र पाठ्यक्रम के किसी वक्तव्य में नहीं हुआ है मगर अध्यायों में ये अनन्य ढंग से गुंथे हुए हैं। ये हैं टोलियों में काम करना और कक्षा में खुली विचार प्रक्रिया या आपस में मिलकर निर्णय करना।

टोलियाँ, यानी सीखना मिलकर होता है

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों को देखने से एक बात काफी ज़ोरदार ढंग से उभरकर आती है। वो यह कि हो.वि.शि.का. में सीखने को एक निजी नहीं बल्कि सामूहिक कार्य माना गया है। आम तौर पर पाठ्य पुस्तकें इस ढंग से लिखी जाती हैं कि बच्चा उन्हें अकेले बैठकर पढ़ ले और सब कुछ सीख ले। इससे भी बढ़कर अध्ययन के लिए एक ऐसे माहौल को काफी महत्व दिया जाता है जहाँ शान्ति हो और आप अकेले बैठकर, एकाग्रचित्त होकर पुस्तक पर ध्यान केन्द्रित करें। *बाल वैज्ञानिक* इससे बिलकुल उलटी प्रक्रिया को बढ़ावा देती है।

इसका सबसे स्पष्ट एहसास होता है “टोली” के रूप में। *बाल वैज्ञानिक* में सवालीराम की चिट्ठी में सीखने की प्रक्रिया को लेकर बच्चों के साथ एक संवाद बनाने की कोशिश है। बाकी बातों के अलावा इसमें बच्चों को यह भी बताया जाता है: “तुम प्रयोग चार-चार की टोलियों में करोगे। अपनी टोली के साथी चुन लो!” शिक्षकों से उम्मीद है कि वे साल के शुरू में ही अपनी कक्षा में 4-4 बच्चों की टोलियाँ बनवा देंगे। दरअसल किसी कक्षा में कितनी किट



सामग्री लगेगी, इसकी गणना यह मानकर ही की जाती है कि बच्चे सारा काम टोलियों में करेंगे।

टोलियों में काम करने की बदौलत प्रति कक्षा किट सामग्री की कीमत बहुत कम हो जाती है। मगर टोलियों में काम करने के कई महत्वपूर्ण शैक्षिक परिणाम भी होते हैं। इसका एक असर यह होता है कि कक्षा की बनावट और वहाँ होने वाले कामकाज का स्वरूप ही बदल जाता है। जहाँ एक आम कक्षा में सारे छात्र कतारों में शिक्षक की ओर मुँह करके बैठते हैं, वहीं हो.वि.शि.का. की कक्षा में चार-चार विद्यार्थी घेरे बनाकर बैठे होते हैं। हरेक टोली के बीच में किट सामग्री या अन्य अध्ययन सामग्री रखी होती है और वे अपने काम में, आपसी बातचीत में मशगूल होते हैं। वास्तव में हो.वि.शि.का. की कक्षा में बच्चों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए शिक्षक को काफी प्रयास करना पड़ता है। टोलियाँ प्रयोग करते हुए काफी शोरगुल भी करती हैं और सामग्री लाने या अन्य टोलियों के प्रयोग देखने के लिए भाग-दौड़ भी चलती रहती है। इस कारण से होशंगाबाद विज्ञान पर अनुशासनहीनता को बढ़ावा देने का आरोप भी लगता रहता था। खास तौर से हाई व हायर सेकण्डरी स्कूलों से आने वाले अनुवर्तनकर्ता इसे लेकर खासा परेशान होते थे। कई बार उसी स्कूल के अन्य शिक्षक शिकायत करते थे कि “बाल विज्ञान” की क्लास में बहुत हल्ला होता है।

जश्न-ए-तालीम

एक रोचक तथ्य यह है कि कार्यक्रम बन्द होने के बाद जब पूर्व छात्रों से पूछा गया कि उन्हें हो.वि.शि.का. की कौन-सी बातें याद हैं, तो कई छात्रों ने टोली में काम करने का जिक्र किया था। शिक्षकों को भी टोली में काम करने की व्यवस्था बहुत रास आती थी। अधिकांश शिक्षकों व छात्रों ने माना कि टोली में काम करना एक अनोखा प्रयोग था। खास तौर से छात्रों को याद था कि टोली में काम करते हुए वे एक-दूसरे से सीखते थे और पूरी कक्षा के साथ मिलकर निष्कर्ष निकालते थे। पूर्व छात्रों ने याद किया कि इससे उनकी मित्रताएँ ज़्यादा सार्थक बन पाई थीं। दूसरी ओर शिक्षकों ने माना कि टोली में काम करते हुए स्वयं उन्हें भी साथी शिक्षकों के साथ ज़्यादा सार्थक शैक्षणिक सम्बन्ध बनाने में मदद मिली। कार्यक्रम से जुड़ी एक शिक्षिका सुनीला मसीह ने टोलियों में अध्यापन कार्य को लेकर राष्ट्रीय विज्ञान शिक्षक सम्मेलन (2002) में एक पर्चा प्रस्तुत किया था। उसमें उन्होंने बताया था कि टोली में काम करने से “अनेक छात्राओं के बीच वाद-विवाद, आपसी संवाद, तर्क-वितर्क होने से विषय की पकड़ बनाने का अवसर मिलता है। सही निर्णय लेने के लिए कई दिमाग लगते हैं।” इसके अलावा उन्होंने यह भी पाया था कि इससे “शिक्षिका के लगातार बोलने की आदत पर विराम लगता है और छात्राएँ एक-दूसरे के अनुभव से सीख पाती हैं।”

किसी भी अच्छी कक्षा में कई बार शिक्षक को ढूँढना भी मुश्किल होता था। शिक्षक अपनी पारम्परिक जगह (यानी ब्लैकबोर्ड के पास की कुर्सी) पर अक्सर नहीं होते थे। वे टोली-टोली में जाकर बच्चों की मदद करते रहते थे। हो.वि.शि.का. की कक्षा में सबसे अच्छी बात यह होती थी कि यहाँ बच्चे आवाज़ देकर शिक्षक को अपने पास बुला सकते थे और बुलाते भी थे – कभी प्रयोग का परिणाम दिखाने के लिए, तो कभी प्रयोग में आ रही किसी दिक्कत को सुलझाने के लिए।

एक तरह से देखा जाए तो टोलियों में काम करने की वजह से बच्चे काफी स्वायत्त हो जाते हैं और कक्षा के “गुप्त सत्ता समीकरण” में नया सन्तुलन स्थापित होता है। यह परिवर्तन आंशिक ही सही मगर मामूली नहीं है।

टोली में काम करना सीखने में सामूहिकता का एक घटक है। यह प्रवृत्ति *बाल*

वैज्ञानिक में हर जगह झलकती है। बार-बार बच्चों से आपस में चर्चा करने, दूसरे के अवलोकनों से अपने अवलोकन की तुलना करने को और जानकारी का आदान-प्रदान करने को कहा जाता है।

वैसे तो *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों में प्रयोगों के बाद जो सवाल दिए गए हैं उनमें यह अपेक्षा कदापि नहीं है कि प्रत्येक बच्चा चुपचाप इनके जवाब लिखता जाएगा। यह सही है कि प्रयोगों के अवलोकन बच्चे अपनी-अपनी टोलियों में लिखेंगे। मगर जब व्याख्या की बात आती है तो आदर्श रूप में शिक्षक को सभी बच्चों से अपनी-अपनी व्याख्या कारण सहित प्रस्तुत करने का आग्रह करना चाहिए। अन्य बच्चों को इन व्याख्याओं पर अपने मत व्यक्त करने चाहिए। शिक्षक ज़रूरी समझे तो इन व्याख्याओं पर सवाल उठाकर चर्चा को आगे बढ़ा सकता है। संक्षेप में, निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया एक सामूहिक प्रक्रिया है और अन्त में प्राप्त निष्कर्ष एक साझा निष्कर्ष है।

इस तरह *बाल वैज्ञानिक* में यह एक सामान्य प्रक्रिया है। मगर फिर भी कई जगह विशेष रूप से कहा गया है कि किसी सवाल का जवाब सामूहिक चर्चा के बाद निकाला जाए।

कई अध्यायों में तो पूरी कक्षा के अवलोकनों को एक साथ रखकर विश्लेषण करना विषय-वस्तु को आगे बढ़ाने के लिए नितान्त अनिवार्य है। जैसे मापन में घट-बढ़ की बात को लें या संयोग और सम्भाविता की अवधारणा को लें। इन अध्यायों में सारी टोलियों के प्रयोगों के निष्कर्षों को एक सामूहिक तालिका में भरकर ही आगे की प्रक्रिया चलती है।

दूरी नापने में घट-बढ़ की बात को समझने के लिए सारे विद्यार्थी एक ब्लैक बोर्ड को नापते हैं और फिर उनमें से गलत नापों को पहचानने, सही नापों का स्तम्भालेख बनाने तथा औसत निकालने वगैरह का काम सामूहिक रूप से होता है।

“संयोग और सम्भाविता” (कक्षा 8) में तो शुरुआती सवाल-जवाब के बाद पहला काम ही एक खेल “चित-पट की दौड़” का होता है। इस खेल में सारे बच्चे एक लाइन पर खड़े होकर एक-एक सिक्का उछालते हैं। जिसका चित आए वह एक लाइन आगे और जिसका पट आए वह एक लाइन पीछे जाता है।

जश्न-ए-तालीम

हरेक बच्चा अपना एक व्यक्तिगत चार्ट बनाता है जिसमें वह हरेक चाल के बाद अपनी स्थिति दर्शाता है। इसी के साथ शिक्षक सारे बच्चों की एक सामूहिक तालिका बनाते हैं जिसमें यह दर्शाया जाता है कि हरेक चाल के बाद कितने विद्यार्थी किस लाइन पर हैं।

इन दो चार्टों का विश्लेषण पूरी कक्षा सामूहिक रूप से करती है। व्यक्तिगत चार्ट और सामूहिक तालिका की तुलना करके पैटर्न देखे जाते हैं। खास तौर से ये दो प्रश्न महत्वपूर्ण हैं:

हो सकता है कि किसी कक्षा में एकाध विद्यार्थी का लगातार केवल चित ही चित आए या लगातार पट ही पट आए या चित-पट आने का कोई एक निश्चित क्रम हो।

ऐसी स्थिति में तुम चित-पट आने के क्रम के बारे में किस आधार पर निष्कर्ष निकालोगे? एकाध विद्यार्थी के अलग ढंग के परिणामों के आधार पर या अधिकांश विद्यार्थियों के परिणामों के आधार पर? कारण सहित समझाओ।

सामूहिक तालिका की मदद से हर चाल के बाद विभिन्न विद्यार्थियों की संख्या के स्तम्भालेख बनाओ।

इसके बाद स्तम्भालेखों का विश्लेषण होता है। सबसे मनोहारी दृश्य वह होता है जब सारी टोलियाँ गुटकों की मदद से चित-पट के आँकड़े इकट्ठे करके स्तम्भालेख बनाती हैं और ये स्तम्भालेख दीवार पर चिपका दिए जाते हैं - - सिर्फ प्रदर्शनी के लिए नहीं, बल्कि विश्लेषण के लिए। सारी टोलियों के स्तम्भालेखों में से प्रत्येक टोली को एक सामूहिक स्तम्भालेख बनाना है, जिसमें यह पता चलेगा कि पूरी कक्षा में कितने चित और पट कितनी बार आए हैं। व्यक्तिगत स्तम्भालेखों और सामूहिक स्तम्भालेख की तुलना करके “लार्ज नम्बर” (large number) का सिद्धान्त निकलेगा।

जब यह अध्याय चल रहा हो तो कक्षा की सक्रियता देखते ही बनती है।

ये वो उदाहरण थे जहाँ विषय-वस्तु की स्पष्ट माँग है कि पूरी कक्षा के आँकड़ों को एक साथ रखकर विचार किया जाए और अपने व्यक्तिगत आँकड़े को उस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए। इसी तरह *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों में प्रयोग करने के बाद प्रश्नों के उत्तर देने में विद्यार्थियों से बार-बार कहा गया है कि वे आपस

में चर्चा करके उत्तर दें। जैसे कक्षा 6 (प्रथम संस्करण, 1978) के “समूह बनाना सीखो” में एक सवाल है:

बाबूलाल ने एक समूह में घन सेंटीमीटर वाले गुटके, गोल और चौकोर पेन्डे वाले डिब्बे, ड्रापर, गणक के मोती, सूक्ष्मदर्शी, तश्तरी और रसायन की बोतलें रखीं।

आपस में चर्चा करके बताओ कि उसने किस गुणधर्म के आधार पर यह समूह बनाया?

या “दूरी नापना” (कक्षा 6, 1978) में पैमाने का इतिहास बताने के बाद:

उन्होंने लकड़ी या धातु के ही पैमाने क्यों बनाए? कपड़े और रबर के क्यों नहीं? आपस में चर्चा करके बताओ।

“जल – मृदु और कठोर” (कक्षा 7, 1977) में स्थायी व अस्थायी कठोरता सम्बन्धी प्रयोग पूरे कर लेने के बाद:

यदि रेल के इंजिन के बॉयलर में लगातार केवल अस्थायी कठोर जल का उपयोग किया जाए तो इंजिन के काम पर क्या असर होगा? आपस में चर्चा करके बताओ।

गौर करने की बात यह है कि ये वे प्रश्न हैं जिनमें एक तरह का खुलापन है और एक से ज़्यादा सही उत्तर हो सकते हैं। या कम से कम बच्चे एक से ज़्यादा जवाब सोच सकते हैं और वाद-विवाद के बाद किसी एक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। शिक्षकों से अपेक्षा है कि वे विभिन्न विद्यार्थियों को अपने मत प्रकट करने को प्रेरित करें और तर्क-वितर्क के ज़रिए किसी निष्कर्ष तक पहुँचने में मदद करें।

कक्षा 7 (1979) में “ग्राफ बनाना सीखो” में बच्चे एक स्प्रिंग पर अलग-अलग वज़न लटकाकर उसकी लम्बाई में होने वाले परिवर्तन के आँकड़े लेते हैं। फिर लटकते हुए वज़न और स्प्रिंग की लम्बाई का ग्राफ बनाते हैं। पहले ग्राफ पर बिन्दु अंकित कर लिए जाते हैं। समस्या यह है कि कई कारणों से ये बिन्दु ठीक एक सरल रेखा पर नहीं आते। इसमें एक प्रमुख कारण नपाई में घट-बढ़ का है। ग्राफ बनाने में यह एक महत्वपूर्ण बात है कि आपको अनुमान लगाना होता है कि औसतन ग्राफ सरल रेखा हो सकता है। तो बच्चों से कहा जाता है:

इसको [घट-बढ़ की बात को] ध्यान में रखते हुए बिन्दुओं से थोड़ा हटकर क्या उनके बीच के हिस्से में एकदम सीधी रेखा का ग्राफ खींचना उचित होगा?

जश्न-ए-तालीम

आपस में चर्चा करके उत्तर दो।

अपनी चर्चा के निष्कर्षों के अनुसार अपने ग्राफ को सुधारकर कॉपी में लगा लो।

कुल मिलाकर *बाल वैज्ञानिक* ज्ञानार्जन को एक निजी, तनहा प्रयास की बजाय पूरी कक्षा के साझा उद्यम में बदलने की कोशिश करती है। टोली में और पूरी कक्षा में लगातार एक सहयोगी माहौल बनाने का यह प्रयास आम शिक्षा में व्याप्त व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा के माहौल को थोड़ा शिथिल करने का जतन है। फिर भी हो.वि.शि.का. में परीक्षा व्यक्तिगत ही होती थी।

तुम्हारा क्या विचार है?

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों की एक और खास बात पर ध्यान देना आवश्यक है। कई अध्यायों में बच्चों से निर्णय लेने को कहा गया है। कई ऐसे प्रसंग हैं जिनमें एक से अधिक उत्तर हो सकते हैं। इनमें बच्चों से पूछा जाता है, “तुम्हारा क्या विचार है?” वैसे तो *बाल वैज्ञानिक* में आपको ऐसे प्रश्न काफी संख्या में मिलेंगे जिनमें बच्चों से अपनी राय ज़ाहिर करने को कहा जाता है। मगर यहाँ उन प्रश्नों की बात है जिनमें बच्चों को किसी स्थिति में फैसला करना है, जो हमेशा मामूली नहीं होती।

उदाहरण के लिए, कक्षा 6 के पहले अध्याय “कुछ खेल-खिलवाड़” (1978) में ही इसकी शुरुआत हो जाती है। जब बच्चे अलग-अलग द्रवों की बूँदों से लेंस बना लेते हैं तो उनसे पूछा जाता है, “किस बूँद का लेंस सबसे अच्छा बना?” यह फैसला करने का कोई आधार नहीं दिया गया है। बच्चों को ही फैसला करना है कि वे एक अच्छा लेंस किसे मानेंगे। हो सकता है वे यह देखें कि किसमें सबसे बड़ा प्रतिबिम्ब बनता है या कि किस द्रव की बूँद बनाना आसान है, या कुछ और मापदण्ड रखें। चाहते तो यह सवाल पूछा जा सकता था कि “सबसे बड़ा प्रतिबिम्ब किस बूँद से बना?”

यह प्रसंग मामूली लग सकता है मगर आम पाठ्य पुस्तकें तो इतनी मामूली बातों के निर्णय भी बच्चों पर छोड़ने में हिचकती हैं। लेकिन कुछ अन्य उदाहरण भी हैं जो कदापि मामूली नहीं हैं।

“दूरी नापना” (कक्षा 6, 1978) में डिवाइडर की मदद से एक वक्र रेखा की लम्बाई नापी जाती है। पहले उसकी भुजाओं को 8 मि.मी. खोला जाता है।

इसके बाद पूछा जाता है:

यदि तुम डिवाइडर की भुजाओं के सिरों को 5 मि.मी. दूरी तक फैलाओ और उसी रेखा की लम्बाई दोबारा नापो तो क्या लम्बाई वही निकलेगी या कुछ और? करके देखो।

तुम्हारे विचार में कौन-सा उत्तर सबसे अधिक सही है? कारण सहित बताओ।

घट-बढ़ और सन्निकटन का यह उदाहरण देखिए। कुछ बच्चों द्वारा नापी गई रबर की नली की लम्बाई के आँकड़े दिए गए हैं। सारे नाप 27 से.मी. के आसपास हैं। एक विद्यार्थी ने 37.7 से.मी. नापा है। अब समस्या यह है:

37.7 से.मी. वाला नाप या तो एकदम गलत है या लापरवाही से 27.7 से.मी. के बदले लिखा गया है। ऐसी भूलें अक्सर हो जाती हैं। यदि यह सचमुच ही गलत है तो उसे सूची से हटा देना चाहिए। नहीं तो भूल सुधार के बाद उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

इस सम्बन्ध में तुम्हारा क्या निर्णय है?

शिक्षक प्रशिक्षणों में इसे लेकर कई बार अच्छी-खासी बहस हुई है। कुछ लोग मानते हैं कि विज्ञान में जो सही है, वह सही है; अन्दाज़ लगाकर भूल सुधार करने का कोई सवाल नहीं उठता। दूसरी ओर कुछ लोग नापने वाले के मानवीय गुणों को स्वीकार करना चाहते हैं।

इसी अध्याय में एक और प्रसंग है। किसी पैमाने का अल्पतम नाप 0.1 से.मी. है। और इससे:

माचिस की सीक की लम्बाई का अन्दाज़ लगाया गया।

धनीराम का अन्दाज़ था 4.2 से.मी.।

टीकाराम का अन्दाज़ था 4.3 से.मी.।

कारेलाल का अन्दाज़ था 4.0 से.मी.।

कलीराम का अन्दाज़ था 4.25 से.मी.।

अब सवाल है:

तुम किसका अन्दाज़ सही मानते हो?

जश्न-ए-तालीम

क्या कलीराम का इतना बारीकी से नाप लेना सही है?

किसी पैमाने के दो निशानों के बीच में लम्बाई का अन्दाज़ लगाना कहाँ तक सही है? आपस में चर्चा करके निर्णय करो।

यदि आपको यह उदाहरण मामूली लग रहा है तो इस बात पर ध्यान दें कि हो.वि.शि.का. के स्रोत दल में भी इस बात को लेकर मतभेद थे कि “दो निशानों के बीच में लम्बाई का अन्दाज़ लगाना कहाँ तक सही है?”

एक और उदाहरण। कक्षा 7 (1979) में “फसलों के दुश्मन” अध्याय में बताया जाता है:

एक किसान ने ब्लॉक ऑफिस जाकर कृषि विस्तार अधिकारी को बताया कि उसके बगीचे में बिही (अमरुद) के पेड़ों की पत्तियाँ अचानक मुरझाने लगी हैं। अधिकारी ने बिना कोई प्रश्न पूछे दवा का एक डिब्बा एकदम किसान को पकड़ा दिया और कहा कि इसे छिड़क देना।

क्या इस परामर्श में विस्तार अधिकारी ने कोई गलती की? यदि हाँ, तो क्या?

खोज पद्धति व पर्यावरण पर आधारित किसी भी विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की दृष्टि से अगला उदाहरण विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। कक्षा 8 (प्रथम संस्करण, 1980) में “जन्तुओं का वर्गीकरण” में वर्गीकरण से पहले जन्तुओं के बारे में जानकारी एकत्रित करना होता है। बच्चों से कहा गया है:

ऐसे सब जन्तुओं की सूची बनाओ जिन्हें तुमनी अपनी आँखों से देखा है। इस सूची में उन जन्तुओं के नाम भी जोड़ लो जिनको तुमने चाहे न देखा हो, लेकिन जिनके बारे में तुम्हें जानकारी है।

यह तुम कैसे तय करोगे कि किसी जन्तु के बारे में तुम्हारे द्वारा या अन्य किसी विद्यार्थी द्वारा दी जा रही जानकारी सही है या नहीं?

“जीवजगत में विविधता” (कक्षा 6, 1978) का यह प्रसंग भी उल्लेखनीय है। इसमें बच्चे यह देखते हैं कि पेड़-पौधों में, पत्तियों में, हमारी अपनी उँगलियों में विविधता पाई जाती है। फिर उनसे कहा जाता है कि वे एक ही जाति के फलों में विविधता देखें। मगर साथ में सवाल है कि:

यह पता करने के लिए तुम्हारे विचार में किन-किन गुणधर्मों को चुनना चाहिए और क्यों?

क्या केवल एक ही गुणधर्म (उदाहरण के लिए लम्बाई) की तुलना करने से सही उत्तर मिल जाएगा?

तुम्हारे विचार में कम से कम कितने गुणधर्म आवश्यक होंगे? क्यों?"

इसी प्रकार से “सजीव और निर्जीव” (कक्षा 8, प्रथम संस्करण, 1980) में बच्चों से इस तरह के सवालों पर गौर करने को कहा गया है:

तुमने ज़मीन के नीचे समाधि लगाने वाले साधुओं के बारे में सुना होगा। जितने दिन ये समाधि में रहते हैं, उतने दिन ये न कुछ खाते हैं, न पीते हैं, न चलते-फिरते हैं।

इस अवस्था में क्या तुम साधुओं को सजीव मानोगे? तर्क सहित उत्तर दो।

वैसे तो हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम का एक प्रमुख मकसद ही यह है कि बच्चों को सोचने को प्रेरित किया जाए। अधिकांश समय यह एक सुनिर्दिष्ट सोच प्रक्रिया होती है। प्रयोगों के अवलोकन व सुरचित सवालों के माध्यम से उन्हें वैज्ञानिक नियमों व सिद्धान्तों की ओर ले जाया जाता है। मगर उपरोक्त किस्म के सवाल पूरा दारोमदार शिक्षकों व बच्चों पर छोड़ देते हैं। ये एकदम खुले सवाल हैं जिनके कोई पूर्व निर्धारित “सही” जवाब नहीं हैं। इनके जवाब शुद्धतः कक्षा में हुई बहस पर निर्भर करते हैं।

चित्रांकन और साज-सज्जा

बाल वैज्ञानिक के अन्य पहलुओं की तरह उसके चित्रों व साज-सज्जा में भी लगातार विकास होता रहा। आम तौर पर चित्रांकन व साज-सज्जा को (कम से कम पाठ्य पुस्तक के सन्दर्भ में) गौण काम माना जाता है। मन में रहता है कि मुख्य चीज़ तो लिखना है, चित्र वगैरह तो मात्र लिखे हुए को स्पष्ट करेंगे या बहुत हुआ तो थोड़ा खुशनुमा बना देंगे। यह समझने की ज़रूरत है कि चित्रांकन इससे आगे बढ़कर काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है, जैसा कि *बाल वैज्ञानिक* के अनुभव से झलकता है।

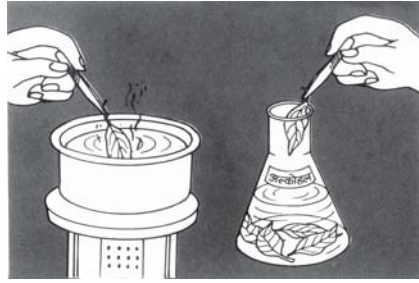
बाल वैज्ञानिक में चित्रों की स्पष्टता, प्रामाणिकता व सत्यता पर शुरू से

जश्न-ए-तालीम

ही बहुत ज़ोर रहा। मगर समय के साथ इसमें नए-नए आयाम जुड़ते गए। यहाँ हम उनकी चर्चा संक्षेप में करेंगे।

1972 में “लाल वैज्ञानिक” में उन्हीं चित्रों का उपयोग किया गया था जो *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* नाम की पुस्तक में थे। इन चित्रों को बनाने का काम एक पेशेवर चित्रकार ने किया था। “लाल वैज्ञानिक” कुल मिलाकर

एक अत्यन्त शान्त भाव का एहसास देती है। इसका श्रेय प्रमुख रूप से इसमें प्रयुक्त कागज़ और थॉमसन प्रेस द्वारा छपाई की गुणवत्ता को दिया जा सकता है। छपाई में दो रंगों का उपयोग किया गया था मगर रजिस्ट्रेशन की कोई



समस्या नहीं थी। यानी जहाँ दो रंगों का इस्तेमाल किया गया था वे दोनों रंग एकदम एक-दूसरे के ऊपर थे। स्क्रीन का बहुत सुन्दर उपयोग किया गया था। रेखाचित्रों और फोटो चित्रों का मिला-जुला उपयोग करके सूचना व निर्देशों को सन्तुलित ढंग से प्रस्तुत किया गया था। कहीं भी चित्र हावी होते नहीं लगते, एक तरह से पाठ्यवस्तु के साथ घुले-मिले लगते हैं।

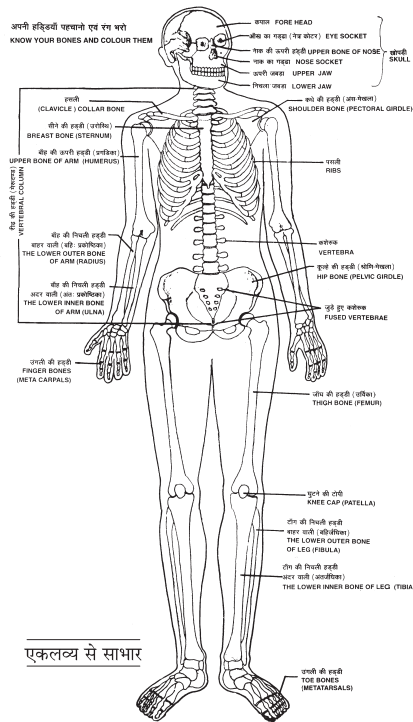
यदि फोटो चित्रों को छोड़ दें तो रेखाचित्रों में जहाँ भी बच्चों को प्रयोग करते दिखाया गया है वहाँ पूरा शरीर नहीं बल्कि सिर्फ कोई हाथ दिखाता है जो प्रयोग कर रहा है, ठीक वैसे जैसे “वैज्ञानिक” चित्र होते हैं।

लगभग यही स्थिति ज़िला स्तरीय प्रसार के समय भी रही। 1978-80 के दरमियान तैयार बाल वैज्ञानिकों में लेआउट व चित्रांकन का काम लेखकों में से ही कुछ लोगों ने किया था, किसी पेशेवर की मदद नहीं ली गई थी। इन पुस्तकों में यह बात साफ झलकती है कि *बाल वैज्ञानिक* के रचयिता किताबों को ठसाठस भरने के खिलाफ थे, इसलिए प्रथम संस्करण में काफी खाली जगहें नज़र आती हैं। एक तो हाशिए वगैरह काफी अधिक छोड़े गए थे और दूसरा पैराग्राफों के बीच में भी काफी जगह छोड़ी गई थी।

बाहर से देखने पर *बाल वैज्ञानिक* पाठ्य पुस्तक जैसी नहीं लगती थी। कक्षा 6, 7 व 8 (खण्ड 1) की किताबों में तो आवरण पर ही सवालीराम की चिट्ठी छपी थी। पिछले आवरण पर एक बच्चे द्वारा बनाया गया चित्र छपा था जिसमें बच्चे शिक्षक के साथ परिभ्रमण पर निकले हैं। आवरण चित्र बनाने के लिए बच्चों की एक प्रतियोगिता आयोजित की गई थी, उसमें से यह चित्र चुना गया था। कक्षा 8 (खण्ड 2) का आवरण चित्र प्रसिद्ध चित्रकार स्वर्गीय विष्णु चिंचालकर द्वारा बनाया गया था। इसमें “संयोग और सम्भावितता” नामक अध्याय की एक गतिविधि “चित-पट की दौड़” को चित्रित किया गया है। बताते हैं कि चिंचालकर जी को यह चित्र कई बार बनाना पड़ा था क्योंकि आग्रह यह था कि चित्र में गतिविधि का, हलचल का एहसास होना चाहिए।

प्रथम संस्करण में अधिकांश चित्र प्रयोगों के निर्देश स्पष्ट करने के लिए बनाए गए थे। चूँकि अधिकांश चित्र शौकिया चित्रकारों द्वारा बनाए गए थे, इसलिए इनमें एक किस्म की अनगढ़ता झलकती है। मगर चित्रों की सटीकता व उनमें प्रस्तुत जानकारी के सही होने पर बहुत ध्यान दिया गया था।

उदाहरण के लिए, “अपनी हड्डियाँ पहचानो” नामक अध्याय के लिए कंकाल का चित्र दिया जाना था। अध्याय के लेखकों, कुछ शिक्षकों व



एकलव्य से साभार

जश्न-ए-तालीम

डॉक्टरों ने मिलकर इस पर काफी दिमाग लगाया था। उन्होंने कंकाल का एक अच्छा व सही चित्र खोजने की बहुत कोशिश की मगर वह नहीं मिला। नतीजा यह हुआ कि एक शिक्षक (जिन्हें चित्र बनाने का थोड़ा अनुभव था) को इन्दौर के मेडिकल कॉलेज में भेजा गया जहाँ उन्होंने मनुष्य के वास्तविक कंकाल को देखकर उसका चित्र बनाया। इस चित्र को जाँचने-परखने के बाद इसे *बाल वैज्ञानिक* में स्थान दिया गया। यह किस्सा उन्हीं शिक्षक, उमेश चौहान, की जुबानी:

मानव कंकाल का आदमकद चित्र बनाने के लिए मुझे डॉक्टर अनिल सद्गोपाल ने इन्दौर भिजवाया था। इन दिनों मैं चित्रकारी तो करता था मगर आत्मविश्वास की कमी थी। जब मैंने इन्दौर मेडिकल कॉलेज का म्यूज़ियम देखा और वहाँ लटके मानव कंकाल देखे तो डर गया। एक रात तो मुझे नींद में भी कंकाल नज़र आ रहे थे। किन्तु डॉ. प्रकाश छजलानी एवं उस विभाग की प्रमुख डॉ. घोड़पकर ने मुझे प्रोत्साहन दिया और मैंने लायब्रेरी से हड्डियों के चित्र देखे, कंकाल में वे कैसे जुड़ी हैं, उसे समझा। तब कहीं सात दिन के प्रयास के बाद मानव कंकाल के चित्र बने जिन्हें *बाल वैज्ञानिक* कक्षा 7 में स्थान मिला।

एक समस्या किट कॉपी की थी। कई गतिविधियों के लिए बच्चों को ग्राफ कागज़, चौखाना कागज़, काले कागज़, कंकाल के चित्र वगैरह की ज़रूरत पड़ती है। ऐसी सामग्री एक अलग किट कॉपी के रूप में तैयार की गई थी। किताब के साथ किट कॉपी मुफ्त देने का प्रावधान किया गया था। इसके कारण एक समस्या आती थी। कई बच्चे “सेकण्ड हैंड” किताबें खरीदते हैं। कई बच्चों को “बुक बैंक” से किताबें मुहैया कराई जाती हैं। इन्हें किट कॉपी कहाँ से मिले? इसलिए किट कॉपियाँ अधिक संख्या में छपवाई जाती थीं और अलग से बिक्री के लिए उपलब्ध रहती थीं। आई.डी.सी. समूह का इस सन्दर्भ में सुझाव यह था कि *बाल वैज्ञानिक* में कार्य पुस्तक, उत्तर पुस्तिका व किट कॉपी का समावेश एक ही जिल्द में किया जाना चाहिए।

किसी प्रयोग के लिए चित्र बनाते हुए वास्तव में उसी सामग्री से प्रयोग करके देखा जाता था जो स्कूलों को उपलब्ध कराई जानी थी। हालाँकि बाद के संस्करणों में चित्र पेशेवर चित्रकारों ने बनाए, मगर यह परम्परा जारी रही कि चित्र बनाते समय चित्रकार के पास वास्तविक किट सामग्री उपलब्ध होनी चाहिए

और सम्भव हो तो उसे वह प्रयोग करके देख लेना चाहिए। चित्रकारों के एक दल ने तो यहाँ तक आग्रह किया था कि वे वास्तविक स्कूलों में परिस्थिति देखकर ही आगे बढ़ेंगे।

1985 में जब *बाल वैज्ञानिक* संशोधन का निर्णय लिया गया तो पहली बार यह सोचा गया कि नए संस्करण के चित्रांकन व साज-सज्जा के लिए पेशेवर मदद ली जानी चाहिए। इस काम का जिम्मा आई.आई.टी., बम्बई के इण्डस्ट्रियल डिजाइन सेंटर (आई.डी.सी.) के कीर्ति त्रिवेदी को सौंपा गया था। कीर्ति ने 1985 में कक्षा 6 के प्रथम संस्करण की एक समीक्षा सम्प्रेषणीयता के नज़रिए से प्रस्तुत की थी। इस समीक्षा में कई बारीकियों पर ध्यान दिया गया था और कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए गए थे, हालाँकि वास्तव में इन सारे सुझावों पर अमल नहीं हुआ। उनके कुछ सुझाव निम्नलिखित थे:

1. *बाल वैज्ञानिक* विज्ञान की किताब है और यह बात इसके प्रस्तुतीकरण में झलकनी चाहिए। यानी इसकी साज-सज्जा में एक सलीका और एकरूपता होनी चाहिए।
2. चित्रों में दी गई जानकारी या निर्देश सही होने चाहिए। आई.डी.सी. दल ने पाया था कि कक्षा 6 की *बाल वैज्ञानिक* में कुल 94 चित्रों में से 74 निर्देश चित्र व 20 सूचना चित्र हैं। उन्होंने पाया कि आधे से ज़्यादा चित्रों में गलतियाँ थीं या वे भ्रामक थे।
3. दल का मत था कि अवधारणाओं के समान ही *बाल वैज्ञानिक* में प्रस्तुतीकरण व संकेतों/प्रतीकों का विकास भी क्रमशः किया जाना चाहिए। जैसे शुरू में किसी क्रिया को दर्शाने के लिए फोटोग्राफ या त्रि-आयामी चित्र का उपयोग किया जाए और धीरे-धीरे रेखाचित्रों व प्रतीकात्मक चित्रों का उपयोग किया जाए। छपाई की स्थिति को देखते हुए दल का सुझाव था कि फोटो चित्रों का उपयोग कम से कम किया जाए।
4. एक सुझाव यह भी था कि अध्यायों में विभिन्न किस्म की पाठ्य-वस्तुओं

(जैसे कथन, विचार, अभिव्यक्ति, क्रिया के निर्देश, सावधानियाँ वगैरह) में भेद करने के उपाय किए जाएँ।

5. कुछ सुझाव जगह की बरबादी को कम करने के सम्बन्ध में दिए गए थे। जैसे यह कहा गया था कि *बाल वैज्ञानिक* में प्रयोगों व उपखण्डों के शीर्षकों के लिए एक बड़ा हाशिया छोड़ा जाता है। बेहतर होगा कि इस हाशिए का उपयोग चित्रों के लिए भी किया जाए ताकि जगह बच सके। इसी प्रकार से यह सुझाव भी दिया गया था कि लाइनों व पैराग्राफों के बीच बहुत ज़्यादा जगह न छोड़ी जाए।
6. उनके कुछ सुझावों का सम्बन्ध तकनीकी समस्याओं से था। सबसे महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि यदि छपाई के दौरान गुणवत्ता पर नियंत्रण न रखा जा सके तो छपाई एक ही रंग में की जाए। क्योंकि यदि दो रंगों में छपाई ठीक से नहीं होती तो चित्र अस्पष्ट हो जाते हैं।

इसके अलावा लेआउट व चित्रों, आवरण पृष्ठ व किताब की बाइंडिंग के सम्बन्ध में, यानी किताब के हर पक्ष को लेकर विचार प्रस्तुत किए गए थे।

बाल वैज्ञानिक के कक्षा 6 व 7 के द्वितीय संस्करण की साज-सज्जा का काम आई.डी.सी. समूह ने ही किया था और उनके कई सुझावों का समावेश उसमें किया गया था।

एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि *बाल वैज्ञानिक* की छपाई दो रंगों में होती थी। सारे प्रश्नों को अलग रंग में छापा जाता था और कई चित्रों में भी दो रंगों का उपयोग किया जाता था। प्रयोग करने के निर्देश और अन्य पाठ्य-वस्तु काले रंग में होती थी, इसके कारण किताब की कीमत बढ़ जाती थी। मगर हो.वि.शि.का. समूह शासन को यह विश्वास दिलाने में सफल रहा था कि *बाल वैज्ञानिक* में दो रंगों की छपाई अनिवार्य और वांछनीय है। इस कारण से तथा कम संख्या में छपने के कारण *बाल वैज्ञानिक* की लागत में जो वृद्धि होती है, वह शासन वहन करे। बच्चों को ये किताबें उसी कीमत पर मिलनी चाहिए जिस पर अन्य ज़िलों के बच्चों को विज्ञान की पाठ्य पुस्तकें मिलती हैं। वैसे दो रंगों की छपाई तकनीकी कारणों से और मुद्रक की लापरवाही के चलते अपने आप में एक समस्या बन गई थी, और अन्ततः इसे छोड़ दिया गया था।

आई.डी.सी. द्वारा तैयार किए गए *बाल वैज्ञानिक* के द्वितीय संस्करण में कुछ बातें साफ तौर पर देखी जा सकती हैं। इनका प्रस्तुतीकरण बहुत व्यवस्थित है, ग्रिड का बहुत ध्यान रखा गया है, चित्रों में त्रि-आयामी से शुरू करके धीरे-धीरे द्विआयामी प्रतीकात्मक चित्रों, फ्लो-चित्रों वगैरह की ओर बढ़ते हैं।

अपनी ही सलाह के विरुद्ध कीर्ति व उनके दल ने *बाल वैज्ञानिक* में डिज़ाइन के कई तत्वों का उपयोग किया था। उन्होंने सारे अध्यायों के लिए एक बार कोड का इस्तेमाल किया था जिसे बाहर से देखकर ही आप अध्याय क्रमांक के अलावा यह भी बता सकते हैं कि उस अध्याय में परिभ्रमण होता है या नहीं। मगर “छपाई पर नियंत्रण के अभाव” में यह बेकार ही रहा। इस अनुभव के बाद कक्षा 7 में ऐसी कोई कोशिश नहीं की गई। उन्होंने दोरंगी छपाई को भी जारी रखा और इसके नतीजे दुखदायी रहे। उन्होंने आवरण का डिज़ाइन इस तरह किया था कि उस पर 6 व 7 को तरह-तरह से दर्शाया गया था।

आई.डी.सी. दल ने एक अन्य समस्या पर ध्यान तो दिया था मगर उसके बारे में कुछ किया नहीं। अधिकांश निर्देश चित्रों में आपको सिर्फ उपकरण नज़र आते हैं या बहुत हुआ तो कटे हुए हाथ दिखते हैं जो प्रयोग को अंजाम दे रहे हैं। किताब को तैयार करने वाले समूह का ख्याल था कि ऐसे कटे हाथ वाले चित्र बेगाने से लगते हैं और बच्चों को यह सन्देश नहीं देते कि यह प्रयोग उन्हें करना है। मगर दिक्कत यह है कि यदि आप किसी क्रिया पर ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं तो प्रयोग के पूरे तामझाम को और प्रयोग करने वाले बच्चों को दिखाना कठिन है, क्योंकि उनसे ध्यान भटकता है। इस समस्या का समाधान तलाश करना ज़रूरी लगता है, खास तौर से छोटे बच्चों के लिए लिखी जा रही किताब में।

आई.डी.सी. द्वारा तैयार की गई किताब के चित्रों में एक बात और झलकती है। इन चित्रों में किसी क्रिया पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास काफी सायास लगता है। इसके कारण कई जगह चित्र को देखकर ऐसा लगता है कि प्रयोग करने वाला व्यक्ति वह प्रयोग प्रदर्शन के उद्देश्य से कर रहा

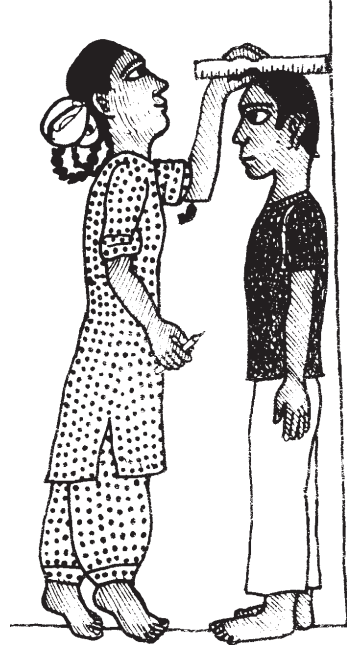
जश्न-ए-तालीम

है। यह कहना मुश्किल है कि इसका असर क्या होता है, मगर ये चित्र खुद प्रयोग करने का नहीं बल्कि प्रदर्शन को देखने का भाव पैदा करते हैं।

साथ ही, इस संस्करण (कक्षा 6 व 7) के चित्र बहुत चिकने-चुपड़े लगते हैं। प्रयोग करने वाले हाथ काफी नज़ाकत के साथ बहुत सावधानी से प्रयोग करके दिखा रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो लगभग सभी चित्रों के बारे में यह बात कही जा सकती है। संक्षेप में कहें तो इन चित्रों में एक किस्म की कृत्रिमता है। मगर सूचना की दृष्टि से सटीकता है।

इस संस्करण की कक्षा 8 की पुस्तक का चित्रांकन हो.वि.शि.का. समूह से जुड़ी कैरन हैडॉक ने किया था। कैरन न सिर्फ एक चित्रकार हैं वरन विज्ञान, पाठ्य पुस्तक, शिक्षा, विकास और बच्चों को लेकर उनके काफी अलग विचार भी हैं। और ये सब कक्षा 8 की *बाल वैज्ञानिक* (1989) में झलकते हैं।

इस किताब में अचानक ढेर सारे समूचे इन्सान नज़र आते हैं – प्रयोग करते हुए (या न करते हुए, मात्र मज़ा लेते हुए) बच्चे दर्ज़नों में हैं। हाशिए जीवन्त हो उठे हैं। जहाँ आई.डी.सी. समूह ने मूलतः दो तरह के – निर्देश व सूचना देने वाले – चित्रों का उपयोग किया था, वहीं कैरन ने तीसरी व चौथी श्रेणी के चित्रों का समावेश किया: एक थे सिर्फ मज़े के लिए चित्र और दूसरे किसी स्थिति को दर्शाते या उस पर टिप्पणी करते चित्र। ये चित्र न तो किसी प्रयोग को करने की विधि को चित्रित करते हैं, न ही कोई जानकारी देते हैं, मगर कुछ उकसाते हैं, कुछ सवाल उठाते हैं।



आई.डी.सी. समूह का विचार था कि *बाल वैज्ञानिक* मूलतः विज्ञान की किताब है। कैरन ने इसमें यह और जोड़ा कि *बाल वैज्ञानिक* विज्ञान की किताब होने के अलावा एक ऐसी किताब होनी चाहिए जो बच्चों को कुछ करने को और करते-करते मज़ा लेने को प्रेरित करे।



कैरन के चित्र दर्शाते हैं कि कैसे चित्रांकन से एक अलग शिक्षा पद्धति को चित्रित किया जा सकता है। जैसे इन चित्रों में कक्षा में शिक्षक की भूमिका को बहुत अलग ढंग से प्रस्तुत किया गया है। शारीरिक रचना से सम्बन्धित चित्रों में उन्होंने लिंग की दृष्टि से उदासीन तंत्रों को भी स्त्री शरीर में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार से मूल पाठ में चल रहे क्रियाकलापों और उनके निष्कर्षों को आँख मूँदकर स्वीकार करते जाने की प्रवृत्ति से बचने के लिए कई चित्रों में पैनी टिप्पणियाँ हैं।

लेकिन कैरन के चित्रों से सजी किताब जब बच्चों के हाथ में पहुँची थी तो प्रतिक्रिया बहुत मिली-जुली रही थी। पसन्द-नापसन्द काफी स्पष्ट थी। कैरन द्वारा बनाए गए चित्रों में बच्चे चिकने-चुपड़े नहीं होते। बल्कि यह कहना बेहतर होगा कि उनके चित्रों में बच्चे सप्रयास अनगढ़, “देहाती”, “आदिवासी”, “अश्वेत” वगैरह गुणों से विभूषित होते हैं। मुख्य नकारात्मक टिप्पणियाँ इस पक्ष को लेकर थीं। बहरहाल कैरन ने पाठ्य पुस्तक चित्रांकन को नए आयाम दिए। हो सकता है इनमें परिष्कार की ज़रूरत है।

इसके बाद आया तीसरा संस्करण (2000-02)। इस समय तक हो.वि.शि.का. समूह के विचारों में काफी परिवर्तन आ चुका था। और दूसरे संस्करण की कक्षा 8 की किताब में कैरन के योगदान की बदौलत चित्रों के बारे में कई नए विचारों के लिए जगह बन चुकी थी। इस बार चित्रांकन व साज-सज्जा

जश्न-ए-तालीम

का काम राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान के तरुणदीप गिरिधर ने सम्हाला। चित्र बनाने का काम बड़ौदा के चित्रकार रंजीत बालमुचु ने किया।

इस टीम ने स्कूलों का दौरा करके यह पता लगाने की कोशिश की कि बच्चे चित्रों को किस तरह समझते हैं, किस तरह के संकेत/प्रतीक उपयोगी रहेंगे वगैरह। इसी प्रकार से किसी भी फूल-पत्ती का चित्र बनाने से पहले वे किसी पुस्तक में उसका चित्र देखकर सन्तुष्ट नहीं होते थे। उन्हें वास्तविक चीज़ देखना ज़रूरी लगता था। प्रामाणिकता पर बहुत ज़ोर था।

इस टीम ने सबसे पहला काम यह किया कि दोरंगी छपाई को तिलांजलि दे दी। कटे हाथ वाले चित्रों की समस्या का एक समाधान इस टीम ने निकाला – वे पहले एक पूरा चित्र बनाते थे जिसमें प्रयोग का सन्दर्भ बन जाता था और फिर दूसरे चित्र में क्रिया पर फोकस किया जाता था। फिर भी अधिकांश चित्रों में पूरे इन्सान प्रयोग करते नज़र आते हैं। टोलियों में काम करते बच्चे भी काफी जगह नज़र आते हैं। आई.डी.सी. दल की तरह तरुणदीप ने भी चित्रों में शैलियों का क्रमिक विकास करने का प्रयास किया है। कई जगह तो उन्होंने एक ही चित्र को दो शैलियों में भी प्रस्तुत किया है।

इसी टीम ने पहली बार चंगू-मंगू नामक दो पात्र तैयार किए जो किसी बात पर ज़ोर देने, सावधानी को रेखांकित करने वगैरह का काम करते थे।

इस ज़ुखला में भी कक्षा 8 की किताब फिर से कैरन के ज़िम्मे ही आई थी।

बाल वैज्ञानिक के तीन संस्करणों में चित्रांकन को देखकर दो विचार दिमाग में आते हैं। पहला तो यह है कि चित्रांकन सचमुच पुस्तक की भूमिका को समृद्ध कर सकते हैं – सिर्फ पुस्तक में प्रस्तुत निर्देशों या जानकारी को स्पष्ट करके नहीं बल्कि उस पुस्तक से की जा रही अपेक्षाओं को उभारकर। दूसरा, जैसे पाठ्यक्रम, विषय-वस्तु, भाषा वगैरह को लेकर करते-करते सीखने की बात कही गई थी, वही बात चित्रांकन व साज-सज्जा पर भी लागू होती है। जैसे-जैसे चित्रकार जुड़े, वैसे-वैसे नए विचार आए और धरातल पर उतरे।

6

अध्यायों के सारांश

बाल वैज्ञानिक के अध्यायों का सार प्रस्तुत करना काफी मुश्किल काम है। हालाँकि लगभग हर अध्याय को किसी अवधारणा या विषय के इर्द-गिर्द बना गया है, मगर अध्याय उन उपशीर्षकों में सिमटता नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न तत्व इन अध्यायों में साकार होते हैं। आगे जो सार प्रस्तुत किए गए हैं उनमें यथासम्भव पूर्णता लाने का प्रयास किया गया है। मूल विवरण 1978-80 के संस्करण के अध्यायों का है, और “लाल वैज्ञानिक”, कार्डों और 1987-89 व 2000-02 के संस्करणों की चर्चा तुलना के रूप में ही की गई है।

कक्षा 6

1. कुछ खेल-खिलवाड़

यह कक्षा 6 का पहला अध्याय है और इसमें बच्चे अवलोकन करने के लिए लेंस और सूक्ष्मदर्शी का उपयोग करते हैं। फ्यूज़ बल्ब में पानी भरकर लेंस बनाया जाता है, उसे टिकाने के लिए तार का स्टैंड बनाया जाता है और माचिस का सूक्ष्मदर्शी बनाया जाता है। अन्त में किट के सूक्ष्मदर्शी से परिचय तथा उसकी मदद से कुछ चीज़ों के अवलोकन किए जाते हैं।

बाद के संस्करणों में माचिस के सूक्ष्मदर्शी का स्वरूप काफी बदला है। वास्तव में माचिस के सूक्ष्मदर्शी ने कई लोगों की सृजनात्मकता को प्रेरित किया है और आज सूक्ष्मदर्शी के अनगिनत मॉडल उपलब्ध हैं।

जश्न-ए-तालीम

अपने हाथों से उपकरण बनाना और अवलोकन लेना तथा 2000 के संस्करण में लेंस से छोटा प्रतिबिम्ब बनाकर देखने की गतिविधियाँ काफी रोचक हैं।

अध्याय का स्वरूप खेल-खिलवाड़ का ही रखा गया है।

2. समूह बनाना सीखो

वस्तुओं के गुणधर्म पहचानना, गुणधर्मों के आधार पर समूह बनाना, दिए गए समूह के गुणधर्म पहचानना, एक वस्तु का दो या दो से अधिक समूहों में आना (परस्पर व्याप्त समूह) वगैरह अवधारणाओं से सम्बन्धित गतिविधियाँ हैं।

“लाल वैज्ञानिक” में इस अध्याय का नाम “वस्तुएँ और समूह” था। इसमें बाकी बातें तो वही हैं, मगर वस्तुओं में अन्तर पर भी ध्यान दिलाया जाता है। इसमें दो वस्तुओं की तुलना के लिए पैमाने के उपयोग सम्बन्धी गतिविधि भी है। “ऑड मैन आउट” (odd man out) की गतिविधियाँ भी हैं। गृहकार्य के रूप में अभ्यास के लिए कई सवाल हैं।

1987 के संस्करण में अध्याय की शुरुआत वस्तुओं में अन्तर पहचानने की गतिविधि से होती है। उसके बाद समानताएँ और समूह बनाने की गतिविधि आती है। ऑड मैन आउट की गतिविधि है, जिसमें एक से अधिक सही उत्तर आ सकते हैं। अन्त में एक सार्थक समूह की बात को उभारने के लिए गतिविधि है।

2000 के संस्करण में अवधारणाएँ तो यही हैं मगर अभ्यासों की संख्या कहीं अधिक है और चित्रों के माध्यम से भी समूहीकरण किया जाता है।



3. पत्तियों का समूहीकरण

अध्याय परिभ्रमण आधारित है। परिभ्रमण के दौरान एकत्रित पत्तियों का अध्ययन करके समूहीकरण करने व हर्बेरियम बनाने की गतिविधियाँ की जाती हैं। पत्तियाँ एकत्रित करने के लिए लिफाफे बनाने जैसी गतिविधियाँ भी हैं। पत्तियों के गुणधर्मों की जानकारी को पहले एक तालिका के रूप में प्रस्तुत करना है और फिर उसके आधार पर समूहीकरण की तालिका बनाना है।

1987 में लिफाफा बनाने की गतिविधि हटा दी गई थी। शेष अध्याय वैसा ही था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय का नाम “पत्तियों से जान-पहचान” हो गया था। इसमें परिभ्रमण के दौरान पत्तियाँ इकट्ठी करने के अलावा पर्ण विन्यास (phyllotaxy) का अध्ययन भी करते हैं। पत्तियों का समूहीकरण करने के लिए एक ही तालिका बनाई जाती है। अन्य गुणधर्मों के अलावा शिरा विन्यास को विशेष रूप से समूहीकरण का आधार बनाया जाता है। पत्तियों के गुणधर्म से परिचय हेतु दो खेल दिए गए हैं और कुछ रोचक जानकारी दी गई है।

4. चुम्बक

चुम्बकीय-अचुम्बकीय पदार्थ (प्रयोग 1), चुम्बक के ध्रुव (प्रयोग 2), चुम्बक की क्रिया पर माध्यम का असर (प्रयोग 3, 4), चुम्बक का प्रभाव क्षेत्र (प्रयोग 5), चुम्बक से दिशा (प्रयोग 6), चुम्बकों में आकर्षण-विकर्षण (प्रयोग 7), विकर्षण चुम्बक की पहचान, चुम्बक बनाना (प्रयोग 8, 9, 10)।

1987 के संस्करण में कोई बदलाव नहीं किया गया था, सिर्फ चुम्बक की खोज की दन्तकथा जोड़ी गई थी।

2000 के संस्करण में उपरोक्त अवधारणाओं से सम्बन्धित दो खेल जोड़े गए थे।

“लाल वैज्ञानिक” का अध्याय “चुम्बक और पारस्परिक क्रिया” लगभग ऐसा ही था।

5. हमारी फसलें और समूहीकरण

खरीफ और रबी के मौसम में अलग-अलग परिभ्रमण, फसलों की पत्तियों, फलों, बीजों का संग्रह, दो या तीन गाँवों का सर्वेक्षण करके फसलों की जानकारी इकट्ठा करना, किसानों, कृषि विस्तार अधिकारी व ग्राम सेवक से चर्चा, फसलों का विभिन्न आधारों पर समूहीकरण, कृषि में फसलों के विभिन्न गुणधर्मों का महत्व, फसलों की प्रदर्शनी बनाना। अध्याय में काफी जोर जानकारी एकत्रित करने पर है और इसके लिए किसानों तथा कृषि अधिकारियों से बातचीत व सर्वेक्षण आदि का सहारा लिया जाता है।

1987 के संस्करण में इसे दो भागों में बाँट दिया गया था: “हमारी फसलें – 1” और “हमारी फसलें – 2”। ये भाग क्रमशः खरीफ व रबी से सम्बन्धित थे। परिभ्रमण में वही सब जानकारी एकत्रित करना है। फसल चक्र को समझकर रेखाचित्र (flow chart) के रूप में प्रस्तुत करने का अभ्यास है।

2000 के संस्करण में फसलों सम्बन्धी अध्याय कक्षा 6 से हटाकर कक्षा 7 व 8 में शामिल कर दिए गए थे।

6. बल और भार

बल के विविध एहसास – दैनिक जीवन के उदाहरणों की चर्चा, चुम्बकों के बीच आकर्षण-विकर्षण (प्रयोग 1), साइकिल पम्प चलाने पर हवा का बल (प्रयोग 2), काँच की पट्टियों के बीच पानी की झिल्ली के कारण आसंजन बल (प्रयोग 3), बिना छुए बल का असर (चुम्बक-लोहा), हवा और पानी के बहाव का बल, मीटर पैमाने पर वज़न रखकर नमने (झुकाव) के आधार पर बल का मात्रात्मक एहसास (प्रयोग 4) आदि प्रयोग किए जाते हैं। मूलतः यह अवधारणा उभरती है कि धक्के या खिंचाव का एहसास ही बल है और भार भी एक बल है।

“लाल वैज्ञानिक” में बल के एहसास के लिए काफी अलग ढंग के प्रयोग थे। जैसे एक स्प्रिंग को दबाना और खींचना, स्प्रिंग पर ईंट रखकर देखना, स्प्रिंग के नीचे लोहा लटकाकर चुम्बक का असर (दूर से लगने वाला बल), दो बीकरों में अलग-अलग श्यानता के द्रव भरकर उनको हिलाने में लगने

वाले बल में अन्तर, रबर की मोटी नली को ऐंठना, मोड़ना (आकृति में परिवर्तन), साइकिल पम्प दबाने पर लगने वाला बल वगैरह। बल नापने की इकाइयों की चर्चा थी और भार पर काफी काम किया जाता था।

1987 के संस्करण में बल के विविध एहसास तो उसी तरह (1978 जैसे) थे। साथ में पंजा लड़ाने की गतिविधि के माध्यम से बल की दिशा का संकेत दिया गया है। इसके अलावा गुरुत्व बल की भी चर्चा है। बल का मात्रात्मक एहसास रबर बैण्ड पर वज़न लटकाकर तनने से दिया जाता है।

2000 के संस्करण में “बल और भार” को कक्षा 6 से हटाकर कक्षा 8 में “कहाँ-कहाँ नहीं है बल” के नाम से रखा गया।

7. भोजन और पाचन क्रिया

अध्याय पाँच खण्डों में बँटा है। भूमिका के रूप में भूख हड़ताल व उपवास से शरीर पर होने वाले असर की चर्चा है।

खण्ड 1 में जन्तुओं के अवलोकनों की मदद से भोजन व भोजन लेने के ढंग में विविधता को उभारा गया है। विभिन्न जन्तुओं के भोजन की तालिका बनाई जाती है और जन्तुओं को शाकाहारी, माँसाहारी, सर्वाहारी और परजीवी समूहों में बाँटा जाता है। प्रयोग 1 में विभिन्न जन्तुओं को पकड़कर उनके भोजन लेने के ढंग और सहायक अंगों का अवलोकन करना है। बन्दी अवस्था और प्राकृतिक अवस्था में उनके व्यवहार की तुलना की जाती है।

खण्ड 2 में विभिन्न भोज्य पदार्थों में मण्ड परीक्षण (प्रयोग 2) किया जाता है। भोजन के अन्य घटक (प्रोटीन, वसा, लवण वगैरह) बताए गए हैं।

खण्ड 3 में गरीबी और पोषण के आपसी सम्बन्धों की चर्चा है। कुपोषण के लक्षण बताए गए हैं और कुपोषित बच्चे के भोजन के बारे में पता करने को कहा गया है। इन अवलोकनों के आधार पर बच्चों को गरीबी, भोजन और स्वास्थ्य के आपसी सम्बन्ध पर अपने मत व्यक्त करने को कहा गया है।

खण्ड 4 में आटे में से मण्ड अलग करके (प्रयोग 3) यह समझने की कोशिश है कि भोजन में मण्ड के अलावा भी कुछ होता है।

जश्न-ए-तालीम

प्रयोग 4 में मण्ड पर लार के असर की जाँच की जाती है और इसका सम्बन्ध भोजन को चबाकर खाने से जोड़ा जाता है। इस प्रयोग में तुलना का प्रावधान है।

विच्छेदित चूहे में पाचन तंत्र का अवलोकन करके उसका नामांकित चित्र बनाया जाता है। इस खण्ड के अन्त में बच्चों को गुरुजी से चर्चा करके पाँच-दस वाक्य लिखना है कि भोजन के रूप में शरीर के अन्दर गए पदार्थों और शरीर में दौड़ते खून का आपस में क्या सम्बन्ध हो सकता है।

खण्ड 5 का सम्बन्ध पेड़-पौधों के भोजन से है। इसमें पौधों की जड़ों की भूमिका प्रयोग 5 के माध्यम से उभरती है, जिसमें एक पौधे को सादे पानी में और एक को लाल पानी में रखकर देखा जाता है कि लाल पानी ऊपर तक पहुँचता है। यह भी तुलनाशुदा प्रयोग है। बाद में लाल स्याही में रखे पौधे को आड़ा काटकर बताना है कि पानी किस रास्ते ऊपर पहुँचता है। इस प्रयोग के बाद खेती-बाड़ी से जुड़े कुछ सवाल हैं।

अमरबेल का अध्ययन एक परजीवी पौधे के रूप में किया गया है। प्रयोग 7 में फफूँद का अवलोकन किया जाता है।

“लाल वैज्ञानिक” में अध्याय की शुरुआत भोजन के अवयवों से होती है और विभिन्न भोज्य पदार्थों में मण्ड का परीक्षण किया जाता है। मण्ड के अलावा अन्य पोषक तत्वों की उपस्थिति दर्शाने के लिए एक प्रयोग है और मण्ड पर लार के असर वाला प्रयोग है।

1987 के संस्करण में अध्याय (“पोषण – 1”) कमोबेश 1978 जैसा ही रहा, पर निम्नलिखित बदलाव दिखते हैं। पेड़-पौधों के भोजन वाला हिस्सा हटा दिया गया था (यह “पोषण – 2” यानी “पौधों का पोषण” का हिस्सा बना), प्रोटीन और वसा के परीक्षण जोड़े गए और सन्तुलित आहार की जानकारी जोड़ी गई।

2000 के संस्करण में अध्याय का नाम हुआ “हमारा भोजन” और जन्तुओं के भोजन वाला हिस्सा हटाया गया। इसी के साथ शाकाहारी वगैरह समूहीकरण भी गया। शेष अध्याय 1987 के समान रहा, सिर्फ “खिड़की

वाले पेट की कहानी” जुड़ी जिससे पाचन क्रिया को समझने के इतिहास की एक झलक मिलती है।

8. बीज और उनका समूहीकरण

शुरुआत खेती-बाड़ी में बीज के महत्व की चर्चा से होती है। प्रयोग 1 में उम्मीद है कि बच्चे फसलों व जंगली पौधों के बीज इकट्ठे करके उनके समूह बनाएँगे। इसके बाद कुछ बीजों की बाहरी बनावट और आन्तरिक रचना का अध्ययन है (प्रयोग 2 सेम, प्रयोग 3 अरण्डी और प्रयोग 4 मक्का के बीजों के बारे में है)। इसके अलावा कुछ बीजों का अध्ययन गृह कार्य के रूप में भी रखा गया है। अंकुर, भ्रूण वगैरह परिभाषित किए गए हैं। विभिन्न बीजों की आन्तरिक रचना की तुलना करवाई गई है।

“लाल वैज्ञानिक” में ऐसा कोई अध्याय नहीं था।

1987 के संस्करण में यह अध्याय “बीज और उनका अंकुरण” के नाम से था। अरण्डी के बीज का अध्ययन हटा दिया गया था और बीजों के अंकुरण की आवश्यकता सम्बन्धी प्रयोग जोड़ा गया था। अधोभूमिक (hypogeal) व ऊपरिभूमिक (epigeal) अंकुरण सम्बन्धी प्रयोग भी जोड़ा गया था।

2000 संस्करण में बीज में उपस्थित भोजन की खोजबीन को विस्तार देते हुए मण्ड के अलावा प्रोटीन और वसा की बात भी जोड़ी गई। बीजों के अंकुरण में छिलके के महत्व पर एक आलेख भी जोड़ा गया।

9. विद्युत - 1

टॉर्च बल्ब की रचना का अध्ययन, परिपथ बनाना और परिपथ की अवधारणा की समझ (प्रयोग 1), बल्ब में रोशनी पैदा होने का कारण, सेल की शक्ति और रोशनी का सम्बन्ध, चालू व बन्द परिपथ, विभिन्न परिपथों का विश्लेषण (मोटर या बस और टॉर्च वगैरह), विद्युत के चालक व कुचालक की पहचान (प्रयोग 2), परिपथ में स्विच का उपयोग, स्विच बनाना। अध्याय का मूल मकसद बच्चों को परिपथ की अवधारणा से परिचित कराना था।

जश्न-ए-तालीम

“लाल वैज्ञानिक” में यह अध्याय ऐसा ही था।

1987 में इस अध्याय में बल्ब को श्रेणी व समान्तर क्रम में जोड़कर परिपथ बनाने का प्रयोग जोड़ा गया था।

2000 के संस्करण में अध्याय का नाम हुआ “बल्ब जलाओ जगमग-जगमग”। इसमें टॉर्च का विश्लेषण ज़्यादा विस्तार से किया गया था और बल्ब में रोशनी पैदा होने के कारणों पर ज़्यादा विस्तार में प्रकाश डाला गया था। बल्ब के आविष्कार की कथा भी दी गई है। समान्तर व श्रेणी क्रम को कक्षा 6 से हटाकर सातवीं में डाला गया था।

10. गणक के खेल

बच्चों में स्थानीय मान और दशमलव के पुष्टिकरण के लिए यह अध्याय शामिल किया गया था। शिक्षक घनश्याम की कहानी सुनाते हैं जिससे दशमिक प्रणाली का परिचय मिलता है। इसके बाद छह तारों वाले गणक पर मोतियों की मदद से स्थानीय मान व दशमलव सम्बन्धी अभ्यास हैं।

1987 व 2000 के संस्करणों में घनश्याम की कहानी अध्याय में ही दे दी गई थी।

11. दूरी नापना

रोज़मर्रा के जीवन में दूरी नापने के तरीके, चीज़ों को पास-पास रखकर तुलना करना, किसी पैमाने की मदद से दो चीज़ों की तुलना, व्यक्तिगत (arbitrary) पैमाने, पैमाने की कहानी, मानक पैमाने की ज़रूरत, मानक पैमाने से परिचय, अपना पैमाना बनाना, अल्पतम माप, इकाइयाँ, पैमाने के उपयोग का सही तरीका, नापने का अभ्यास, अनुमान लगाना, अनुमान लगाने में दिक्कत, वक्र रेखा नापने के तरीके (धागे से और डिवाइडर से), बबूल के काँटे से डिवाइडर बनाना। अध्याय में पैमाने से नापने और अनुमान लगाकर उसकी जाँच करने को काफी महत्व दिया गया है।

“लाल वैज्ञानिक” के अध्याय में अनुमान लगाने की समस्याओं से शुरू करके मानक पैमाने के उपयोग का अभ्यास करवाया जाता था।

1987 का अध्याय मूलतः 1978 जैसा ही था। पर अब वक्र रेखा की लम्बाई सिर्फ घागे से नपवाई जाती है, इसलिए बबूल के काँटे का डिवाइडर भी अनावश्यक हो गया।

2000 में भी अध्याय 1987 जैसा ही रहा।

12. पृथक्करण

दैनिक जीवन के कुछ मिश्रण व शुद्ध पदार्थों पर विचार करने के बाद बच्चों को कुछ सरल मिश्रण दिए जाते हैं जिनमें से उन्हें पदार्थों को अलग-अलग करना है – ज़रूरी नहीं कि अलग किए गए पदार्थ शुद्ध हों (वे स्वयं भी मिश्रण हो सकते हैं)। इसके लिए बच्चे अपनी मनपसन्द विधियों का उपयोग करेंगे मगर इन विधियों का आधार बताएँगे। प्रयोग 1 यही है।

प्रयोग 2 में घुलनशीलता में अन्तर के आधार पर पृथक्करण किया जाता है और प्रयोग 3 में घुलनशीलता पर तापमान का असर देखकर बच्चों को यह समझना है कि इसका उपयोग पृथक्करण के लिए कैसे किया जा सकता है। विभिन्न पदार्थों की घुलनशीलता के आधार पर इन्हें अलग-अलग करने पर विचार करते हैं। इसके बाद प्रयोग 4, 5 और 6 में आसवन की विधि को समझने और व्यावहारिक तौर पर करने का प्रयास होता है।

प्रयोग 7 में विभिन्न ठोस पदार्थों पर ऊष्मा का प्रभाव देखा जाता है (पिघलना) और प्रयोग 8 में उर्ध्वपातन का अवलोकन किया जाता है। दैनिक जीवन में इसके उदाहरणों की बात होती है।

अन्त में प्रयोग 9 व 10 में चॉक और छन्ना कागज़ पर क्रोमेटोग्राफी विधि का अभ्यास है।

यह अध्याय काफी हद तक प्रयोग करने के हुनर के विकास पर आधारित है। घोल बनाना, उसे हिलाना, परखनली को पकड़ना, गर्म करना, कॉर्क में कॉच की नली पिरोना वगैरह क्रियाएँ की जाती हैं। हर जगह सावधानियों की ओर ध्यान दिलाया गया है।

ऐसा अध्याय “लाल वैज्ञानिक” में तो नहीं था मगर कार्डों के रूप में था।

जश्न-ए-तालीम

क्रोमेटोग्राफी की विधि में मामूली अन्तर के अलावा शेष अध्याय 1978 जैसा ही था।

1987 के संस्करण में इस अध्याय के दो भाग कर दिए गए थे। “पृथक्करण – 1” और “पृथक्करण – 2” को क्रमशः कक्षा 6 व 7 में रखा गया था। “पृथक्करण – 1” में घुलनशीलता व क्रोमेटोग्राफी सम्बन्धी प्रयोग हैं।

2000 के संस्करण में पृथक्करण का एक ही अध्याय कक्षा 6 में रहा और इसमें मात्र घुलनशीलता व क्रोमेटोग्राफी की विधियाँ रखी गईं। एक आधुनिक विधि के रूप में क्रोमेटोग्राफी के कुछ उपयोगों की जानकारी दी गई है। “रवे बनाना” एक अलग अध्याय के रूप में तैयार किया गया और घुलनशीलता को और गहराई से मात्रात्मक ढंग से समझने के लिए एक अन्य अध्याय विकसित किया गया। उस अध्याय में विभिन्न पदार्थों की घुलनशीलता को नापने के प्रयोग हैं।

13. जीवजगत में विविधता

सजीवों में पाई जाने वाली तरह-तरह की विविधता से सम्बन्धित अध्याय है। एक ही जीव के अन्दर विविधता, एक ही प्रजाति के दो जीवों के बीच विविधता सम्बन्धी अवलोकन की गतिविधियाँ शामिल की गई हैं। इन्सानों के बीच अन्तर, एक ही प्रजाति (जैसे कुत्ते या बछड़े) के दो जन्तुओं के बीच अन्तर, एक ही प्रजाति के पेड़ों के बीच अन्तर, एक ही पेड़ की दो पत्तियों के बीच अन्तर, व्यक्तियों की उँगलियों, अँगूठे की छाप में अन्तरों का अध्ययन करते-करते बच्चे ज़रूर इस बात के कायल हो जाते होंगे कि जीवजगत में विविधता ही विविधता है।

1987 के संस्करण में थोड़े कम उदाहरणों के साथ बात यही है।

2000 के संस्करण में विविधता का एहसास दिलाने के अलावा इस विविधता को जैव विकास के परिप्रेक्ष्य में रखने के लिए डी.डी.टी. और मच्छर की कहानी जोड़ी गई है। फसलों में विविधता की ओर भी ध्यान दिलाया गया है और पालतूकरण की प्रक्रिया की ओर इशारा किया गया है।

“लाल वैज्ञानिक” का अध्याय 1978 की *बाल वैज्ञानिक* जैसा ही था।

14. घट-बढ़ और सन्निकटन

मापन में घट-बढ़ एक बुनियादी अवधारणा है। अध्याय की शुरुआत घट-बढ़ के आम अवलोकनों (गिल्ली-डण्डे के खेल) से होती है। इसके बाद घट-बढ़ और गलत नाप में अन्तर किया जाता है। प्रयोग 1 में एक ही छात्र द्वारा कक्षा की लम्बाई दस बार नापी जाती है जबकि प्रयोग 2 में सारे बच्चे एक दरवाज़े की ऊँचाई नापते हैं। इन नापों में गलत नापों को छॉटने के बाद घट-बढ़ के कारणों पर विचार शुरू होता है। इसके लिए बच्चों द्वारा नापे गए दरवाज़े के आँकड़ों को न लेकर पुस्तक में दिए गए आँकड़े लिए जाते हैं। इसी बीच इस बात पर भी विचार चलता है कि नाप कितनी बारीकी से लिखा जाना चाहिए और पैमाने के अल्पतम नाप से छोटा नाप लिखना क्या उचित है। इस समस्या से निपटने के लिए सन्निकटन की बात होती है।

अब चर्चा होती है कि घट-बढ़ होने पर यह निर्णय कैसे किया जाए कि सही दूरी क्या है। इसके लिए बहुसम्मत मान और औसत के तरीके बताए गए हैं। बहुसम्मत मान निकालने के लिए छात्र स्तम्भालेख बनाना सीखते हैं। इसके बाद अपने द्वारा नापे गए दरवाज़े की ऊँचाई के आँकड़ों का स्तम्भालेख बनाते हैं, बहुसम्मत मान निकालते हैं, औसत निकालते हैं।

मापन में बारीकी और मापन के उद्देश्य के बीच सम्बन्ध स्थापित किया गया है और नापने व घट-बढ़ के कई अभ्यास किए जाते हैं।

1987 के अध्याय में दो मुख्य परिवर्तन किए गए थे। पहला परिवर्तन तो यह था कि घट-बढ़ का प्रबन्धन करने के लिए मात्र औसत निकालने की विधि शामिल की गई थी – बहुसम्मत मान नहीं रखा गया था। दूसरा परिवर्तन अध्याय के स्वरूप में था। घट-बढ़ के कारणों का संकेत अध्याय में दिया गया था और सही नाप की समस्या को ज़्यादा विस्तार में देखा गया था। सन्निकटन का अभ्यास भी ज़्यादा है। 2000 के संस्करण में यह लगभग ऐसा ही रहा।

“लाल वैज्ञानिक” में अध्याय मोटे तौर पर 1978 के समान ही था। नापने में होने वाली गलतियाँ इसी अध्याय का हिस्सा थीं जबकि बाद के संस्करणों में इन्हें “दूरी नापना” में स्थानान्तरित कर दिया गया।

15. मिट्टी, पत्थर और चट्टानें

परिभ्रमण पर आधारित यह अध्याय मिट्टी और पत्थरों के उपयोग की चर्चा से शुरू होता है। परिभ्रमण के दौरान मिट्टी, पत्थरों व चट्टानों से सम्बन्धित अवलोकन किए जाते हैं जिनसे उनकी रचना व उत्पत्ति को समझने में मदद मिले। खास तौर से मिट्टी की विभिन्न परतों पर ध्यान दिलाया जाता है। परिभ्रमण में मिट्टी व पत्थरों के नमूने बटोरे जाते हैं।

स्कूल वापिस आकर अलग-अलग मिट्टियों का अध्ययन किया जाता है -
- कणों के आकार और जीवित वस्तुओं या सड़े-गले पदार्थों की उपस्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। एक प्रयोग (प्रयोग 3) में मिट्टी को पानी में घोलकर बैठने देते हैं और उसमें विभिन्न आकार के कणों का अवलोकन करते हैं। इसी प्रयोग को थोड़ा आगे बढ़ाया गया है - ऊपर का पानी निथारकर मिट्टी को सूखने देते हैं और उम्मीद है कि इससे पत्थर बनने की क्रिया को समझने में मदद मिलेगी।

प्रयोग 4 में पत्थरों और चट्टानों का अध्ययन किया जाता है। अध्ययन के लिए गुणधर्म छात्रों को खुद चुनने हैं। गिट्टियों को तोड़कर परतें देखने का प्रयास होता है। चट्टानों के तीन प्रकार (आग्नेय, तलछटी और कायान्तरित) चित्रों के माध्यम से बताया गए हैं। फिर परिभ्रमण के दौरान संग्रहित पत्थरों का समूहीकरण इसी अनुसार किया जाता है।

चट्टानें कैसे बनती हैं, इसे समझाने के लिए शिक्षकों से उम्मीद है कि वे पृथ्वी के इतिहास की कहानी सुनाएँगे। इसके बाद विभिन्न मॉडलों के आधार पर चट्टानों का निर्माण समझने का प्रयास है। ईंट के भट्टे के रूपक के आधार पर आग्नेय चट्टानों की उत्पत्ति को समझने की कोशिश है। तलछटी चट्टान के लिए प्रयोग 3 के बाद सूखी हुई मिट्टी का अवलोकन करने को कहा गया है। कायान्तरित चट्टानों के मामले में गर्मी व दबाव की बात बताई गई है।

मिट्टी की उत्पत्ति समझने के लिए अपरदन की विभिन्न प्रक्रियाओं पर ध्यान दिलाने के लिए पत्थरों को आपस में रगड़कर देखना, काँच पर वाइपर से पड़ने वाले निशानों के अवलोकन, पत्थर को रेगमाल पर रगड़ना,

संगमरमर पर अम्ल की क्रिया, बारिश का पानी गिरने से पत्थर का कटना, पत्थरों के चूरे में और इस चूरे व मिट्टी तथा चूरे व गोबर के मिश्रण में बीज उगाने की कोशिश, पत्थरों के परिमाण व शक्तों पर ध्यान देना, कुएँ के पत्थर पर रस्सी के निशान वगैरह अवलोकनों का सहारा लिया गया है। इन सबके आधार पर गुरुजी से चर्चा करके छात्रों को चट्टान से मिट्टी बनने की क्रिया पर एक कहानी लिखनी है।

अन्त में कुछ सवाल खोजबीन के लिए दिए गए हैं।

1987 व 2000 के संस्करणों में यह अध्याय नहीं रखा गया था।

16. समूह में समूह - उपसमूह बनाना

समूह की अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए इस अध्याय में उपसमूह बनाने का काफी अभ्यास है। कक्षा के विद्यार्थियों के समूह बनाना, उनके उपसमूह बनाना, यह समझना कि समूहीकरण में एक क्रमिकता है – उपसमूह के सभी सदस्यों में मूल समूह और उपसमूह दोनों के गुणधर्म होते हैं। अन्त में “चीज़ बूझो” खेल रखा गया है जिसमें एक टोली दी गई वस्तुओं में से कोई चीज़ सोचती है और दूसरी टोली को उससे नियमानुसार सवाल पूछते-पूछते इस चीज़ का पता लगाना है।

कुछ अभ्यासों में फेरबदल करके 1987 व 2000 में भी अध्याय ऐसा ही रहा। “लाल वैज्ञानिक” में ऐसा कोई अध्याय नहीं था।

17. संवेदनशीलता

कई उदाहरणों से बच्चे यह देखते हैं कि सजीवों में उद्दीपन मिलने पर प्रतिक्रिया होती है। इस गुण को संवेदनशीलता के रूप में परिभाषित किया गया है। संवेदनशीलता के महत्व को भूख-प्यास के उदाहरण से उभारा जाता है। फिर प्रयोग 1 में स्पर्श की अनुभूति को समझने के लिए हाथ के अलग-अलग हिस्सों की संवेदनशीलता का नक्शा बनाया जाता है। ताप की अनुभूति को खटमल का उदाहरण देकर समझाया गया है और इस अनुभूति में गफलत सम्बन्धी प्रयोग किया गया है। इसके बाद जीभ के विभिन्न

जश्न-ए-तालीम

हिस्सों पर स्वादों की जाँच करके एक नक्शा बनाया जाता है। गन्ध की अनुभूति से सम्बन्धित एक प्रयोग है।

पेड़-पौधों की संवेदनशीलता को समझने के लिए दो प्रयोग हैं – पौधों में प्रकाश के प्रति संवेदनशीलता और जड़ों में गुरुत्व के प्रति संवेदनशीलता। दोनों प्रयोगों में हाथों के हुनर के विकास की काफी गुंजाइश है।

अन्त में संवेदनशीलता सम्बन्धी कुछ सवाल हैं जिनमें आम जीवन के कुछ उदाहरणों की चर्चा है।

“लाल वैज्ञानिक” में भी अध्याय ऐसा ही था। गृहकार्य के रूप में खूब अभ्यास दिए गए थे।

1987 के संस्करण में अध्याय का ढाँचा तो उपरोक्तानुसार ही रहा मगर प्रयोगों में मामूली फेरबदल किए गए। जैसे स्पर्श की अनुभूति का प्रयोग हाथ की बजाय पैरों के तलुए पर किया जाता है। जीभ पर स्वाद की अनुभूति वाले प्रयोग में कुछ सावधानियाँ जोड़ी गईं और दृष्टि से सम्बन्धित एक प्रयोग जोड़ा गया। शेष वैसा ही है।

2000 के संस्करण में कई परिवर्तन किए गए। सबसे पहला तो यह कि इस अध्याय को दो भागों में बाँट दिया गया। पहला भाग “संवेदनशीलता यानी आसपास की खोज-खबर” कक्षा 6 में रहा और दूसरा भाग “सजीवों में संवेदनशीलता” कक्षा 7 में रखा गया।

कक्षा 6 का अध्याय मनुष्यों की संवेदनशीलता से सम्बन्धित है। सबसे पहले बच्चों का ध्यान उन बातों की ओर दिलवाया जाता है जिनके प्रति हम संवेदनशील हैं। इसके बाद संवेदी अंगों की बात करके उनसे सम्बन्धित प्रयोग हैं।

चमड़ी से स्पर्श और ताप की अनुभूति सम्बन्धी प्रयोग दिए गए हैं और यह जानकारी दी गई है कि नेत्रहीन लोग पढ़ने के लिए स्पर्श की अनुभूति का सहारा लेते हैं।

स्वाद की अनुभूति में जीभ के स्वाद-नक्शे वाला प्रयोग नहीं रखा गया है मगर गन्ध और स्वाद की मिली-जुली अनुभूति का एक प्रयोग है।

दृष्टि से सम्बन्धित तीन और सुनने से सम्बन्धित एक प्रयोग है।

कक्षा 7

1. एक मज़ेदार खेल

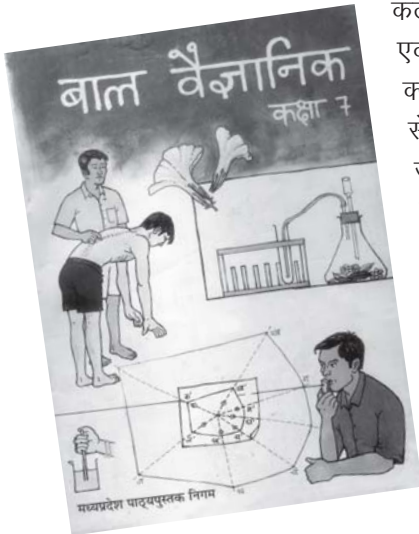
माचिस की तीलियों और वॉल्व ट्यूब के टुकड़ों को जोड़कर विविध आकृतियाँ बनाई जाती हैं और कुछ आकृतियों के गुणों को पहचानने की कोशिश होती है। आकृतियाँ त्रि-आयामी भी होती हैं। हाथों के हुनर के विकास की काफी गुंजाइश है। उम्मीद है कि बच्चे कई अन्य आकृतियाँ भी बनाएँगे।

2. जल - मृदु और कठोर

पानी में कठोरता की जाँच से सम्बन्धित अध्याय है। साबुन के साथ झाग पैदा करने के गुण की मदद से कठोरता को परखा जाता है। आसुत पानी से तुलना करके विभिन्न स्रोतों के पानी की कठोरता की जाँच की जाती है। इसके बाद कुछ चुनिन्दा लवणों को आसुत पानी में एक-एक करके घोलकर कठोरता की जाँच की जाती है और लवणों का समूहीकरण किया जाता है। इन सारे प्रयोगों में तुलना के लिए मानक (blank) की धारणा को उभारा गया है।

कठोर व मृदु जल को परिभाषित करने के बाद एक दिलचस्प चर्चा शुद्धता को लेकर होती है: क्या मृदु पानी शुद्ध है? एक प्रयोग के माध्यम से अस्थायी व स्थायी कठोरता में भेद किया जाता है। कठोरता दूर करने की रासायनिक विधि का भी प्रयोग है। अन्त में सवालों के माध्यम से दैनिक जीवन तथा औद्योगिक कार्यों में उपयोग की दृष्टि से कठोरता का महत्व स्पष्ट किया गया है।

अध्याय में रासायनिक प्रयोग करते हुए रखी जाने वाली सावधानियों का अच्छा अभ्यास होता है।



जश्न-ए-तालीम

वर्षा जल को आसुत पानी के रूप में एकत्रित करने का निर्देश है।

कार्डों के रूप में जो अध्याय था वह 1978 के मुकाबले सरल था। पहले प्रयोग में अलग-अलग स्रोतों के पानी की जाँच करते थे, दूसरे प्रयोग में विभिन्न लवणों के साथ प्रयोग करते थे (उसी में स्थायी व अस्थायी कठोरता भी देख लेते हैं), तथा तीसरे प्रयोग में कठोरता दूर करने का उपाय था।

1987 के संस्करण में कुछ परिवर्तन दिखते हैं। एक तो घरेलू कार्यों में डिटरजेंट के बढ़ते महत्व को देखते हुए साबुन के अलावा डिटरजेंट के साथ भी प्रयोग किया जाता है। दूसरा, साबुन का घोल डालने के बाद झाग के अलावा अवक्षेप पर भी ध्यान देने को कहा गया है और एक प्रयोग के माध्यम से झाग व अवक्षेप का सम्बन्ध खोजने की कोशिश की जाती है। अस्थायी कठोरता वाला हिस्सा हटा दिया गया है।

सन् 2000 में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

3. जड़ और पत्ती

परिभ्रमण आधारित इस अध्याय में समूहीकरण की मदद से नियम खोजने का बढ़िया अभ्यास है। सबसे पहले बच्चे पौधों की पत्तियाँ और जड़ें इकट्ठी करते हैं। कोशिश की जाती है कि उन्हीं पौधों के बीज भी मिल सकें या उनके बीजपत्रों की संख्या मालूम की जा सके।

जड़ों के अध्ययन में मूसला व झकड़ा जड़ों की पहचान करके उसके आधार पर पौधों के समूह बनाए जाते हैं। पत्तियों के शिरा विन्यास के आधार पर पौधों को दो समूहों में बाँटा जाता है। सरल व संयुक्त पत्तियों के आधार पर समूह बनाए जाते हैं। चौथा समूहीकरण होता है बीजपत्रों की संख्या के आधार पर।

जड़ों के प्रकार, पत्तियों के शिरा विन्यास, पत्तियों के प्रकार (सरल या संयुक्त) और बीजपत्रों की संख्या के आधार पर बने समूहों की सामूहिक तालिका बनाई जाती है। इस तालिका के विवेचन से बच्चे इन गुणधर्मों के

परस्पर सम्बन्ध खोजते हैं, नियम निकालते हैं। इन नियमों की मदद से वे कुछ पौधों के बारे में भविष्यवाणी भी करते हैं।

अन्त में एकत्रित पत्तियों व जड़ों की एक प्रदर्शनी तैयार की जाती है।

1987 के संस्करण में अध्याय वैसा का वैसा कक्षा 6 में रखा गया था।

2000 के संस्करण में भी इसे “जड़, पत्ती और बीज” के नाम से कक्षा 6 में ही रखा गया था।

4. कीड़ों की दुनिया

इस अध्याय में कीड़ों से आशय सन्धिपाद (आर्थ्रोपोडा वर्ग) जन्तुओं से है। पहले कीड़ों की सूची बनाई जाती है और उनके दिखने के मौसम के अनुसार समूह बनाए जाते हैं।

परिभ्रमण पर जाकर तमाम किस्म के कीड़े पकड़े जाते हैं; पकड़ते समय उनके रहने के स्थान व भोजन पर ध्यान देने को कहा गया है। स्कूल लौटकर पहला काम कीड़ों के रहने की जगह की सूची बनाने का होता है। इनका समूहीकरण किया जाता है।

कीड़ों की बाहरी रचना का अध्ययन किया जाता है। खास तौर से टाँगों के जोड़ पर ध्यान दिलाया जाता है। टाँगों की संख्या, पंखों की उपस्थिति, शरीर के भागों की संख्या के आधार पर समूहीकरण करके उनके बीच परस्पर सम्बन्धों की खोज की जाती है, नियम बनाए जाते हैं। इन नियमों को अलग-अलग जन्तुओं पर लागू करके परखा जाता है।

कीड़ों में नकल (mimicry) की ओर भी ध्यान दिलाया गया है।

अन्त में कीड़ों की प्रदर्शनी लगाने का तरीका बताया गया है।

5. फसलों के दुश्मन

खरीफ और रबी के मौसम में अलग-अलग परिभ्रमण व सर्वेक्षण करके फसलों को लगने वाली बीमारियों, नुकसानदायक कीड़ों और खरपतवार के बारे में जानकारी एकत्रित की जाती है और उनसे सुरक्षा व रोकथाम के उपायों के बारे में चर्चा की जाती है। परिभ्रमण के दौरान सुझाव दिया गया

जश्न-ए-तालीम

है कि फसलों के प्रत्यक्ष अवलोकन के अलावा किसानों, ग्राम सेवक या कृषि विस्तार अधिकारी से भी चर्चा की जाए।

1987 के संस्करण में यह अध्याय “फसलों की सुरक्षा” के नाम से कक्षा 8 में रखा गया था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय की विषय-वस्तु को काफी बदले हुए रूप में कक्षा 8 के अध्याय “फसलों के सवाल-जवाब – 2” में शामिल कर दिया गया था।

6. अपनी हड्डियाँ पहचानो

टूटी हड्डी की चर्चा से शुरू करके यह अध्याय बच्चों को हड्डियों और जोड़ों से परिचित कराता है। इसके लिए विधि यह अपनाई गई है कि बच्चे स्वयं अपनी हड्डियों को महसूस करें और पुस्तक व किट कॉपी में दिए गए चित्रों की मदद से उन्हें पहचानते चलें। इसमें एक्स-रे चित्रों की मदद ली गई है। हड्डियों के जोड़ों को विभिन्न मॉडलों के आधार पर समझाया गया है। हड्डियाँ पहचानने के साथ किट कॉपी में कंकाल के चित्र में रंग भी भरते जाते हैं।

वर्गीकरण में रीढ़ की हड्डी का महत्व समझाते हुए यह भी बताया गया है कि किसी जन्तु में रीढ़ की हड्डी की उपस्थिति का पता कैसे लगाया जा सकता है।

1987 के संस्करण में “शरीर के आन्तरिक अंग – 1” में हड्डियों के अलावा माँसपेशियों, कण्डराओं व उपास्थियों की छानबीन भी की जाती है। कंकाल व माँसपेशियों से सम्बन्धित रोगों की जानकारी दी गई है। हड्डी टूटने पर प्राथमिक उपचार की जानकारी भी दी गई है।

2000 के संस्करण में अध्याय अपरिवर्तित रहा। “लाल वैज्ञानिक” में ऐसा कोई अध्याय नहीं था।

7. नक्शा बनाना सीखो

इस अध्याय में स्थिति बताने के आम तरीकों से शुरू करके कार्तीय निर्देशांकों से परिचित कराया जाता है और इनका अभ्यास होता है। कक्षा

में कतारों में बैठे छात्रों का उदाहरण लेकर यह कार्य होता है। यह स्पष्ट होता है कि एक नियमित ग्रिड में स्थिति बताने के लिए कार्तीय निर्देशांकों का उपयोग बखूबी हो सकता है। चौखाने कागज़ का उपयोग तथा अक्षों की बात होती है। इसके बाद यह समस्या प्रस्तुत होती है कि बिखरी हुई वस्तुओं की स्थिति बताने के लिए क्या करेंगे। तब ध्रुवीय निर्देशांकों की बात होती है और मूल बिन्दु व सन्दर्भ रेखा उभरती है। दिशा इंगित करने की ज़रूरत भी सामने आती है। ध्रुवीय निर्देशांक का अभ्यास होता है। कार्तीय व ध्रुवीय निर्देशांकों के तुलनात्मक लाभों की ओर ध्यान दिलाया जाता है। इसके बाद नक्शा बनाने की गतिविधि शुरू होती है। पैमाना चुनना व लिखना, नक्शे के लिए बिन्दुओं का चुनाव, बिन्दुओं का अंकन वगैरह करके किसी जगह का नक्शा बनाया जाता है। बने हुए नक्शे की जाँच का तरीका सुझाया गया है और दूरियाँ बनाने के लिए बाँस की खपच्चियों से एक बड़ा डिवाइडर (देवयन्त्र – किशोर भारती के एक कार्यकर्ता देवतादीन मिश्र के नाम पर) बनाने की विधि दी गई है। नक्शे में पैमाने के आधार पर दूरियाँ पता करने के अभ्यास हैं।

1987 के संस्करण में ध्रुवीय निर्देशांक हटा दिए गए थे। कार्तीय निर्देशांक के बाद आकृतियों को छोटा-बड़ा करने का अभ्यास है। पहले चौखानों की मदद से एक बिल्ली की आकृति को छोटा किया जाता है। फिर बगैर चौखानों के आकृति को छोटा-बड़ा करने का अभ्यास है। इसमें मूल बिन्दु से आकृति के अलग-अलग बिन्दुओं को जोड़ने वाली रेखाओं को उसी सीध में छोटा-बड़ा करके आकृति को छोटा-बड़ा किया जाता है। फिर आते हैं खेत के नक्शे पर। नक्शा बनाने के बाद उसका क्षेत्रफल भी निकाला जाता है। गौरतलब है कि 1987/2000 के संस्करणों में क्षेत्रफल का अध्याय “नक्शा बनाना सीखो” से पहले था। शेष अध्याय 1978 जैसा ही है।

2000 के संस्करण में अध्याय 1987 जैसा ही था।

1972 में यह अध्याय “स्थान और सापेक्ष स्थिति” के नाम से था। इसमें कार्तीय व ध्रुवीय निर्देशांक सिखाए जाते थे और इनका अभ्यास किया जाता था। ध्रुवीय निर्देशांकों के अभ्यास के लिए एक खज़ाने की खोज का खेल भी था। इसमें नक्शा नहीं बनाते थे।

8. क्षेत्रफल

यह मापन जृंखला का अध्याय है। बात की शुरुआत एक चित्र से होती है जिसमें कई खेत दिखाए गए हैं जिनके छोटे-बड़े होने का अन्दाज़ देखकर नहीं लगाया जा सकता। इन खेतों में बराबर आकार की चौकोर क्यारियाँ बनाकर तुलना की जाती है। खेत नापने के स्थानीय तरीकों पर भी चर्चा है। इसमें इस बात को उभारा जाता है कि खेतों के नाप अक्सर बोए गए बीज की मात्रा के आधार पर बताए जाते हैं।

क्षेत्रफल नापने की इकाइयों से परिचय के बाद चौखाने कागज़ की मदद से अनियमित आकृतियों का क्षेत्रफल नापा जाता है – चौखानों के साइज़ और नाप में सटीकता का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। कई गतिविधियों की मदद से आयत के क्षेत्रफल का सूत्र निकाला जाता है। परिमिति व क्षेत्रफल के सम्बन्ध की खोजबीन होती है और क्षेत्रफल नापने का खूब अभ्यास किया जाता है। “नक्शा बनाना सीखो” अध्याय में बनाए गए नक्शे का क्षेत्रफल इस अध्याय में निकलवाया गया है।

1987 के संस्करण में अध्याय कमोबेश ऐसा ही था, अभ्यास अधिक थे।

2000 के संस्करण में भी शुरुआत खेतों की तुलना की समस्या से होती है, मगर इस तुलना का तरीका फौरन नहीं बताया जाता। इस समस्या को सुलझाने के लिए पहले गतिविधियों के माध्यम से क्षेत्रफल की एक समझ बनाई जाती है और उसे नापने के तरीके बताए जाते हैं। इसके बाद खेतों की तुलना की जाती है। चौखानों की मदद से अनियमित आकृतियों के क्षेत्रफल निकाले जाते हैं और आयत के क्षेत्रफल का सूत्र निकाला जाता है। परिमिति और क्षेत्रफल सम्बन्धी कई गतिविधियाँ हैं। क्षेत्रफल संरक्षण की भी एक गतिविधि है।

1972 के संस्करण में कागज़ की फर्शियों का उपयोग सतहों को ढँकने के लिए करके क्षेत्रफल की अवधारणा स्पष्ट की जाती थी। इन फर्शियों और सतहों पर अलग-अलग नमूने बने होते थे ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि क्षेत्रफल का सम्बन्ध मात्र सतह के फैलाव से है। बाद में फर्शियों का स्थान चौखानेदार कागज़ ले लेता था।

9. विद्युत – 2

यह अध्याय बल्ब व सेल के समान्तर व क्षेणी क्रम, द्रवों की चालकता और विद्युत के रासायनिक प्रभावों से सम्बन्धित है। विद्युत के प्रयोग सम्बन्धी ज़रूरी सावधानियाँ बताने के बाद एक सरल परिपथ बनाया जाता है। परिपथों को संकेतों व रेखाचित्रों की मदद से दिखाने की शुरुआत होती है। प्रयोग 1 में दो बल्बों और एक सेल का परिपथ बनाया जाता है – बल्बों को श्रेणी व समान्तर क्रम में जोड़ा जाता है। इसमें बल्ब की रोशनी की तुलना सामान्य परिपथ से की जाती है। एक बल्ब लेकर सेलों को श्रेणी व समान्तर क्रम में जोड़ा जाता है। दो बल्बों और दो सेलों के तरह-तरह के परिपथ बनाए जाते हैं। एक बल्ब व एक सेल से परिपथ बनाकर सेल के छोर पलटकर देखना, दो सेलों वाले परिपथ में सेलों को उलटा जोड़ देना, फिर इसी परिपथ में सेलों को पलटे बगैर एक तार जोड़कर बल्ब जलाने से परिपथ की समझ पुख्ता होती है।

प्रयोग 7 में द्रवों में चालक-कुचालक का परीक्षण किया जाता है और यह भी देखा जाता है कि क्या चालक द्रव में विद्युत प्रवाहित होने पर कोई (रासायनिक) क्रिया भी होती है। प्रयोग 8, 9 और 10 में विद्युत के रासायनिक प्रभावों का अवलोकन किया जाता है। प्रयोग 11 में लघुपथन तथा प्रयोग 12 और 13 में फ्यूज़ की क्रियाविधि स्पष्ट होती है।

कार्डों पर विद्युत के अध्याय में दरअसल “विद्युत – 2” और “विद्युत – 3” का समावेश था। उसमें समान्तर व श्रेणी क्रम के परिपथ, द्रवों की चालकता, विद्युत के रासायनिक प्रभाव और विद्युत के चुम्बकीय प्रभाव थे।

1987 में विषय-वस्तु तो यही थी मगर कुछ प्रयोगों को सरल बनाया गया था, कुछ प्रयोगों की वैकल्पिक विधियाँ दी गई थीं और प्रस्तुतीकरण में परिवर्तन किए गए थे। एक तो परिपथों में स्विच जोड़ दिया गया था, दूसरा परिपथ में उपयोग किए जाने वाले प्रतीक स्पष्ट रूप से बताए गए थे और द्रव की चालकता पता करने के तीन तरीके दिए गए थे। श्रेणी व समान्तर क्रम में बल्बों की रोशनी की तुलना के लिए बल्ब को चिन्हित करने की व्यवस्था की गई थी।

जश्न-ए-तालीम

प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से 2000 के संस्करण का अध्याय और भी अलग बना। इसके अलावा इसमें सेल के आविष्कार की कहानी दी गई थी और अपना सेल बनाने का प्रयोग जोड़ा गया था।

10. आयतन

मापन के इस एक और अध्याय की शुरुआत आयतन के बारे में बच्चों की समझ को उभारकर होती है। आयतन नापने के लिए एक बीकर पर ग्राफ पट्टी चिपकाकर एक नपनाघट बनाया जाता है जिसमें माचिस के खोके से पानी भरकर निशान लगाए जाते हैं। अमानक पैमाने की समस्या प्रस्तुत करके मानक पैमाने से परिचय कराया जाता है। अध्याय का अवधारणात्मक ढाँचा यह है कि बच्चे अलग-अलग पात्रों (परखनली, बोटल वगैरह) से अलग-अलग अल्पतम नाप के पैमाने बनाते हैं और उनसे नाप-नापकर आयतन का एक मानसिक चित्र निर्मित करते हैं। इसी तरह से वे ठोस का आयतन नापने का तरीका भी विकसित करते हैं जो द्रव के विस्थापन पर आधारित है। अन्त में घनाकार चीज़ों के आयतन का सूत्र भी निकाला जाता है। कई आंकिक सवालों की मदद से समझ को पुख्ता किया जाता है। नपनाघट बनाते हुए आयतन की समझ तो बनती ही है, हाथों के कौशल का विकास भी होता है।

1987 में अध्याय का अवधारणात्मक ढाँचा यही रहा, पर बनाए जाने वाले नपनाघटों की संख्या कम कर दी गई थी।

2000 के संस्करण में नपनाघट बनाने व आयतन का सूत्र निकालने के अलावा आयतन के संरक्षण पर भी कुछ अभ्यास जोड़े गए थे।

“लाल वैज्ञानिक” में अध्याय था “आयतन और धारिता”। इसमें द्रव के विस्थापन के आधार पर आयतन को परिभाषित करने के बाद इसी विधि का उपयोग आयतन नापने के लिए किया जाता था। फिर घनाकार गुटके के आयतन का सूत्र समझाया गया था। अन्त में धारिता के कुछ प्रयोग थे।

11. जन्तुओं की बाह्य रचना

यह अध्याय बच्चों के परिवेश में पाए जाने वाले जन्तुओं का अवलोकन

करने, उनकी बाह्य रचना के विभिन्न लक्षणों को पहचानने और उनमें कुछ पैटर्न व अन्तर्सम्बन्ध खोजने पर आधारित है। अध्याय में कीड़ों से इतर जन्तुओं के अध्ययन पर जोर है। इस अध्याय में प्रत्यक्ष अवलोकन के अलावा बच्चों के पास उपलब्ध पूर्व जानकारी को भी आधार बनाया गया है। गौरतलब है कि इस अध्याय में परिभ्रमण नहीं है।

इसमें जन्तुओं के साइज़ और आकृति में विविधता पर ध्यान दिलाया जाता है। जन्तुओं की आँख, कान, पूँछ, चमड़ी पर आवरण, लिंग भेद के बाहरी लक्षणों, खण्डित-अखण्डित शरीर, टाँगों की संख्या, टाँगों में विशेष रूपान्तरणों वगैरह का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न लक्षणों के बीच परस्पर सम्बन्ध खोजकर कुछ नियम विकसित करने का प्रयास होता है। जैसे, चमड़ी पर आवरण और टाँगों की संख्या का उदाहरण लिया गया है। बच्चों से अपेक्षा है कि वे ऐसे कई नियम सोचेंगे और परखेंगे।

1987 के संस्करण में “कीड़ों की दुनिया” और “जन्तुओं की बाह्य रचना” अध्यायों को मिलाकर एक नया अध्याय “जन्तुओं की दुनिया” तैयार किया गया था। इसमें लगभग पहले वाले गुणधर्मों के आधार पर जन्तुओं का अध्ययन किया जाता है। कीड़ों के बारे में टाँगों की संख्या और पंखों की उपस्थिति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जाता है, मगर अन्य अन्तर्सम्बन्ध व नियम खोजने का हिस्सा छोड़ दिया गया है।

2000 के संस्करण में इस अध्याय का स्वरूप काफी बदला गया था। इसमें तीन जन्तुओं (केंचुआ, टिड्डा और मछली) का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। परिभ्रमण पर जाकर ढेर सारे जन्तुओं का अध्ययन किया जाता है। उनके रहने के स्थान और भोजन वगैरह पर ध्यान दिया जाता है। भोजन के आधार पर शाकाहारी, माँसाहारी वगैरह समूह बनाए जाते हैं। गुणधर्मों के परस्पर सम्बन्धों को तिलांजलि दे दी गई है। इसमें एक पाठ्य समाग्री “हमारा शरीर: जीवों का अड़्डा” जोड़ी गई थी।

12. ग्राफ बनाना सीखो

इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य ग्राफ बनाना सिखाना है। ग्राफ से जानकारी प्राप्त करने का सीमित अभ्यास भी किया गया है।

जश्न-ए-तालीम

एक प्रयोग में एक स्प्रिंग पर अलग-अलग वज़न लटकाकर स्प्रिंग की लम्बाई और लटकते वज़न के आँकड़े नोट किए जाते हैं। स्प्रिंग की लम्बाई के बराबर कागज़ की पट्टियाँ काट-काटकर एक स्तम्भालेख बनाया जाता है। इस विधि की सीमा स्पष्ट करके अध्याय ग्राफ की ओर बढ़ता है। वर्ग की भुजा और कर्ण नापकर आँकड़ों की तालिका बनाई जाती है और उनका ग्राफ बनाया जाता है। इन आँकड़ों को उदाहरण के रूप में लेकर ग्राफ पर अक्ष बनाना, मूल बिन्दु, ग्राफ के बिन्दु लगाना, और ग्राफ रेखा बनाना वगैरह क्रम से सिखाए गए हैं। ग्राफ से जानकारी प्राप्त करने का तरीका बताया गया है। इस तरह प्राप्त जानकारी की तुलना वास्तविक प्रयोग के आँकड़ों से करने को भी कहा गया है। स्प्रिंग की लम्बाई और उस पर लटकते भार का ग्राफ बनवाया गया है। यहाँ पैमाना चुनने की बात भी आ जाती है। पैमाने चुनने व अक्ष चुनने के सिद्धान्त बताए गए हैं। ग्राफ रेखा खींचने में सन्निकटन की बात भी की गई है। यह संकेत दिया गया है कि सारे ग्राफ सरल रेखा ग्राफ नहीं होते। कुछ अभ्यास भी दिए गए हैं।

कार्डों में इस अध्याय का शीर्षक था “लेखाचित्र”। इस अध्याय में विज्ञान में किन्हीं दो राशियों के बीच सम्बन्ध जानने के लिए ग्राफ बनाना सीखने की बात होती थी। बच्चों को इस बात से परिचित कराया जाता था कि कुछ राशियों में सम्बन्ध होता है, जबकि कुछ में नहीं होता। खूब सारे (कम से कम 20) ग्राफ बनाने का अभ्यास होता था। इसमें सरल रेखा व वक्र रेखा दोनों तरह के ग्राफ थे।

1987 के संस्करण में ग्राफ बनाने की शुरुआत वृत्त की परिधि और व्यास से होती है और इसके लिए आँकड़े निकालने का काम बच्चों को नहीं करना है। ये आँकड़े पुस्तक में दिए गए हैं। इन आँकड़ों का उदाहरण लेकर ग्राफ बनाने की विधि बिन्दुवार बताई गई है। यहीं पर बाह्यगणन (extrapolation) की बात की गई है। वर्ग की भुजा और कर्ण, स्प्रिंग की लम्बाई और लटकते भार का ग्राफ बनवाया गया है। एक ग्राफ (वर्ग की भुजा और उसका क्षेत्रफल) वक्र रेखा वाला भी दिया गया है जिसे पढ़कर जानकारी प्राप्त करने का अभ्यास है।

2000 के संस्करण में एक परिवर्तन यह किया गया था कि अध्याय की

शुरुआत जानकारी को प्रस्तुत करने के तरीकों से होती है, ग्राफ जिनमें से एक है। उदाहरण बदले गए हैं मगर अध्याय वैसा ही है। ऐसे ग्राफों के उदाहरण लिए गए हैं जो प्रायः बच्चों को देखने को मिल सकते हैं। जैसे क्रिकेट में रन बनने की गति का ग्राफ। दैनिक जीवन के कुछ उदाहरण भी लिए गए हैं, जैसे स्कूलों में दर्ज संख्या और लिंग अनुपात का बदलना। ग्राफ पढ़ने के अभ्यास ज़्यादा हैं।

13. वृद्धि

इस अध्याय में सजीवों के एक लक्षण के रूप में वृद्धि का अध्ययन किया जाता है। तीन प्रयोग हैं। प्रयोग 1 में दो बीज बोकर अंकुरण से लेकर करीब बीस दिन तक पौधों की लम्बाई नापकर उनकी वृद्धि की तुलना की गई है। तुलना के लिए ग्राफ बनाए जाते हैं। ग्राफ के आधार पर वृद्धि सम्बन्धी कुछ सवाल पूछे गए हैं और वृद्धि के सिग्मानुमा ग्राफ की ओर ध्यान दिलाने की कोशिश है। इससे विभिन्न कालावधियों में वृद्धि दर में अन्तर का पता चलता है। दो पौधों की वृद्धि के अन्तर के कारणों पर विचार करने को भी कहा गया है।

प्रयोग 2 में तीन बीजों के साथ प्रयोग करके अंकुरण के लिए आवश्यक परिस्थितियों पर विचार किया गया है। प्रयोग 3 बच्चों को खुद डिज़ाइन करना है जिससे यह पता किया जा सके कि बीजों के अंकुरण के लिए धूप की ज़रूरत होती है या नहीं।

विकास (development) का अध्याय अलग था।

1987 के संस्करण में इस अध्याय को कक्षा 8 में रखा गया और इसमें कुछ परिवर्तन किए गए।

2000 के संस्करण में भी यह अध्याय कक्षा 8 में ही रहा, परन्तु अब “परिवर्धन” के नाम से “विकास” को भी इसमें जोड़ दिया गया।

14. हवा

सोलह छोटे व सरल प्रयोगों पर आधारित यह अध्याय छात्रों को हवा की उपस्थिति का आभास कराने से शुरू होता है। इसमें पानी के विस्थापन से

जश्न-ए-तालीम

हवा इकट्ठी करके उसे नापने के दो प्रयोग हैं। हवा के दबाव को समझने के लिए भी कुछ प्रयोग किए जाते हैं। एक प्रयोग यह दर्शाता है कि हवा को दबाकर उसका आयतन कम किया जा सकता है। इन प्रयोगों के निष्कर्षों के आधार पर फाउण्टेन पेन में स्याही भरने की व्याख्या बच्चे करते हैं। वॉल्व की क्रिया को समझने के लिए प्रयोग किए गए हैं। रक्त संचार तंत्र और हैण्ड पम्प में वॉल्व की बात की गई है। पवन चकरी बनाई जाती है। हवा का आयतन प्रसार गुणांक ज्ञात किया जाता है। कुल मिलाकर यह अध्याय एक गतिविधि पुंज का आभास देता है, मगर इसमें हवा के कई गुणधर्मों को पूरी तरह समझने की बजाय उनका एक एहसास देने का प्रयास है।

कार्डों में हवा का अध्याय लगभग 1978 जैसा ही था। अवधारणा के स्तर पर दो चीज़ें अलग थीं। एक प्रयोग में यह दिखाया जाता था कि हवा में वज़न होता है और एक अन्य प्रयोग में मॉडल द्वारा यह दिखाया जाता है कि फिरकी या पानी के पम्प हवा या पानी को किस ओर धकेलते हैं। दो और प्रयोग थे जिनमें हवा के अवयवों की जाँच की जाती थी। हवा में ऑक्सीजन का प्रतिशत निकालने का प्रयास भी होता था।

1987 में अध्याय का ढाँचा लगभग ऐसा ही रहा। कुछ चीज़ें हटाई गईं तो कुछ जोड़ी गईं। जैसे हवा के दबाव को प्रदर्शित करने के लिए हवा के दबाव से वज़न उठाने का एक प्रयोग जोड़ा गया और टूटी उफननली से हैण्ड पम्प का एक मॉडल बनाने की विधि जोड़ी गई। दूसरी ओर आयतन प्रसार गुणांक ज्ञात करने का प्रयोग हटाकर मात्र ऊष्मीय प्रसार दर्शाने के लिए प्रयोग रखा गया। हवा को नापते समय दबाव बराबर करने की सावधानी किताब में ही लिख दी गई जबकि पिछले संस्करण में इसे शिक्षक के भरोसे छोड़ा गया था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय का नाम हुआ “हवा के खेल” और कुछ नए प्रयोग जोड़े गए।

15. आकाश की ओर

यह आकाश में पिण्डों की गति का अवलोकन करके ब्रह्माण्ड का एक मॉडल

बनाने से सम्बन्धित अध्याय है जिसका पहला भाग कक्षा 7 में और दूसरा भाग कक्षा 8 में रखा गया था। “आकाश की ओर – 1” में सूर्य की दैनिक और वार्षिक गति को समझने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। इस आधार पर दक्षिणायन व उत्तरायण को परिभाषित करके एक सूर्य घड़ी भी बनाई जाती है। सूर्य की गति का सम्बन्ध आम अनुभवों से जोड़ने का भी प्रयास है। इस अध्याय में भौतिक मॉडलों के अलावा मानसिक मॉडलों का भी भरपूर उपयोग किया गया है।

कार्डों में “आकाश की ओर” नाम से एक ही अध्याय था और इसी में सारी बातें थीं। एक प्रमुख अन्तर यह था कि कार्डों वाले अध्याय में “विज्ञान में सरलता” वाला तर्क रखने की कोशिश नहीं की गई थी। इस अध्याय में तर्क की शैली यह थी कि हम तर्क के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालते हैं और फिर प्रयोग से प्राप्त परिणामों से उनकी तुलना करके देखते हैं। यदि ये दोनों मेल खाएँ तो हमारा तर्क आधारित मॉडल सही है।

1987 के संस्करण में भी एक ही अध्याय है और वह कक्षा 8 में है।

2000 के संस्करण का अध्याय 1987 जैसा ही था।

16. गैसों – 1 व गैसों – 2

हवा के गुणधर्मों का पुनरावलोकन करने के बाद इन अध्यायों में कार्बन डाईऑक्साइड, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन और अमोनिया बनाकर उनके भौतिक व रासायनिक गुणधर्मों का अध्ययन किया जाता है। दहन के सन्दर्भ में कार्बन डाईऑक्साइड और ऑक्सीजन के परस्पर सम्बन्ध की पड़ताल भी की जाती है।

कार्डों में यह अध्याय ऐसा ही था।

1987 के संस्करण में “गैसों” नाम का एक ही अध्याय कक्षा 7 में था, और हाइड्रोजन छोड़कर शेष अध्याय वैसा ही था।

2000 के संस्करण में सिर्फ ऑक्सीजन और कार्बन डाईऑक्साइड सम्बन्धी प्रयोग ही रखे गए थे और दहन में उनके परस्पर सम्बन्ध के प्रयोग भी थे।

17. पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश

पौधों के पोषण की पड़ताल करने वाला यह अध्याय नवजात पौधे की वृद्धि में बीजपत्रों की भूमिका से सम्बन्धित एक प्रयोग से शुरू होता है। इस प्रयोग से पेड़-पौधों के पोषण की चर्चा शुरू होती है। जिसका एक हिस्सा (जड़ों द्वारा पानी व खनिज लवणों का अवशोषण) कक्षा 6 के अध्याय “भोजन और पाचन क्रिया” में है। अगले प्रयोग पौधों के पोषण में पत्तियों की भूमिका की खोजबीन के लिए हैं। इन प्रयोगों में पत्तियों में मण्ड की जाँच की जाती है और पत्ती को काले कागज़ से ढँककर मण्ड के निर्माण में सूर्य के प्रकाश की भूमिका को परखा जाता है। यह प्रक्रिया समझ लेने के बाद कई सवाल हैं जिनमें छात्रों को इस प्रक्रिया के महत्व पर विचार करने को प्रेरित किया गया है। अन्त में भोजन ज़ुखला की चर्चा व अभ्यास हैं।

1987 के संस्करण में पौधों के पोषण की पूरी बात कक्षा 6 के एक अध्याय “पोषण – 2” में शामिल की गई थी। यह अध्याय मूलतः “भोजन और पाचन क्रिया” (कक्षा 6, 1978) के सम्बन्धित हिस्से (खण्ड 5) और “पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश” को मिलाकर बनाया गया था।

2000 के संस्करण में यह अवधारणा कक्षा 7 में “पौधों का पोषण” नाम के अध्याय में काफी अलग ढंग से शामिल की गई थी। इसमें प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया को समझने का इतिहास प्रस्तुत करके बच्चों के साथ हर पड़ाव का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया था। कुछ ऐतिहासिक प्रयोगों को कक्षा में दोहराया भी जाता है। पूरी क्रिया को पौधों की आन्तरिक रचना से जोड़ने का प्रयास भी है। कुछ प्रयोगों के विवरण देकर छात्रों से उनका विश्लेषण करवाने की विधि का उपयोग इस अध्याय में किया गया था। सूक्ष्म पोषक तत्वों की बात भी है।

18. श्वसन

यह मूलतः साँस में ली गई हवा और छोड़ी गई हवा की तुलना पर आधारित अध्याय है। साँस लेने की ज़रूरत प्रतिपादित करने के लिए साँस रोकने का

प्रयोग किया जाता है। श्वसन दर नापने और श्वसन दर का सम्बन्ध देखने के प्रयोग किए जाते हैं। अन्तःश्वासित व प्रश्वासित हवा के बीच तापमान, आर्द्रता और रासायनिक अन्तरों को परखा जाता है। भीगे बीजों के श्वसन पर भी प्रयोग किए जाते हैं। श्वसन में कार्बन डाईऑक्साइड व ऑक्सीजन के अन्तर्सम्बन्ध की बातचीत है और कुछ सवाल दिए गए हैं। विच्छेदित चूहे के श्वसन अंगों का अवलोकन किया जाता है और मनुष्य के श्वसन अंगों को चित्र के माध्यम से समझा जाता है।

1987 के संस्करण में बीजों के श्वसन वाला प्रयोग हटा दिया गया था। शेष अध्याय वैसा ही था।

2000 के संस्करण में कुछ नई चीजें जोड़ी गई थीं। एक तो साँस में छोड़ी गई हवा को नापने का प्रयोग था। फिर पौधों के श्वसन और अंकुरित बीजों के श्वसन सम्बन्धी प्रयोग जोड़े गए थे। एक तालिका की मदद से बताया गया था कि अन्तःश्वासित हवा और प्रश्वासित हवा दोनों में ही ऑक्सीजन व कार्बन डाईऑक्साइड होती हैं, मात्र अनुपात में फर्क होता है। कृत्रिम साँस देने की विधि बताई गई थी।

19. विकास

इस अध्याय में प्रश्नों के माध्यम से वृद्धि व विकास (development) के बीच अन्तर स्पष्ट किया जाता है। बीज से पौधे के विकास का अध्ययन करने के लिए एक प्रयोग है जिसमें दो प्रजातियों के 20-20 बीज बोए जाते हैं और हर दिन एक-एक बीज उखाड़कर उसमें हुए परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रयोग के आधार पर कुछ सवाल पूछे गए हैं और आगे के विकास के बारे में अनुमान लगाने को कहा गया है।

जन्तुओं के विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए मुर्गी के अण्डे में चूड़े के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन किया जाता है।

1987 के संस्करण में यह अध्याय “परिवर्धन” के नाम से कक्षा 8 में रखा गया था।

जश्न-ए-तालीम

जैसा कि पहले कहा गया है, 2000 के संस्करण में वृद्धि और परिवर्धन का मिला-जुला अध्याय कक्षा 8 में रखा गया था।

परिवर्धन के बारे में एक रोचक तथ्य का ज़िक्र ज़रूरी है। प्रथम दो संस्करणों में विकास या परिवर्धन को लेकर मान्यता यह थी कि पौधों या जन्तुओं में जब भी कोई नया अंग विकसित हो तो इसे परिवर्धन माना जा सकता है। 2000 के संस्करण के लिखे जाने के समय प्राणी वैज्ञानिकों ने स्पष्ट किया कि आम तौर पर जन्तुओं में जो नए अंग दिखते हैं वे जन्म के समय भी सूक्ष्म रूप में उपस्थित होते हैं। इसलिए इन अंगों का नज़र आना मात्र वृद्धि का ही उदाहरण है। जन्तुओं में जन्म के बाद परिवर्धन सिर्फ़ उन जन्तुओं में होता है जिनमें कायान्तरण होता है। शेष जन्तुओं में सारा परिवर्धन जन्म से पहले (अण्डे के अन्दर या गर्भाशय में) हो चुका होता है। अतः 2000 के संस्करण का अध्याय इस नई समझ के अनुसार विकसित किया गया था।

20. तराजू का सिद्धान्त

इस अध्याय में वज़न तोलने की क्रिया के अलावा सन्तुलन का नियम प्रतिपादित करने का प्रयास किया जाता है। वज़न तोलने के दैनिक अनुभव के बाद अध्याय इस बात पर टिक जाता है कि सही तराजू क्या होता है। किट में दिए गए तराजू के साथ परिचय के बाद बच्चे अपने बाँट व तराजू बनाते हैं। बाँट बनाने और तराजू बनाने के लिए कई सुझाव दिए गए हैं। तराजूओं से प्रयोगों के दौरान सन्तुलन, पासंग वगैरह के बारे में सीखते हैं और यह भी समझते हैं कि अलग-अलग वज़न तोलने के लिए अलग-अलग तराजूओं का उपयोग क्यों करना होता है। सही तराजू की परख करने का तरीका भी बताया गया है। बच्चे एक आधा-मीटर पैमाने के साथ प्रयोग करके सन्तुलन का नियम भी खोजते हैं और साथ-साथ अपने तराजू की जाँच भी करते जाते हैं। वज़न नापने के कुछ अभ्यास दिए गए हैं। सन्तुलन के सूत्र का उपयोग करने के कुछ अभ्यास भी हैं।

“लाल वैज्ञानिक” में ऐसा एक अध्याय “भार और तुला” के नाम से था। इसका फोकस तराजू के विश्लेषण पर उतना नहीं था जितना वज़न के

मापन पर था। एक स्प्रिंग पर वज़न लटका-लटकाकर स्प्रिंग की लम्बाई का पट्टी चित्र बनाते हैं। स्प्रिंग के साथ कुछ और प्रयोग करते हैं – जैसे एक के नीचे एक स्प्रिंग जोड़ना, दो स्प्रिंगों को समान्तर रखकर उन पर एक पेंसिल लगाकर वज़न लटकाना वगैरह। अन्त में एक स्प्रिंग तुला बनाते हैं। लीवर के सिद्धान्त के प्रयोग किए जाते हैं और सामान्य तुला से परिचय होता है।

1987 और 2000 में यह अध्याय 1978 के अध्याय में छिटपुट परिवर्तनों के साथ कक्षा 8 में रखा गया था।

कक्षा 8, खण्ड 1

1. जन्तुओं का जीवन चक्र

जन्तुओं में स्वतः जनन की आम धारणा के इर्द-गिर्द गुँथे इस अध्याय में छात्र चार जन्तुओं के जीवन चक्रों का प्रायोगिक अध्ययन करते हैं और तुलना के प्रावधान-शुदा प्रयोगों के महत्व को पहचानते हैं। यह अध्याय समाज में प्रचलित मान्यताओं पर भी सवाल खड़े करता है।

भूमिका के रूप में यह प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है कि क्या जन्तु अपने आप गोबर या बरसात से पैदा हो सकते हैं। इसके बाद प्रयोग 1 में मक्खी के अण्डे देने से शुरू करके मक्खी का जीवन चक्र पूरा करने का प्रयास होता है। यह प्रयोग इस तरह किया जाता है कि एक ओर तो छात्र मक्खी के जीवन चक्र की विभिन्न अवस्थाओं का अवलोकन कर पाते हैं, दूसरी ओर वे यह भी देख पाते हैं कि मक्खी के अण्डे न हों तो गोबर में इल्लियाँ पैदा नहीं होतीं। प्रत्येक



जश्न-ए-तालीम

अवस्था का सूक्ष्म अवलोकन करके चित्र बनाने के निर्देश दिए गए हैं। प्रयोगों में तुलना के महत्व को कुछ प्रश्नों के माध्यम से रेखांकित किया गया है।

प्रयोग 2 में मेंढक के जीवन चक्र का अध्ययन है। प्रयोग 3 में मच्छर और प्रयोग 4 में कौसम या कपास के कीड़े के जीवन चक्र का अध्ययन है। प्रथम तीन जीवन चक्रों में कायान्तरण होता है जबकि कौसम/कपास के कीड़े में नहीं होता। अध्याय में इस बात की ओर ध्यान दिलाया गया है।

इन प्रयोगों में बच्चों को यह एहसास भी मिलता है कि इस अध्ययन के लिए यथासम्भव वैसी ही परिस्थितियाँ बनानी पड़ती हैं जैसी कि जीवों को प्रकृति में मिलती हैं। इस अध्याय के चारों प्रयोग लम्बी अवधि के प्रयोग हैं। इनमें बच्चों को कई व्यवस्थागत बातों की ओर भी ध्यान देना होता है।

1987 के संस्करण में अध्याय लगभग ऐसा ही रहा। एक परिवर्तन यह किया गया था कि बगैर कायान्तरण वाले जीवन चक्र के उदाहरण के रूप में पहले टिड्डे के जीवन चक्र को चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करके प्रश्न किए जाते हैं। इसके अलावा, कौसम/कपास के कीड़े के जीवन चक्र का अध्ययन एक “विशेष प्रयास” के रूप में ऐच्छिक कर दिया गया था।

2000 के संस्करण में भी अध्याय ऐसा ही रहा।

“लाल वैज्ञानिक” में ऐसा कोई अध्याय नहीं था।

2. फूल और फल

इस अध्याय में तरह-तरह के फूलों की बाहरी व आन्तरिक रचना का अध्ययन किया जाता है, उनमें पैटर्न पहचानने की कोशिश होती है, फूल और फल के परस्पर सम्बन्ध पर प्रारम्भिक समझ बनाई जाती है और बीजों के बिखरने पर कुछ चर्चा होती है। जोर इस बात पर है कि बच्चे कई फूलों का अध्ययन करके उनमें पाई जाने वाली समानताओं और विविधता को सराहें। अध्याय पाँच खण्डों में बँटा है।

पहले खण्ड में एक सामान्य फूल के अंगों का अध्ययन किया जाता है।

इसके अन्तर्गत फूल का विच्छेदन करना और अण्डाशय की आड़ी व खड़ी काट का अवलोकन शामिल है। अण्डाशय की आड़ी और खड़ी काट में बीजाण्डों का अवलोकन करके उनकी कुल संख्या का अनुमान लगाया जाता है। स्त्रीकेसर व पुंकेसर में विविधता पर ध्यान दिलाया जाता है और परागकणों को सूक्ष्मदर्शी में देखा जाता है।

दूसरे खण्ड में अपेक्षा है कि बच्चे तीन बार अलग-अलग मौसमों में परिभ्रमण करके विभिन्न फूल और फल इकट्ठे करेंगे और उनका अध्ययन करेंगे। ढेर सारे फूलों का अध्ययन करके देखा जाता है कि फूलों के अंग निश्चित क्रम में घेरों में जमे होते हैं। इसी खण्ड में पूर्ण-अपूर्ण फूल, एकलिंगी-द्विलिंगी फूल वगैरह पहचाने जाते हैं और यह भी देखा जाता है कि अलग-अलग फूलों में इन घेरों में कुछ विशेषताएँ भी पाई जाती हैं। कुछ संयुक्त फूलों का अध्ययन किया जाता है और गूलर, गेहूँ, धान जैसे विशेष फूलों का अध्ययन भी होता है। दलहन परिवार के फूलों की कुछ विशेषताओं का अध्ययन विशेष रूप से किया जाता है।

कुल मिलाकर बच्चों का ध्यान इस बात की ओर दिलाया जाता है कि प्रकृति में फूल कई रूपों में मिलते हैं और उनका अध्ययन कैसे किया जाता है।

खण्ड 4 में फूलों और फलों का एक साथ अध्ययन करके यह संकेत देने का प्रयास है कि शायद फूलों से ही फल बनते होंगे। इसमें अण्डाशय और फलों की आन्तरिक रचना की तुलना का सहारा लिया गया है। इस दौरान फूलों का एक एलबम भी बनाया जाता है।

खण्ड 5 में बीजों के बिखरने पर चर्चा की गई है।

1987 के संस्करण में अध्याय का ढाँचा तो यही था मगर इसे काफी संक्षिप्त बनाया गया था और कक्षा 7 में रखा गया था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय के दो भाग कर दिए गए थे – “बीजों का बिखरना” एक अलग अध्याय बनाकर कक्षा 6 में रखा गया था। दूसरा भाग “फूलों से जान-पहचान” कक्षा 7 में रहा।

3. पौधों में प्रजनन

इस अध्याय में एक बार फिर लम्बी अवधि के तुलना वाले प्रयोगों की मदद से इस सवाल का जवाब खोजा जाता है कि फूल के किस अंग से फल बनता है और फल बनने की क्रिया में नर फूल की क्या भूमिका है। अध्याय की एक और विशेषता यह है कि प्रयोग प्राकृतिक परिस्थिति में (*in situ*) किए जाते हैं।

पहले छात्रों को याद दिलाया जाता है कि “फूल और फल” अध्याय में उन्हें यह संकेत मिल चुका है कि शायद अण्डाशय से फल बनता होगा। उनसे एक ऐसा प्रयोग सोचने को कहा जाता है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि फूल के बगैर फल नहीं बन सकते। खासतौर से इस प्रयोग में तुलना का प्रावधान रखने को कहा गया है।

इसके बाद प्रयोग 1 ऐसे पौधों पर किया जाता है जिनमें एकलिंगी फूल होते हैं (जैसे लौकी, गिलकी, करेला वगैरह)। नर व मादा फूलों पर अलग-अलग रंग के धागे बाँधकर कुछ दिनों बाद देखना है कि किन फूलों से फल बने हैं। प्रयोग 2 में नर फूल की भूमिका की जाँच की जाती है। इसमें कुछ मादा कलियों का कृत्रिम परागण करवाया जाता है और कुछ कलियों को वैसे ही रखा जाता है। इस तरह के प्रयोग करने में कई सावधानियाँ रखनी होती हैं और इसमें उन सबकी ओर ध्यान दिलाया जाता है। प्रयोग पूरा होने के बाद अण्डाशय का विशेष रूप से अध्ययन करके देखा जाता है कि फल बनने की क्रिया में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं। अन्त में प्राकृतिक परागण और संकरण तथा लैंगिक व अलैंगिक प्रजनन की चर्चा की गई है।

1987 के संस्करण में यह अध्याय लगभग इसी रूप में कक्षा 7 में रखा गया था।

2000 के संस्करण में भी यह अध्याय कक्षा 7 में रहा, पर इसमें कुछ परिवर्तन किए गए।

4. सूक्ष्मदर्शी में से जीवजगत

सूक्ष्मदर्शी से तरह-तरह की सूक्ष्म चीजों के अवलोकन पर आधारित इस अध्याय में कोशिकाओं को लेकर कई गतिविधियाँ हैं और मॉडल के आधार

पर यह स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि सूक्ष्मदर्शी से देखने पर जो चीज़ें (खासकर कोशिकाएँ) चपटी दिखाई देती हैं, वे चपटी हों यह ज़रूरी नहीं है। अध्याय के सारे प्रयोग एक छोटे सूक्ष्मदर्शी (डायनम सूक्ष्मदर्शी) से किए जाते हैं।

सबसे पहले सूक्ष्मदर्शी की रचना, उपयोग व देखभाल की जानकारी दी गई है। स्लाइड बनाने की विधि भी बताई गई है।

इसके बाद किसी गड्ढे या तालाब के पानी की एक बूँद, प्याज़ की कोशिका, तने की आड़ी काट, रंगीन पानी चढ़ने के बाद तने की आड़ी काट वगैरह का अध्ययन किया जाता है। कोशिकाओं में विविधता और उनके काम की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

प्याज़ की कोशिकाओं का थोड़ा विस्तृत अध्ययन करके केन्द्रक देखने के बाद खुद की गाल की कोशिकाओं का अवलोकन भी किया जाता है। सूक्ष्मदर्शी में देखकर साइज़ का अन्दाज़ लगाने का तरीका बताकर इसके कुछ अभ्यास भी करवाए जाते हैं। स्थूल चीज़ों (*बाल वैज्ञानिक* पुस्तक, चॉक की गठरी और कंचे भरा बीकर) की आड़ी काट व खड़ी काट की कल्पना करके और उनकी तुलना तने की आड़ी व खड़ी काट से करके यह समझने की कोशिश होती है कि कोशिकाएँ चपटी नहीं होतीं। कंचों के मॉडल के आधार पर कोशिकाओं की आन्तरिक रचना का भी कुछ आभास दिया जाता है। अन्त में सूक्ष्मजीवों के साइज़ के बारे में कुछ अभ्यास हैं और टैडपोल की पूँछ में खून की कोशिकाएँ व उनके प्रवाह का अवलोकन किया जाता है।

1987 के संस्करण में भी अध्याय अवलोकन आधारित ही था, मगर अवलोकनों की संख्या कम कर दी गई थी और मॉडल निर्माण वाला पूरा हिस्सा हटा दिया गया था।

2000 के संस्करण में अध्याय का मूल ढाँचा वही था। कुछ नई चीज़ों के अवलोकन जोड़े गए थे, जैसे कार्ड, कोशिकाओं में मण्ड और पत्ती की बाहरी झिल्ली के अवलोकन। कुछ चीज़ों (जैसे तने की आन्तरिक रचना) की जानकारी जोड़ी गई थी। अध्याय का नाम था “सूक्ष्म चीज़ों का संसार”।

5. ध्वनि

इस अध्याय में शामिल 14 प्रयोगों के माध्यम से बच्चे ध्वनि की उत्पत्ति, उसके विभिन्न गुणों और अनुनाद के बारे में सीखते हैं।

प्रथम चार प्रयोगों में विभिन्न चीजों में ध्वनि उत्पन्न करके ध्वनि और कम्पन का सम्बन्ध परखा जाता है। प्रयोग 5 में एक मीटर पैमाने की अलग-अलग लम्बाई को कम्पित करके देखा जाता है कि कम्पन गति का ध्वनि उत्पादन पर क्या असर होता है। प्रयोग 6 में यही प्रक्रिया एक लोहे की पत्ती के साथ दोहराते हैं और यह देखते हैं कि कम्पन गति का तारत्व (pitch) पर क्या असर होता है। प्रयोग 7 में यह देखा जाता है कि तनाव बढ़ने पर ध्वनि में क्या अन्तर आता है। प्रयोग 8 में तार की लम्बाई और तारत्व के बीच सम्बन्ध देखा जाता है। इस प्रयोग में ऐसी व्यवस्था की गई है कि लम्बाई बदलते हुए तार का तनाव न बदले। प्रयोग 9-11 में ध्वनि और माध्यम पर विचार किया गया है। बच्चों से एक प्रयोग डिज़ाइन करने को कहा गया है जिसमें ध्वनि पानी के माध्यम से प्रसारित हो। अन्त में दो प्रयोग अनुनाद से सम्बन्धित हैं।

1987 व 2000 में यही अध्याय कक्षा 7 में रखा गया था।

6. वर्गीकरण के नियम

यह *बाल वैज्ञानिक* का एक विशिष्ट अध्याय है और इस समझ के आधार पर तैयार किया गया है कि वर्गीकरण विज्ञान की एक बुनियादी क्रिया है और बच्चों को इसका ज्ञान व अभ्यास होना चाहिए। अध्याय बच्चों के बस्ते की सामग्री के वर्गीकरण पर आधारित है। इस गतिविधि के माध्यम से वे समूहीकरण और वर्गीकरण के बीच अन्तर को समझते हैं और वर्गीकरण के तीन नियम सीखते हैं। नियम ये हैं – वर्ग एकात्मिक (exclusive) समूह होते हैं, वर्गीकरण के हर चरण में आधार एक ही रहता है, और सारी चीजों का समूहीकरण करना ज़रूरी होता है।

यह प्रक्रिया पूरी करने के बाद रिक्त समूह की अवधारणा और वर्गीकरण में

सोपानबद्धता (hierarchy) की अवधारणा को उभारा जाता है। अन्त में कीड़ों के वर्गीकरण का अभ्यास दिया गया है।

1987 व 2000 के संस्करणों में इस अध्याय को स्थान नहीं मिला था।

7. ऊष्मा

गर्मी उत्पन्न करने के तरीकों (प्रयोग 1-5) से शुरू करके इस अध्याय में अनुभूति से ताप का अनुमान लगाने में गफलत और तापमापी के उपयोग (प्रयोग 6, 7), पदार्थों में ऊष्मीय प्रसार (प्रयोग 8-11), द्रवों को उबालने (प्रयोग 12), अवस्था परिवर्तन (प्रयोग 13), और ऊष्मा स्थानांतरण (प्रयोग 14-19) का अध्ययन शामिल है। तापमान के साथ पानी के प्रसार को नापकर ग्राफ भी बनाया जाता है।

थोड़ा पुनर्गठित करके यह अध्याय 1987 की *बाल वैज्ञानिक* में “गर्मी और तापमान” के नाम से रखा गया था। ऊष्मा और तापमान में अन्तर दर्शाने के लिए एक प्रयोग जोड़ा गया था। धातुओं के ऊष्मीय प्रसार सम्बन्धी प्रयोग में कुछ परिवर्तन किया गया था और पानी के प्रसार को गुणात्मक स्तर पर ही रखा गया था। ऊष्मा पैदा करने के तरीके हटा दिए गए थे और चालक-कुचालक की चर्चा को विस्तार दिया गया था।

थोड़े और पुनर्गठन के बाद यह अध्याय 2000 के संस्करण में भी रहा।

8. प्रजनन

यह अध्याय मूलतः जन्तुओं के प्रजनन से सम्बन्धित है और पहले किए जा चुके अध्यायों “जन्तुओं का जीवन चक्र” और “पौधों में प्रजनन” के प्रयोगों से प्राप्त जानकारी और बच्चों के पास पहले से उपलब्ध जानकारी के सहारे आगे बढ़ता है।

प्रश्नों के माध्यम से पहले यह बात उभारी जाती है कि किसी भी सजीव के पैदा होने के लिए ज़रूरी है कि उसके जैसे जीव पहले से मौजूद हों। इस बात को प्रजनन के रूप में परिभाषित करने के बाद अध्याय में यह प्रश्न

जश्न-ए-तालीम

उठाया जाता है कि क्या प्रजनन में नर आवश्यक है। पूर्व जानकारी के आधार पर इस प्रश्न का उत्तर खोजकर कृत्रिम गर्भाधान की चर्चा होती है। अन्त में जन्तुओं का वर्गीकरण अण्डे देने वाले और बच्चे देने वाले जन्तुओं में किया जाता है और इस बात पर ध्यान दिलाया जाता है कि कुछ जन्तुओं में कायान्तरण होता है, कुछ में नहीं और कुछ में माता-पिता बच्चों की परवरिश करते हैं, कुछ में नहीं।

1987 में इसी अध्याय का नामकरण हुआ “जन्तुओं में प्रजनन”।

2000 के संस्करण में अध्याय का स्वरूप काफी बदला गया था। प्रजनन की प्रक्रिया में विविधता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए लैंगिक व अलैंगिक प्रजनन, एकलिंगी व द्विलिंगी जन्तुओं, बाह्य व आन्तरिक निषेचन, अण्डे देने वाले और बच्चे देने वाले जन्तुओं, कायान्तरण, बच्चों और अण्डों की देखभाल, प्रजनन के मौसम वगैरह की चर्चा की गई थी। कुल मिलाकर ढाँचा यह था कि सन्तानोत्पत्ति की प्रक्रिया में विविधता से एक परिचय कराया जाए। सारी चर्चा उदाहरणों के माध्यम से होती है और कई उदाहरण ऐसे हैं जो बच्चों के पर्यावरण से नहीं हैं।

9. जन्तुओं का वर्गीकरण

यह अध्याय जन्तुओं के पारम्परिक जीव वैज्ञानिक वर्गीकरण में न जाकर आम अवलोकनों और बाह्य रचना के आधार पर जन्तुओं के वर्गीकरण का प्रयास है।

सबसे पहले जन्तु में रीढ़ की हड्डी की उपस्थिति का पता लगाने के लिए बाह्य रचना के कुछ लक्षण बताए गए हैं और उनके आधार पर बतौर अभ्यास कुछ जन्तुओं का वर्गीकरण करने को कहा गया है।

इसके बाद उन सारे जानवरों की सूची बनाई जाती है जिन्हें बच्चे जानते हैं। रीढ़ की हड्डी के आधार पर इनका वर्गीकरण किया जाता है। बिना रीढ़ की हड्डी वालों में खण्डित व अखण्डित शरीर वालों को अलग-अलग किया जाता है। खण्डित शरीर में टाँग वाले और बिना टाँग वाले, अखण्डित शरीर में कवच वाले और कवचहीन वगैरह समूह बनाने का काम किया

जाता है। इसी प्रकार से रीढ़ की हड्डी वाले जन्तुओं का भी वर्गीकरण किया जाता है। इस तरह वर्गीकरण का एक पूरा ढाँचा बनता है। फिर इस वर्गीकरण में से जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है और वर्गीकरण का महत्व रेखांकित होता है। अन्त में हर टोली को इससे अलग ढंग से जन्तुओं का वर्गीकरण करने को कहा गया है। इसे चित्रित करके कक्षा में चिपकाना है।

1987 व 2000 के संस्करण में इस अध्याय को छोड़ दिया गया था।

10. विद्युत – 3 (विद्युत के चुम्बकीय प्रभाव)

इस अध्याय में सात प्रयोग करने और एक विद्युत मोटर बनाने की गतिविधि है। पहले परिपथ में विद्युत धारा की दिशा को परिभाषित किया गया है। प्रयोग 1 में बच्चे यह देखते हैं कि एक छड़ चुम्बक का दिक्सूचक पर क्या असर होता है। प्रयोग 2 में एक तार, जिसमें विद्युत धारा बह रही है, का प्रभाव दिक्सूचक पर देखते हैं। तार को दिक्सूचक के ऊपर और नीचे रखकर और विद्युत धारा की दिशा बदलकर दिक्सूचक की सुई के विचलन को देखते हैं और किताब में दिए गए तरीके से दाहिने हाथ का नियम खोजते हैं। प्रयोग 3 में इसी प्रयोग को दोहरे तार के साथ दोहराया जाता है। प्रयोग 4 में तार के लपेटे बढ़ाते हुए विचलन का कोण नापते हैं और लपेटों की संख्या व विचलन कोण का ग्राफ बनाते हैं। प्रयोग 5 में तार के फेरे पूर्व-पश्चिम दिशा में लपेटकर प्रयोग 4 को दोहराया जाता है और दाहिने हाथ का नियम लागू करके देखा जाता है। प्रयोग 6 में एक विद्युत चुम्बक बनाते हैं तथा इसकी मदद से एक रेल सिग्नल बनाते हैं। प्रयोग 7 में एक तार को मोड़कर एक झूला बनाया जाता है जिसमें चुम्बक स्थिर है और विद्युत धारा प्रवाहित करने पर तार में विचलन होता है। इसके अवलोकनों को समझने के लिए एक विद्युत नट बनाते हैं जिसकी मदद से धारा की दिशा और तार के विचलन की दिशा का पता चलता है। अन्त में एक विद्युत मोटर बनाई जाती है और उसका सिद्धान्त समझाने की कोशिश होती है।

कार्डों में विद्युत के अध्याय में दाहिने हाथ का नियम प्रतिपादित करने का

जश्न-ए-तालीम

प्रयास नहीं था और न ही मोटर का सिद्धान्त समझाने की कोशिश थी। विद्युत झूला भी नहीं था, मगर एक विद्युत सवार का मॉडल था।

1987 के संस्करण में कुछ प्रयोग कम कर दिए गए थे। फेरे बढ़ाते-बढ़ाते विचलन कोण नापने का प्रयोग हटा दिया गया था। विद्युत झूला बनाने की विधि बदल दी गई थी और विद्युत नट का मॉडल भी हटा दिया गया था। शेष अध्याय वैसा ही था।

2000 के संस्करण में विद्युत के अध्यायों को पुनर्गठित किया गया था। कक्षा 8 में एक अध्याय “बिजली के प्रभाव तरह-तरह के” आया। इसमें विद्युत के रासायनिक, ऊष्मीय और चुम्बकीय असर शामिल किए गए थे। चुम्बकीय असर वाले हिस्से में विद्युत झूला हटा दिया गया था। मोटर बनाने की ज़्यादा सरल विधि दी गई थी।

कक्षा 8, खण्ड 2

1. संयोग और सम्भाविता

यह अध्याय कई घटनाओं के घटने की सम्भाविता, सम्भाविता की गणना की समस्याओं व उसमें संयोग की भूमिका की पड़ताल करता है। सम्भाविता के सन्दर्भ में बड़ी संख्याओं (large numbers) की बात रेखांकित होती है। अध्याय का एक महत्वपूर्ण पक्ष आँकड़ों का प्रस्तुतीकरण है।

अध्याय की शुरुआत एक ट्रेन के आने-जाने में होने वाली देरी की चर्चा से शुरू होती है। इसके आधार पर सम्भाविता के सवाल उठाए जाते हैं। इसके साथ ही दैनिक जीवन में सम्भाविता और संयोग की बात को उभारा जाता है। फिर एक खेल शुरू होता है – “चित-पट की दौड़”। इसमें बच्चे सिक्का उछालकर चित व पट आने पर आगे व पीछे कदम बढ़ाते हैं। इस खेल का निजी व सामूहिक रिकॉर्ड रखना सिखाया गया है। खेल पर चर्चा के दौरान प्रत्येक बच्चे के चित-पट के पैटर्न पर विचार होता है। इस बात पर भी विचार होता है कि क्यों निष्कर्ष निकालने के लिए ज़्यादा संख्या में आँकड़ों

की ज़रूरत होती है। खेल में विभिन्न पंक्तियों में बच्चों के वितरण और जीतने की सम्भाविता पर विचार किया जाता है।

इसके बाद प्रयोग 1 में यह स्पष्ट किया जाता है कि किसी घनाकार गुटके की तीन सतहों पर चित का निशान लगा लें तो वह सिक्के जैसा ही होता है। आगे के प्रयोगों में ऐसे 10 गुटके एक साथ लुढ़काए जाते हैं। प्रयोग 2 में ऐसी 100 चालों में चित संख्याओं का स्तम्भालेख बनाया जाता है। इसका बहुसम्मत मान निकाला जाता है और पैटर्न का विश्लेषण किया जाता है। बहुसम्मत मानों का भी बहुसम्मत मान निकाला जाता है। सारी टोलियों के आँकड़ों को जोड़कर एक सामूहिक स्तम्भालेख बनाया जाता है। सामूहिक स्तम्भालेख से मुख्य बात यह उभरती है कि अधिकांश टोलियों का पैटर्न और सामूहिक पैटर्न लगभग समान हैं और बहुत बड़ी संख्या हो तो परिणामों की बेहतर भविष्यवाणी की जा सकती है।

अब सम्भाविता की गणना की जाती है। इससे यह अवधारणा सामने आती है कि सम्भाविता की गणना कर लेने के बाद भी यह नहीं बताया जा सकता कि अगली चाल में क्या होगा। इसे संयोग कहा गया है। इसके आधार पर बीजों की अंकुरण क्षमता सम्बन्धी एक अभ्यास है जिसमें बच्चों को मुख्य रूप से इस बात पर विचार करना है कि बहुत कम बीज लेकर किए गए प्रयोगों से निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा।

अगले प्रयोग में चितों के निशानों (यानी घनाकार गुटकों पर लगे बिन्दुओं) की संख्या बदल-बदलकर सम्भाविता की गणनाएँ की जाती हैं। बिन्दुओं की संख्या और सम्भाविता का ग्राफ बनाया जाता है। इसके बाद कई सारे अभ्यास हैं।

अन्त में दैनिक जीवन की घटनाओं में सम्भाविता की गणना की दिक्कतों की ओर ध्यान दिलाया जाता है और कुछ उदाहरणों का विश्लेषण किया जाता है।

कार्डों का अध्याय “संयोग और सम्भावना” के नाम से था। इसमें रेल के आने-जाने की कोई चर्चा नहीं थी। अध्याय के उद्देश्य के रूप में दो प्रश्न शुरू में ही दिए गए थे: “एक सिक्के को उछालने पर (क) क्या चित व पट

जश्न-ए-तालीम

बारी-बारी से आते हैं? यदि नहीं, तो (ख) क्या चित व पट की संख्याएँ बराबर होती हैं?” अध्याय चित-पट की दौड़ से शुरू होता है। प्रत्येक विद्यार्थी एक सिक्के को 200 बार उछालकर एक तालिका में चित व पट का रिकॉर्ड रखता है। फिर वे हर दस-दस चालों की चित संख्या का स्तम्भालेख बनाते हैं। एक सामूहिक स्तम्भालेख भी बनाया जाता है। इसके आधार पर प्रश्न (ख) का उत्तर मिल जाता है। प्रश्न (क) का उत्तर खोजने के लिए रिकॉर्ड इस तरह रखते हैं कि पहले चित आने पर ही दूसरी चाल का रिकॉर्ड रखा जाता है। इसके बाद गुटकों से प्रयोग करके औसत चित संख्या और सम्भाविता निकालते हैं। बड़ी संख्या के महत्व को बीच-बीच में प्रश्नों के माध्यम से भी उभारा जाता है और अन्त में इसे स्पष्ट करने के लिए सम्भाविता व चालों की संख्या का एक ग्राफ बनाया जाता है।

1987 के संस्करण में अध्याय का ढाँचा तो यही था मगर कई अभ्यास हटा दिए गए थे। खास तौर से गुटकों पर बिन्दुओं की संख्या बदल-बदलकर सम्भाविता की गणना वाले अभ्यास हटाए गए थे।

2000 के संस्करण में इस अध्याय में कई बदलाव किए गए थे। एक बड़ा बदलाव यह था कि सिक्कों की जगह निशान लगे गुटकों का उपयोग पूरी तरह हटा दिया गया था। चित-पट की दौड़ के बाद प्रत्येक छात्र एक सिक्के को 100 बार उछालकर आँकड़े एकत्रित करता है। इसमें पहले सम्भावित चितों की संख्या का अनुमान लगाने को कहा गया है। इसके बाद चित व पट की सम्भाविता निकालना है। इन्हीं आँकड़ों को तरह-तरह से प्रस्तुत करके देखा जाता है कि उछालों की संख्या बढ़ाते जाने पर एक पैटर्न उभरने लगता है। यह दर्शाने के लिए कि किसी घटना के दो परिणाम होने पर सम्भाविता सदा 50 प्रतिशत नहीं होती, घुड़दौड़ का एक खेल रखा गया है। आम जीवन के कुछ अनुभवों के विश्लेषण के साथ अध्याय समाप्त होता है।

2. अम्ल, क्षार और लवण

यह अध्याय शिक्षक द्वारा काफी पूर्व तैयारी और काफी सारी किट सामग्री पर आधारित है। नौ प्रयोगों के माध्यम से बच्चे अम्ल और क्षार को पहचानना और उनकी परस्पर क्रिया के बारे में सीखते हैं। प्रयोग 1-4 तक

विभिन्न पदार्थों की जाँच लाल व नीले लिटमस कागज़ तथा फिनॉफ्थलीन सूचक घोलों से करके पदार्थों को अम्लीय, क्षारीय व उदासीन समूहों में बाँटा जाता है। प्रयोग 5 में हल्दी से सूचक बनाते हैं। प्रयोग 6 में अम्ल और क्षार की क्रिया (उदासीनीकरण) सम्पन्न की जाती है और लवण से परिचय होता है। प्रयोग 7-9 में उदासीनीकरण को मात्रात्मक ढंग से किया जाता है और अम्ल व क्षार की सान्द्रता से परिचय होता है। अन्त में फूलों से सूचक बनाने को गृह कार्य के रूप में दिया गया है। पूरे अध्याय में रासायनिक प्रयोग में सावधानियों की ओर ध्यान दिलाया गया है।

कार्डों में यह अध्याय अम्ल और क्षार की पहचान व उदासीनीकरण के दो प्रयोगों पर आधारित था।

1987 के संस्करण में एक नया प्रयोग जोड़ा गया था जिसमें एक ठोस अम्ल और एक ठोस क्षार की बराबर मात्रा लेकर उन्हें बराबर पानी में घोलकर प्राप्त घोलों के बीच उदासीनीकरण की क्रिया करके देखा जाता है कि यह ज़रूरी नहीं है कि क्षार और अम्ल के बराबर वज़न एक-दूसरे को उदासीन करें। प्रयास यह दिखाने का था कि रासायनिक क्रियाओं में तुलना सिर्फ वज़न के आधार पर नहीं हो सकती।

2000 के संस्करण में इस अध्याय को दो भागों में बाँटा गया था। सूचकों से परीक्षण वाला भाग “अम्ल और क्षार की पहचान” कक्षा 6 में और दूसरा भाग “अम्ल और क्षार का आपसी सम्बन्ध” कक्षा 8 में रखा गया था। 1987 में जोड़ा गया मात्रात्मक तुलना वाला प्रयोग फिर से हटा दिया गया था।

3. गति के ग्राफ

इस अध्याय में गति के ग्राफ के माध्यम से गति, चाल, औसत चाल, त्वरण आदि को समझने का प्रयास होता है। अध्याय औसत चाल की परिभाषा के साथ शुरू होता है। फिर किसी छात्र की यात्रा की चर्चा होती है। पूरे अध्याय की एक विशेषता यह है कि गति की बात आम जीवन की गतियों के उदाहरण लेकर की गई है। अध्याय के दौरान बच्चे विभिन्न यात्राओं के आँकड़ों से ग्राफ बनाते हैं। ग्राफ बनाते हुए गति की विभिन्न बातें उभरती

जश्न-ए-तालीम

जाती हैं। ग्राफ की ढलान और चाल का सम्बन्ध, विराम का ग्राफ, बदलती गति के ग्राफ वगैरह के अभ्यास किए जाते हैं।

1987 व 2000 में भी अध्याय लगभग ऐसा ही था। ग्राफ और नक्शे के बीच अन्तर स्पष्ट किया गया था और ग्राफ बनाने की विधि को थोड़ा ज़्यादा सिलसिलेवार बनाया गया था। 2000 के संस्करण में अभ्यासों की संख्या बढ़ाई गई थी।

4. चीज़ें क्यों तैरती हैं

इस अध्याय के नाम से ही स्पष्ट है कि यह किन चीज़ों की खोजबीन करता है। शुरुआत एक खेल से होती है जिसमें एक उफननली में पानी और मिट्टी के तेल में कई चीज़ें डालकर देखा जाता है कि विभिन्न चीज़ें विभिन्न तलों पर टिकती हैं। यह खेल आगे के प्रयोगों के लिए जिज्ञासा पैदा करने का काम करता है। बीच में “भारी” और “घने” का अन्तर स्पष्ट करके अध्याय में इसी सवाल को आगे बढ़ाया गया है कि क्यों कुछ चीज़ें तैरती हैं, कुछ डूबती हैं। प्रयोग 1 व 2 में ठोस और प्रयोग 3 में द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व पता करते हैं। आपेक्षिक घनत्व की इकाई बच्चों से खुद पता करने को कहा गया है। आर्किमिडीज़ की कहानी दी गई है और प्रयोग 1 व 2 का सम्बन्ध आर्किमिडीज़ से जोड़ा गया है। यहाँ प्रश्नों के माध्यम से यह बात उभारी जाती है कि आपेक्षिक घनत्व और तैरने-डूबने का सम्बन्ध है। प्रयोग 4 व 5 में आर्किमिडीज़ के सिद्धान्त की खोज की जाती है। प्रयोग 6 में यह स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु का तैरना-डूबना उस वस्तु और द्रव दोनों पर निर्भर है। प्रयोग 7 में लैक्टोमीटर बनाते हैं। कुछ पहेलीनुमा अभ्यासों के साथ अध्याय समाप्त होता है।

1987 के संस्करण में अध्याय ऐसा ही रखा गया था।

2000 के संस्करण में इस अध्याय के दो भाग कर दिए गए थे, “आपेक्षिक घनत्व” और “कौन तैरे, कौन डूबे”।

“आपेक्षिक घनत्व” में खेल से शुरू करके ठोस पदार्थों व द्रवों के आपेक्षिक

घनत्व निकाले जाते हैं। मिलावट पता करने का आर्किमिडीज़ का तरीका ज़्यादा विस्तार से उभारा जाता है और आपेक्षिक घनत्व की इकाई पता करके दर्शाई जाती है। लैक्टोमीटर भी बनाते हैं।

“कौन तैरे, कौन डूबे” में आपेक्षिक घनत्व का पुनरावलोकन करने के बाद यह समस्या पेश की जाती है कि कई बार एक से अधिक आपेक्षिक घनत्व वाली चीज़ें भी पानी पर तैरती हैं। इस तरह के तीन प्रयोग किए जाते हैं। इनकी पृष्ठभूमि में आर्किमिडीज़ का नियम खोजने की कोशिश होती है। कुछ आम अनुभवों (पूड़ियाँ तलने, बर्फ के तैरने) का विश्लेषण किया जाता है।

5. सजीव और निर्जीव

यह अध्याय पूरी तरह बच्चों के पास उपलब्ध जानकारी पर आधारित है। यह जानकारी उनके आम अनुभवों की भी है और पिछले वर्षों में किए गए प्रयोगों से प्राप्त भी है। अध्याय में यह मानकर चला जाता है कि बच्चे सामान्य तौर पर यह जानते हैं कि कौन सजीव है और कौन निर्जीव। इसलिए सबसे पहले आसपास पाई जाने वाली चीज़ों को सजीव व निर्जीव में बाँटा जाता है। फिर सजीवों के लक्षणों की सूची बनाकर उसके परिप्रेक्ष्य में इन समूहों का विश्लेषण किया जाता है और यह सवाल उठाया जाता है कि क्या प्रत्येक सजीव में ये सारे गुणधर्म होना ज़रूरी है। इस सवाल को पेड़-पौधों की जड़ता, बीजों की निष्क्रियता, वयस्क मनुष्यों में वृद्धि के अभाव, मेंढकों में शीत निद्रा, साधुओं की समाधि वगैरह उदाहरणों के सन्दर्भ में परखा जाता है।

अध्याय में सजीव और निर्जीव को दो असम्बन्धित, शाश्वत समूहों के रूप में प्रस्तुत करने की बजाय परस्पर सम्बन्धित, नित परिवर्तनशील समूहों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सजीव मरकर निर्जीव हो जाते हैं और निर्जीव पदार्थों का उपयोग सजीव कर लेते हैं।

“लाल वैज्ञानिक” में इस अध्याय में सजीव और निर्जीव के बीच भेद करके चीज़ों का वर्गीकरण करते थे। चित्रों के माध्यम से सजीवों के कुछ गुणधर्म

जश्न-ए-तालीम

दिखाए गए थे। दिलचस्प बात यह है कि प्रजनन का गुण दर्शाने के लिए परिवार नियोजन का पोस्टर दिखाया गया था।

1987 के संस्करण में तो अध्याय ऐसा ही रहा, मगर 2000 के संस्करण में सूखे बीजों में श्वसन का एक प्रयोग जोड़ा गया था और निर्जीव वस्तुओं से सजीव बनने की प्रक्रिया में यह आयाम जोड़ा गया था कि निर्जीव पदार्थों से अपने-आप सजीव की उत्पत्ति नहीं होती।

6. समय और दोलक

समय बताने के लिए आम जीवन की घटनाओं का उपयोग करने की चर्चा करने के बाद इस अध्याय में जल घड़ी और मोमबत्ती की घड़ी बनाई जाती है। दोलक के साथ प्रयोग किए जाते हैं। दोलन काल पर वजन और लम्बाई का असर परखा जाता है। अन्त में दो रोचक प्रयोग हैं – एक में युग्मित (coupled) दोलक बनाते हैं और दूसरे में दो धागों से लटकता दोलक बनाते हैं।

“लाल वैज्ञानिक” में ऐसा ही एक अध्याय “समय और पुनरावर्ती निकाय” के नाम से था। इसमें पहले बच्चों को पुनरावर्ती क्रियाओं से परिचित कराया जाता था, समय का अनुमान लगाने को कहा जाता था। उसके बाद समय नापने में उपयोगी कुछ प्राकृतिक घटनाओं के उदाहरण देकर एक ब्यूरेट से बराबर समयान्तरालों में बहने वाले पानी की मात्रा का प्रयोग किया जाता था। एक घूमती चकती बनाते थे और अन्त में दोलक के प्रयोग करते थे।

1987 व 2000 में एक ही परिवर्तन यह किया गया था कि इंजेक्शन की शीशियों से रेत घड़ी बनाने का तरीका दिया गया था।

7. मिट्टी

परिभ्रमण के दौरान कई जगह की मिट्टी लाई जाती है और उसके साथ प्रयोग करके निम्नलिखित बातों की जाँच की जाती है – मिट्टी की गन्ध, कण-गठन (texture), सजीव वस्तुओं और जीवों के अवशेषों की उपस्थिति, विभिन्न आकारों के कणों की उपस्थिति, पानी की उपस्थिति, अवशोषित

पानी की मात्रा, मिट्टी में पानी का चढ़ना, मिट्टी में घुलनशील पदार्थ। मिट्टी की बनावट को होशंगाबाद ज़िले में निर्मित तवा सिंचाई परियोजना की समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास किया गया है।

कार्डों में शेष अध्याय तो ऐसा ही था मगर एक प्रयोग अलग था – मिट्टी की धोवन (निथरे हुए पानी) में बीज उगाने का प्रयास किया जाता है और इसकी तुलना आसुत पानी व कुएँ या नदी के पानी में बीज के अंकुरण से की जाती है। तवा बाँध वाला हिस्सा इसमें नहीं था।

1987 में कोशिश की गई थी कि मिट्टी के गुणधर्मों को उसके विभिन्न उपयोगों से जोड़ा जाए। सबसे पहले मिट्टी के उपयोगों की बात होती है। परिभ्रमण का स्वरूप बदला गया था और बच्चों से कहा गया था कि घर से स्कूल आते समय प्रत्येक टोली एक-एक जगह की मिट्टी ले आए। बाद में परिभ्रमण में उन्हें मिट्टी की कटान देखने को कहा गया था। कुछ नए प्रयोग जोड़े गए थे – मिट्टी की रिसन दर, मिट्टी का प्रकार पता लगाना, मिट्टी में पानी की मात्रा का पता लगाना इत्यादि। इसके बाद मिट्टी के गुणधर्मों और उसके उपयोगों के परस्पर सम्बन्धों की चर्चा के लिए प्रश्न दिए गए हैं।

थोड़े फेरबदल के साथ 2000 में भी अध्याय ऐसा ही रहा।

8. प्रकाश

छाया के खेल से शुरू करके इस अध्याय में प्रकाश के सरल रेखा में गमन, पिन होल कैमरा, प्रकाश के पथ, परावर्तन और अपवर्तन सम्बन्धी प्रयोग हैं और कुछ प्रकाशीय उपकरण बनाए जाते हैं।

प्रयोग 1 व 2 में छाया के साथ खेल-खिलवाड़ है। प्रयोग 3 में तीन गत्तों से प्रकाश के सरल रेखा में गमन की बात है। प्रयोग 4 और 5 में किसी प्रकाश स्रोत से निकलने वाली किरणों के फैलाव को देखा जाता है। किरण चित्र भी दर्शाया गया है और बाद में बच्चों से ऐसा चित्र बनाने को कहा भी गया है। एक डिब्बा बनाया जाता है जिसमें एक आयताकार खिड़की है। इसके सामने एक बल्ब रखकर खिड़की का प्रतिबिम्ब ग्राफ कागज़ से

जश्न-ए-तालीम

बने पर्दे पर बनाया जाता है। बल्ब और खिड़की की दूरी और खिड़की व पर्दे की दूरी बदलकर प्रतिबिम्ब के आकार में परिवर्तन को नापा जाता है और दूरी व प्रतिबिम्ब की लम्बाई के ग्राफ बनाए जाते हैं। फिर यही प्रयोग सूर्य के प्रकाश के साथ दोहराकर सूर्य से आ रही किरणों की समान्तर प्रकृति को देखा जाता है। इस सिलसिले में पिन होल कैमरा भी बनाया जाता है।

इसके बाद परावर्तन के नियम के प्रयोग हैं। आपतन कोण व परावर्तन कोण के सम्बन्ध को देख लेने के बाद पेरिस्कोप व कलाइडोस्कोप बनाए जाते हैं। अगले प्रयोग का सम्बन्ध अपवर्तन से है जिसमें एक पारदर्शी डिब्बे में भरे पानी में प्रकाश किरण को मोड़कर देखते हैं और अभिलम्ब से आपतित व अपवर्तित किरणों के कोण नापे जाते हैं। अपवर्तन सम्बन्धी एक खेल के बाद लेंस कैमरा बनाते हैं, दूरबीन बनाते हैं। पानी के प्रिज़्म से वर्णक्रम बनाया जाता है। अन्त में एक प्रोजेक्टर बनाने का तरीका दिया गया है।

काफी काट-छाँट के बाद यह अध्याय 1987 के संस्करण में कक्षा 7 में रखा गया था।

2000 में प्रयोगों की विधियों में फेरबदल के अलावा शेष अध्याय 1987 जैसा ही था।

9. शरीर के आन्तरिक अंग और उनके कार्य

इस अध्याय में विच्छेदित चूहे के अवलोकन और स्वयं अपने शरीर के साथ कुछ गतिविधियों के माध्यम से विभिन्न आन्तरिक अंगों के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती है। कुछ जानकारी पुस्तक में भी दी गई है। कुछ तंत्रों के कामकाज को समझने के लिए उनसे सम्बन्धित रोगों की चर्चा भी की गई है।

अध्याय में निम्नलिखित तंत्रों को शामिल किया गया है: पेशीय तंत्र, पाचन तंत्र, श्वसन तंत्र, रक्त परिसंचरण तंत्र, तंत्रिका तंत्र, मूत्र तंत्र, प्रजनन तंत्र व ग्रन्थियाँ। श्वसन और रक्त परिसंचरण तंत्र का आपसी सम्बन्ध भी स्पष्ट किया गया है। अध्याय के अन्त में शरीर के आन्तरिक अंगों की बहुस्तरीय जमावट को समझने के लिए एक मॉडल भी बनाया जाता है। चूहे के

विच्छेदन का तरीका परिशिष्ट के रूप में दिया गया है। शिक्षकों से अपेक्षा थी कि वे चूहे का विच्छेदन करेंगे।

1987 व 2000 के संस्करणों में अध्याय का ढाँचा ऐसा ही था। पेशीय तंत्र कक्षा 7 के अध्याय “शरीर के आन्तरिक अंग – 1” में शामिल किया गया था और चूहे के विच्छेदन का तरीका हटा दिया गया था। विच्छेदित चूहे किट में उपलब्ध कराए गए थे।

10. मशीनें

ढेर सारी गतिविधियों व चीज़ें बनाने पर आधारित इस अध्याय में बच्चों को कुछ सरल मशीनों से परिचित कराया जाता है। हथौड़ी व सुई के सम्भावित आविष्कार से बात शुरू होती है। दोनों में यह स्पष्ट होता है कि औज़ारों का विकास क्रमिक ढंग से, सुविधा व ज़रूरत के अनुसार हुआ है।

इसके बाद लीवर, लीवर की क्रियाविधि, लीवर और धिरनी का सम्बन्ध, धिरनी बनाना व उसकी तरह-तरह की व्यवस्थाएँ, यातायात सम्बन्धी मशीनें, गाड़ी बनाना, बेयरिंग, आनत तल, पेंच, पेंच और आनत तल का सम्बन्ध, फच्चर, क्रैंक, बेल्ट आदि से सम्बन्धित प्रयोग किए जाते हैं। साइकिल की रचना पर विचार किया जाता है। अध्याय की विशेषता यह है कि इसमें मशीनों को व्यावहारिक सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है और आम तौर पर उपलब्ध चीज़ों से मशीनें व उपकरण बनवाने का प्रयास किया गया है।

अध्याय के कुछ सैद्धान्तिक हिस्से हटाकर 1987 व 2000 में भी इसे लगभग इसी रूप में रखा गया था। मसलन यह समझाने का प्रयास छोड़ दिया गया था कि वास्तव में धिरनी लीवर ही है या पेंच एक आनत तल ही है। क्रैंक बनाने की गतिविधि भी हटा दी गई थी।

कुछ अध्याय ऐसे हैं जो तीसरे संस्करण में ही पहली बार शामिल किए गए थे। 1994 में शुरू हुई संशोधन प्रक्रिया के समय रसायन शास्त्र से सम्बन्धित अध्याय विकसित करने पर विशेष ज़ोर दिया गया था। इस प्रक्रिया में से उभरे कई अध्यायों में निम्नलिखित का समावेश 2000 के संस्करण में किया गया था:

1. घुलनशीलता (कक्षा 6)

इस अध्याय में तीन प्रयोगों के माध्यम से यह स्पष्ट किया जाता है कि किसी द्रव में प्रत्येक पदार्थ की घुलनशीलता निश्चित होती है और आम तौर पर तापमान बढ़ाने पर ठोस पदार्थों की घुलनशीलता बढ़ती है और अलग-अलग स्तर तक बढ़ती है। द्रवों की आपसी घुलनशीलता का प्रयोग भी है।

2. रवे बनाना (कक्षा 7)

तीन प्रयोगों में बच्चे यूरिया, बेंज़ोइक अम्ल और फिटकरी के रवे बनाते हैं। एक प्रयोग में रवे बनाने के लिए वाष्पन विधि का उपयोग करते हुए ऑक्सैलिक अम्ल, यूरिया, नमक और कॉपर सल्फेट के रवे बनाते हैं और यह देखते हैं कि हर पदार्थ के रवों की बनावट विशिष्ट होती है।

3. रासायनिक क्रियाएँ (कक्षा 7)

इस अध्याय में तीन प्रयोग हैं जिनमें तीन अलग-अलग रासायनिक क्रियाएँ की जाती हैं: ताम्बे की कलई, यूरिया और ऑक्सैलिक अम्ल की क्रिया, और लोहे पर जंग लगने की क्रिया। मुख्य बात यह उभरती है कि रासायनिक क्रिया के दौरान नए पदार्थ बनते हैं और इस बात का पता हमें कई तरह से चलता है, जैसे रंग बदलना, अवक्षेप बनना, बुलबुले निकलना वगैरह।

4. रासायनिक क्रियाओं की गति (कक्षा 8)

इस अध्याय में यह देखा जाता है कि रासायनिक क्रियाओं की रफ्तार पर किन-किन बातों का असर होता है। दो रासायनिक क्रियाओं पर प्रयोग किए जाते हैं। पहली है संगमरमर पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की क्रिया से कार्बन डाईऑक्साइड का बनना और दूसरी है एल्यूमिनियम पर सोडियम हाइड्रॉक्साइड की क्रिया से हाइड्रोजन का बनना। क्रिया की गति को नापने के लिए गैस के बुलबुले गिने जाते हैं। तीन कारकों का असर देखा जाता है – घोल का गाढ़ापन, ठोस अभिकारक के टुकड़ों का साइज़ और क्रिया का तापमान।

5. पदार्थों की रचना और संकेतों की भाषा (कक्षा 8)

यह अध्याय बच्चों को तत्व, यौगिक व मिश्रण, अणु व परमाणु तथा रासायनिक संकेतों व सूत्रों का प्रारम्भिक परिचय देता है। अध्याय की शुरुआत पृथक्करण की विधियों के आधार पर शुद्ध पदार्थ व मिश्रणों के बीच अन्तर से होती है। शुद्ध पदार्थों का समूहीकरण तत्व और यौगिक में किया जाता है और साथ ही इनमें अन्तर के लिए परमाणु की बात उठाई जाती है। इसके बाद संकेतों व सूत्रों की बात होती है तथा कुछ सामान्य तत्वों और यौगिकों के सूत्र बताए जाते हैं। सूत्रों के व्याकरण पर भी कुछ चर्चा है और कुछ अभ्यास दिए गए हैं। अध्याय की एक विशेषता यह है कि तत्व, यौगिक व मिश्रण समूहों को अस्थायी बताया गया है और स्पष्ट किया गया है कि यह सब उस समय उपलब्ध पृथक्करण और रासायनिक विश्लेषण की विधियों पर निर्भर है।

बदलती बाल वैज्ञानिक

1972 में “लाल वैज्ञानिक” निकली थी। मगर उसके बाद निर्णय किया गया कि फिलहाल और किताब नहीं छापी जाएगी क्योंकि यह निर्माण की अवधि है और किताब अन्तिम होने का आभास देती है। इसलिए 1972-77 की अवधि में विभिन्न अध्याय अलग-अलग छापकर बच्चों को कार्डों के रूप में उपलब्ध कराए जाते थे। इस दौर में अध्यायों के विकास की प्रक्रिया की बात हम कर ही चुके हैं।

ज़िला स्तरीय प्रसार के समय “लाल वैज्ञानिक” और कार्डों में उपलब्ध अध्यायों के अलावा कई नए अध्याय भी तैयार किए गए और उन्हें विभिन्न आधारों पर कक्षा 6, 7 और 8 में वितरित किया गया। इन आधारों में गुणात्मक से मात्रात्मक की ओर क्रमशः बढ़ना, ठोस से अमूर्त की ओर बढ़ना, प्रायोगिक कुशलता का स्तर, अध्यायों की परस्पर कड़ियाँ वगैरह शामिल थे। इस तरह से 1978 से 1980 के बीच *बाल वैज्ञानिक* का प्रथम संस्करण तैयार हुआ था जिसे मध्य प्रदेश पाठ्य पुस्तक निगम ने प्रकाशित किया था। 1978 में कक्षा 6, 1979 में कक्षा 7 व 1980 में कक्षा 8 में *बाल वैज्ञानिक* का प्रथम संस्करण लागू हुआ था। *बाल वैज्ञानिक* के साथ एक किट कॉपी भी होती थी जिसमें प्रयोग करने के लिए ज़रूरी स्टेशनरी दी जाती थी, जैसे ग्राफ, चौखाने कागज़, सूक्ष्मदर्शी के लिए कुछ सामग्री वगैरह।

इसके बाद *बाल वैज्ञानिक* में दो बार संशोधन हुआ। पहली संशोधन प्रक्रिया 1987-1989 में हुई थी तथा दूसरा संशोधन 1994 में शुरू होकर तथा बीच में कुछ रुककर 2000-02 में पूरा हुआ था।

फीडबैक के स्रोत

ज़िला स्तर पर लागू होने के बाद स्कूलों में उतना सघन अनुवर्तन सम्भव नहीं था जितना कि 16 स्कूलों के दौर में होता था। वैसे कोशिश तो यही रही कि स्कूलों में अनुवर्तन व्यवस्थित रूप से चले और इसके लिए विविध प्रयास भी किए गए, मगर अनुवर्तन एक दुखती रग ही रही। फिर भी जितना अनुवर्तन होता था उससे सामग्री को लेकर कुछ फीडबैक तो मिलता रहा। शिक्षक प्रशिक्षण व संगम केन्द्र स्तर पर होने वाली शिक्षकों की मासिक गोष्ठियाँ भी फीडबैक की स्रोत रहीं। इनके अलावा परीक्षा भी फीडबैक का एक ज़रिया बनी। परीक्षा को छात्रों के फीडबैक के रूप में उपयोग करना इस कार्यक्रम की एक अनोखी बात थी।

हो.वि.शि.का. की परीक्षा में बच्चों की उत्तर पुस्तिकाओं के एक नमूने का गहन विश्लेषण शिक्षकों के एक बड़े समूह द्वारा सामूहिक रूप से करने की परम्परा रही। इस विश्लेषण में सिर्फ सही-गलत की बातें नहीं होती थीं बल्कि इस बात की भी चर्चा की जाती थी कि बच्चों को कहाँ कठिनाई हो रही है और क्या। इसके माध्यम से बाल वैज्ञानिक व शिक्षण कार्य की समीक्षा भी हो जाती थी। और कुछ नहीं तो इससे ऐसे संकेत तो मिल ही जाते थे कि किन अध्यायों और अवधारणाओं वगैरह पर ज़्यादा ध्यान देने या ज़्यादा व्यवस्थित अध्ययन करने की ज़रूरत है।

बाल वैज्ञानिक में संशोधन से पहले कई प्रक्रियाएँ की जाती थीं। पहली प्रक्रिया तो यही होती थी कि पिछले सभी शिक्षक प्रशिक्षणों के कक्षा प्रतिवेदनों और फीडबैक रिपोर्टों को खंगाला जाता था। इससे इस बात को समझने में मदद मिलती थी कि विभिन्न अध्यायों के बारे में क्या मुद्दे उभरे थे।

फिर इस अवधि में प्राप्त सारी अनुवर्तन रिपोर्टों और मासिक गोष्ठी की रिपोर्टों की छानबीन होती थी, मुद्दे छँटे जाते थे। खास संशोधन के सन्दर्भ में शिक्षकों की गोष्ठियाँ (आजकल की भाषा में फोकस ग्रुप डिस्कशन) आयोजित की जाती थीं जहाँ शिक्षक अपने अनुभव के आधार पर प्रत्येक अध्याय के बारे में सुझाव देते थे। वे पूरी किताब में पाठ्य-वस्तु के सन्तुलन,

जश्न-ए-तालीम

चित्रों और भाषा वगैरह पर भी सुझाव दे सकते थे। ये सुझाव पुस्तकों को स्कूल की परिस्थिति के अनुरूप बनाने में बहुत मददगार रहे।

अन्त में कुछ अवधारणाओं तथा मुद्दों पर व्यवस्थित सर्वेक्षण भी किए जाते थे।

वास्तविक संशोधन कार्य करते समय कुछ शिक्षकों को भी आमंत्रित किया जाता था ताकि वे नियमित तौर पर संशोधन व पुनर्लेखन की प्रक्रिया में भाग लें और इस तरह स्कूली परिस्थिति से जुड़ाव बना रहे।

उपरोक्त सारी प्रक्रियाएँ *बाल वैज्ञानिक* को स्कूली हालात के अनुरूप बनाने में योगदान देती थीं। मगर संशोधन का मकसद इतना ही नहीं था। विज्ञान व विज्ञान शिक्षा को लेकर नए-नए विचार उभरते हैं, विषय विशेष में समझ का विकास होता है, किसी अवधारणा को समझने के नए ढंग विकसित होते हैं और अन्य स्थानों पर हो रहे नवाचारों में से नए विचार सामने आते हैं। ये सब भी पुस्तक व शिक्षण पद्धति में संशोधन की माँग करते हैं।

इस सारे फीडबैक पर विचार-विमर्श के बाद अध्यायों के प्रथम प्रारूप तैयार करना, इन पर शिक्षकों की राय लेना और फिर उनमें संशोधन करके बच्चों के साथ व्यापक परीक्षण करना वगैरह प्रक्रिया के अभिन्न अंग थे।

प्रथम संशोधन

ज़िला स्तर पर लागू होने के बाद से स्कूलों से काफी फीडबैक संकलित होने लगा था और धीरे-धीरे संशोधन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी। इसके अलावा हो.वि.शि.का. समूह में भी *बाल वैज्ञानिक* के कई पहलुओं को लेकर विचार-विमर्श जारी था और कई मुद्दे उभर रहे थे।

अस्सी के दशक में कई अध्ययनों का यह निष्कर्ष था कि मात्र प्रयोग करके खोज करना विज्ञान और विज्ञान कर्म की काफी अधूरी समझ प्रस्तुत करता है। ये अध्ययन अन्य देशों में चल रहे इसी तरह के कार्यक्रमों के सन्दर्भ में किए गए थे। सामने आ रहा था कि इस तरह का प्रत्यक्ष प्रमाणवादी नज़रिया स्वयं विज्ञान की प्रकृति को समझने के लिहाज़ से पुराना पड़ चुका है। कहा जा रहा था कि इस तरह प्रत्यक्ष प्रयोगों से सिद्धान्तों व अवधारणाओं

की “खोज” करना वैज्ञानिक उद्यम की भ्रामक छवि पेश करता है। दरअसल कई विद्वानों ने कहना शुरू किया था कि वास्तव में अवलोकन व सिद्धान्त/अवधारणा के बीच काफी पेचीदा सम्बन्ध है और हमेशा ये इसी क्रम में नहीं आते; कई मर्तबा अवधारणा या सिद्धान्त का पूर्वाभास न हो तो अवलोकन भी नहीं हो पाता। यानी विज्ञान के अपने दर्शन और शिक्षा से उसके सम्बन्धों को लेकर काफी उथल-पुथल मची हुई थी। जब संशोधन की प्रक्रिया शुरू हुई तो ये मुद्दे भी उभरे हालाँकि ठीक इसी रूप में नहीं।

अन्य देशों में चल रहे कार्यक्रमों में एक और बात की ओर ध्यान दिया गया था। ऐसे अधिकांश कार्यक्रम बच्चों को विज्ञान की विधि से परिचित कराने के लिए शुरू किए गए थे। इनकी एक बड़ी खामी यह सामने आई थी कि ये बच्चे के परिवेश व उसकी पूर्व अवधारणाओं को बिलकुल भी तवज्जो नहीं देते। लेकिन हो.वि.शि.का. में तो शुरू से ही माना गया था कि बच्चों के पूर्व ज्ञान के आधार पर ही आगे की प्रक्रिया चलेगी।

मगर 1985 में जब बाल वैज्ञानिक संशोधन का काम शुरू हुआ तो प्रमुख सरोकार यह था कि बाल वैज्ञानिक (खास तौर से कक्षा 7 और 8) स्कूल सत्र में पूरी नहीं हो पाती है। उस समय तीनों कक्षाओं की बाल वैज्ञानिकों में कुल मिलाकर 59 अध्याय थे। खास तौर से कक्षा 8 की बाल वैज्ञानिक बहुत भारी-भरकम थी और दो खण्डों में थी। स्कूल से प्राप्त फीडबैक का यह स्पष्ट संदेश था कि यह एक साल में पूरी हो ही नहीं सकती। इसलिए 1985 में प्रमुख चिन्ता बाल वैज्ञानिक की विषय-वस्तु को काट-छाँटकर स्कूल में उपलब्ध समय के अनुरूप बनाने की थी।

उसी समय यह बात भी उठने लगी थी कि बाल वैज्ञानिक के सख्त प्रयोग आधारित स्वरूप पर भी पुनर्विचार करने की ज़रूरत है तथा सीखने के अन्य तरीकों को समुचित स्थान देने के बारे में सोचना चाहिए। मसलन अक्टूबर 1985 में पचमढ़ी में बाल वैज्ञानिक पुनर्लेखन पर एक कार्यशाला आयोजित की गई थी। इसमें कार्यक्रम से जुड़े स्रोत व्यक्तियों और स्कूली शिक्षकों ने भाग लिया था। यहाँ बाल वैज्ञानिक की समीक्षा विभिन्न दृष्टिकोणों से हुई – विषय-वस्तु, पद्धति, चित्रांकन, प्रस्तुतीकरण, प्रयोगों की संरचना, भाषा वगैरह। पद्धति पर विचार करने के लिए बने उपसमूह की रिपोर्ट में कई

जश्न-ए-तालीम

प्रमुख सवाल प्रस्तुत हुए थे। बिन्दुवार प्रस्तुत इस रिपोर्ट में कई महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ व सुझाव थे।

सबसे पहली टिप्पणी यह थी कि कई अवधारणाओं को गतिविधियों द्वारा उभारने की कोशिश में प्रयोग शायद बहुत बोझिल, अरोचक या अस्पष्ट हो गए हैं। सवाल यह भी था कि क्या यह ज़रूरी है कि सभी अवधारणाओं को गतिविधियों से ही उभारा जाए। इसी से जुड़ा सवाल यह था कि विज्ञान की बातों को समझने के अन्य तरीकों (जैसे सरल व रोचक वर्णन, प्रमाण सहित) का उपयोग करने की कोशिश क्यों न की जाए।

प्रयोगों के बारे में भी कुछ सुझाव थे। *बाल वैज्ञानिक* में कई जगह एक ही अवधारणा को समझाने के लिए कई प्रयोग थे। सुझाव था कि अध्यायों को चुस्त व सुकेन्द्रित बनाने के लिए अनावश्यक प्रयोग हटा दिए जाएँ। यहाँ यह दोहराया जा सकता है कि समूह की सामान्य समझ यह थी कि “यदि किसी अवधारणा को विकसित करना है तो अवलोकन बार-बार दोहराए जाने चाहिए। यह नहीं कि आपने एक बार प्रयोग कर दिया और बच्चे तराजू के सिद्धान्त सीख गए। बार-बार अलग-अलग तरह के प्रयोग करवाने पड़ेंगे जिनसे वे कदम-कदम आगे बढ़ें।” मगर कुल विषय-वस्तु और स्कूली सत्र में उपलब्ध अवधि के बीच तालमेल बनाना भी आवश्यक था।

इसी प्रकार लम्बी अवधि के प्रयोगों के बारे में आकलन था कि अधिकांश शिक्षक इन्हें कक्षा में करवा नहीं पाते। इसलिए ऐसे प्रयोगों को हटाने का सुझाव दिया गया था। (लम्बी अवधि के प्रयोगों से आशय ऐसे प्रयोगों से है जो एक दिन में पूरे नहीं होते।)

मगर समूह इन सुन्दर प्रयोगों को पूरी तरह हटाना भी नहीं चाहता था। उदाहरण के लिए, एक प्रयोग था जिसमें बच्चे मुर्गी के अण्डे में भ्रूण के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन करते हैं। यह कक्षा 7 के अध्याय “विकास” (आगे चलकर इसका नाम “परिवर्धन” हुआ) में था और शिक्षक प्रशिक्षण शिविरों में शिक्षकों को बहुत भाता था, बशर्ते कि इसकी पूरी व्यवस्था हो जाए। व्यवस्था यह करनी होती थी कि एक ही दिन आपको अलग-अलग अवधि तक विकसित निषेचित अण्डे प्राप्त हो जाएँ। इस तरह मोह के चलते समूह का सुझाव था कि इन प्रयोगों को प्रशिक्षण में ज़रूर

करवाया जाए और इन्हें किताब में कुछ इस शैली में रखा जाए कि वे हर बच्चे के लिए अनिवार्य न रहें।

यहाँ एक बार फिर यह बात रेखांकित होती है कि बच्चों को एक समग्र अनुभव देने के लिए पाठ्य पुस्तक और शिक्षक की भूमिका के बारे में नए सिरे से सोचने की ज़रूरत है। यदि पाठ्य पुस्तक के मायने ये हैं कि उसे “कवर-से-कवर” तक पूरा करना है तो उसके आकार पर सख्त सीमाएँ लागू करनी होंगी। किसी अवधारणा को सिखाने की दृष्टि से यह सीमा हानिकारक भी हो सकती है। मगर यदि पाठ्य पुस्तक मात्र एक स्रोत सामग्री है (शिक्षक के लिए) तो इसका रूप काफी अलग हो सकता है और यह नई सम्भावनाएँ प्रस्तुत कर सकती है।

पद्धति समूह को लगा कि कई अध्यायों का उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता। मसलन कक्षा 6 के “समूह बनाना सीखो” में पहली गतिविधि (अपनी कक्षा के छात्रों की सूची बनाना) लम्बी, बोझिल व निरुद्देश्य प्रक्रिया मानी गई। कहने का आशय यह था कि इस तरह समूहीकरण का सवाल न तो एक ज़रूरत के रूप में प्रस्तुत होता है (कि समूह बनाना क्यों ज़रूरी है या इससे किस तरह की मदद मिलती है) और न ही एक मज़ेदार गतिविधि या खेल-खिलवाड़ के रूप में प्रस्तुत होता है। यह दिक्कत कई अध्यायों में पहचानी गई।

यह महसूस किया गया कि कई बार बिना पूर्व तैयारी के अचानक ही बच्चों को कई बौद्धिक क्रियाएँ करने के लिए छोड़ दिया गया है। जैसे समूह के पाठ में खुद गुणधर्म चुनकर समूह बनाना। गुणधर्म चुनना सिखाने के लिए कोई अभ्यास नहीं है। इसी तरह चुम्बक में चुम्बकीय-अचुम्बकीय की समझ, पृथक्करण में मिश्रण व घोल की अवधारणा वगैरह।


समूह का मत था कि कई बार ऐसा लगता है कि *बाल वैज्ञानिक* के पाठ्यक्रम में बच्चों को वैज्ञानिक पद्धति का वास्तविक परिचय करवाकर उन्हें धीरे-धीरे व सहज रूप से उसका उपयोग करने देने के बजाय वैज्ञानिक विधि के दो-तीन अवयव बहुत अस्वाभाविक ढंग से बच्चों पर बार-बार थोपे जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, कक्षा 6 का अध्याय “पत्तियों का समूहीकरण” लिया गया था। इस अध्याय में बच्चे परिभ्रमण पर जाते

जश्न-ए-तालीम

हैं, पत्तियाँ इकट्ठी करते हैं, उनका अवलोकन करते हैं और निम्नलिखित तालिका में इन अवलोकनों को रिकॉर्ड करते हैं:

क्र०	नाम	डंठल है या नहीं	चिकनी या खुरदरी	रोएँदार या नहीं	लम्बी या गोल		
1.	पीपल	है	चिकनी	नहीं	गोल		
2.	गेहूँ	नहीं	खुरदरी	नहीं	लम्बी		
3.							
.							
.							
.							
.							
.							

इसके बाद वे इस तालिका के आधार पर एक और तालिका बनाते हैं:

क्र०	गुणधर्म	चित्र	उदाहरण (पत्तियों के नाम)
1.	नुकीला सिरा		पीपल,

असल में यह दूसरी वाली तालिका सीधे भरवाना कहीं ज़्यादा आसान व रोचक होगा। इसलिए पद्धति समूह को लगा कि पहले एक तालिका भरना और फिर उसी को पुनः व्यवस्थित करना वैज्ञानिक विधि का अनावश्यक व अतिरिक्त अभ्यास है।

इसी सन्दर्भ में यह सवाल उठा कि क्या वैज्ञानिक विधि सीखने में किसी क्रम, सन्तुलन या विविधता की ज़रूरत नहीं है। एक सुझाव यह था कि आँकड़ों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने में पहले छोटी, स्पष्ट व निश्चित उद्देश्य वाली तालिका बनवाई जाए, जिसका स्वरूप किताब में दिया गया हो, और उसके बाद धीरे-धीरे बच्चों से अपेक्षा की जाए कि वे अपने आप तालिका का स्वरूप तय करें। शुरू में उन्हीं आँकड़ों को नए ढंग से पुनः व्यवस्थित करने के अभ्यास कम हों, बाद में ज़्यादा।

पद्धति समूह का विचार था कि बच्चों को यह एहसास दिलाना चाहिए कि प्रयोग करना, अवलोकन लेना व निष्कर्ष निकालना – यही वैज्ञानिक खोज की निश्चित पटरी नहीं है। वैज्ञानिक खोज वास्तव में कितनी अलग-अलग क्षमताओं (कल्पनाशीलता, एहसास, अन्दाज़ लगाना इत्यादि) के समन्वय से सम्भव होती है इसका आभास दिलाने की कोशिश हो। कुछ प्रयोगों का ऐतिहासिक महत्व भी बच्चों को बताया जाए (जैसे मक्खी के जीवन चक्र का प्रयोग)। यह भी बताया जा सकता है कि कई अप्रत्याशित घटनाओं का विज्ञान के इतिहास में क्या स्थान है। केवल साधारण कहानी न हो, पर ऐसे प्रस्तुत करें कि वैज्ञानिक विधि की विविधता व उसके रोमांच की झलक बच्चों को मिले।

एक सवाल यह था कि क्या बच्चों के लिए मॉडल बनाने की विधि और उसका उपयोग (वैज्ञानिक किस प्रकार काल्पनिक मॉडल का इस्तेमाल करके जटिल समस्याओं का सरल ढंग से हल करते हैं) सम्भव है? क्या इस सन्दर्भ में हमारे प्रयास (जैसे कोशिकाओं का मॉडल) बच्चों के लिए उपयुक्त हैं या इनसे वे और भ्रमित होते हैं? इसमें क्या सुधार सम्भव है? अन्य जगहों पर कहाँ-कहाँ मॉडल के बारे में परिचय दिया जा सकता है? इस कार्यशाला में विषय-वस्तु समूह ने जमकर काम किया था। इस समूह

जशन-ए-तालीम

ने मूलतः विषय-वस्तु में छँटाई और अध्यायों के पुनर्गठन सम्बन्धी सुझाव दिए थे।

कार्यशाला में पहली बार पुस्तकों के चित्रों, ले-आउट तथा प्रस्तुतीकरण को लेकर एक पेशेवर समूह को शामिल किया गया। इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी, बम्बई, के इण्डस्ट्रियल डिज़ाइन सेंटर के कीर्ती त्रिवेदी के नेतृत्व में इस समूह ने *बाल वैज्ञानिक* के प्रस्तुतीकरण की एक व्यवस्थित समीक्षा प्रस्तुत की थी।

कुल मिलाकर इस कार्यशाला में *बाल वैज्ञानिक* में संशोधन व सुधार के कई सुझाव आए, मगर जब पुनर्लेखन का काम शुरू हुआ तो *बाल वैज्ञानिक* को स्कूली सत्र में उपलब्ध समय के अनुकूल बनाना प्रमुख सरोकार बन गया। इस तरह इस संशोधन प्रक्रिया का प्रमुख परिणाम यही कहा जा सकता है कि अध्यायों के पुनर्गठन व पुनर्वितरण तथा व्यापक छँटाई के ज़रिए किताब को स्कूल सत्र की अवधि में समेटना सम्भव हुआ। दूसरे शब्दों में, “कक्षा 8 की किताब एक खण्ड में आ गई।”

पद्धति समूह की सिफारिशों व सवालों के सन्दर्भ में छिटपुट काम ज़रूर हुआ, मगर अध्यायों का बुनियादी ढाँचा नहीं बदला और न ही वैज्ञानिक पद्धति के अन्य तत्वों को या सीखने के अन्य तरीकों को कोई उल्लेखनीय स्थान मिला।

इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि “पत्तियों का समूहीकरण” की जिन दो तालिकाओं का उदाहरण लेकर पद्धति समूह ने “वैज्ञानिक विधि के अनावश्यक व अतिरिक्त अभ्यास” की बात समझाई थी, वे दोनों तालिकाएँ वैसी की वैसी ही रहीं। नए संस्करण में भी “सभी अवधारणाओं को गतिविधि के माध्यम से उभारने” का आग्रह बरकरार रहा, “सरल व रोचक वर्णन” शायद इक्का-दुक्का ही जुड़े हों।

इस संस्करण के निर्माण में शिक्षकों की प्रत्यक्ष भागीदारी काफी कम थी। पचमढ़ी कार्यशाला में कुछ शिक्षक शरीक थे, मगर उनका योगदान मूलतः *बाल वैज्ञानिक* को स्कूल में करवाने में लगने वाले समय की गणना तथा विभिन्न प्रयोगों व अवधारणाओं को करवाने की दिक्कतों के विश्लेषण तक

सीमित था। स्कूलों में अनुवर्तन, शिक्षकों की मासिक बैठकों, प्रशिक्षण शिविरों तथा शिक्षकों से अनौपचारिक चर्चाओं से प्राप्त उनके अनुभवों व विचारों ने ही इस संशोधन प्रक्रिया को निर्देशित किया था। इस विषय में बच्चों के साथ कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया गया था कि *बाल वैज्ञानिक* के कौन-से हिस्से कठिन हैं या बच्चों को रोचक नहीं लगते। इसका निर्णय मूलतः शिक्षकों के एहसासों के आधार पर किया गया था।

दूसरा संशोधन

दरअसल 1985 में पद्धति समूह द्वारा प्रस्तुत मुद्दों को अगले संशोधन में सम्बोधित किया गया था। ऐसा लगता है कि 1994 में जब दूसरी बार संशोधन की प्रक्रिया शुरू हुई तब तक हो.वि.शि.का. 1985 में प्रस्तुत समझ व विचारों को आत्मसात कर चुका था। यह भी हो सकता है कि 1985 में उन विचारों को ठोस अध्यायों व सामग्री का रूप देने के लिए ज़रूरी हुनर व समय का अभाव था।

1985-1994 के दशक में एक महत्वपूर्ण घटनाक्रम और हुआ था तथा हो.वि.शि.का. के लिए नई सम्भावनाएँ भी उजागर हो रही थीं। उनका असर भी दूसरे संशोधन पर पड़ा। इसका सम्बन्ध कार्यक्रम के फैलाव से था।

वैसे तो हो.वि.शि.का. का प्रसार एक लगातार चलती हुई बात रही है, मगर नब्बे के दशक के शुरू में कार्यक्रम के राज्य स्तरीय प्रसार की सम्भावनाएँ शासन व एकलव्य दोनों के द्वारा संजीदगी से टटोली जा रही थीं। एक ओर तो इसके लिए शिक्षक प्रशिक्षण के उपयुक्त ढाँचों पर चर्चा चल रही थी, विकेन्द्रित व कारगर प्रशासनिक व्यवस्थाओं पर विचार चल रहा था, वहीं दूसरी ओर पाठ्यक्रम, विषय-वस्तु व *बाल वैज्ञानिक* को भी नए परिप्रेक्ष्य में देखा जा रहा था।

इसी समय राज्य स्तरीय प्रसार की सम्भावना के मद्देनज़र केन्द्र सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने एक समिति का गठन किया। एन.सी.ई.आर.टी. के गणित व विज्ञान शिक्षा विभाग के अध्यक्ष बी. गांगुली इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति को राज्य स्तरीय प्रसार के परिप्रेक्ष्य में हो.वि.शि.का. का एक आकलन करके आगे बढ़ने के सुझाव देना था।

जशन-ए-तालीम

जहाँ समिति ने हो.वि.शि.का. के बुनियादी सिद्धान्तों से सहमति व्यक्त की और कार्यक्रम का राज्य स्तरीय प्रसार करने के अलावा इन सिद्धान्तों को आगे की कक्षाओं (कक्षा 9 व 10) में भी अपनाने की सलाह दी, वहीं यह टिप्पणी भी की कि इस कार्यक्रम में विज्ञान की प्रक्रिया को तो बखूबी उभारा गया है मगर विज्ञान के उत्पाद (“तथ्य” और “जानकारी”, यानी नियमों-परिभाषाओं) की उपेक्षा हुई है, उन्हें पर्याप्त स्थान नहीं मिला है। समिति की सिफारिश थी कि प्रक्रिया – उत्पाद के इस असन्तुलन को दुरुस्त किया जाए।

इस सिफारिश को लेकर हो.वि.शि.का. समूह उहापोह की स्थिति में था क्योंकि कार्यक्रम की बुनियाद में यह पद्धति थी कि नियम, परिभाषाएँ बच्चे स्वयं खोजेंगे। यानी समूह की मान्यता थी कि विज्ञान के उत्पाद दरअसल बच्चों द्वारा की गई विज्ञान की प्रक्रिया के उत्पाद होने चाहिए, पके-पकाए उत्पाद नहीं। इस तरह समिति की सिफारिश को सीधे-सीधे अपना लेने का मतलब होता कि कार्यक्रम की आत्मा को नष्ट कर दिया जाए। समिति की उक्त सिफारिश में पाठ्य पुस्तक को ही पाठ्यक्रम मानने की भूल झलकती है। यदि सिर्फ *बाल वैज्ञानिक* को देखा जाए तो यह बात सही लगती है कि इसमें विज्ञान के “तथ्य और जानकारी” नहीं हैं मगर, जैसा कि पहले भी कहा गया है, *बाल वैज्ञानिक* तो हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम का एक अंश मात्र है। इसके साथ कक्षा में होने वाली कार्यवाही के बाद ही पाठ्यक्रम पूरा होता है, पाठ्यक्रम के लक्ष्य हासिल होते हैं। इस रिपोर्ट व आगे की योजना पर बातचीत के लिए आयोजित एक बैठक में अनिल सद्गोपाल ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया था: “मैं समिति की प्रोसेस बनाम प्रोडक्ट वाली टिप्पणी की एक और व्याख्या करना चाहता हूँ। जिन कक्षाओं में होशंगाबाद विज्ञान पढ़ाया जाता है उनमें से कितनी कक्षाओं में प्रयोग से अपेक्षित अवलोकन व आँकड़ों को लेकर आगे की प्रक्रिया चलती है? और विद्यार्थियों को निष्कर्ष निकालने या अवधारणा विकसित करने के चरण तक पहुँचाया जाता है? या हाथों से कुछ कर लेने या बाहर से प्राकृतिक सामग्री बटोर लेने में होशंगाबाद विज्ञान की इतिश्री मान ली जाती है? कितने शिक्षक प्रयोगों से निष्कर्षों व अवधारणाओं तक पहुँचने की प्रक्रिया में सक्षम हैं?”

अन्ततः यह माना गया कि हो.वि.शि.का. के इस पहलू को यानी प्रयोगों व गतिविधियों से खोज की प्रक्रिया को सुदृढ़ बनाने की ज़रूरत है। इस बात का एक पहलू यह था कि *बाल वैज्ञानिक* में इस तरह के परिवर्तन किए जाएँ जो “प्रोडक्ट” पक्ष को ज़्यादा सुगम बनाएँ।

इस दृष्टि से *बाल वैज्ञानिक* के तीसरे संस्करण में एक प्रमुख प्रयास यह किया गया था कि प्रयोग शुरू करने से पहले थोड़ी भूमिका बाँधी गई। इसमें बच्चों को (या शायद शिक्षकों को) यह आभास देने की कोशिश की गई कि प्रयोग में किस बात पर ध्यान देना है या किन सवालों के जवाब खोजने के लिए वह प्रयोग किया जा रहा है।

दो उदाहरण देखिए। दोनों में अवधारणा व प्रयोग एक ही हैं:

कक्षा 6 (1978)

चुम्बक के दो ध्रुव: प्रयोग 2

एक कागज़ के ऊपर लोहे का थोड़ा-सा बुरादा रखो। एक छड़ चुम्बक को उससे छुआकर उठा लो।

तुम क्या देखते हो? (2)

कक्षा 6 (2000)

चुम्बक के दो ध्रुव: प्रयोग 2

क्या तुमने इस बात पर ध्यान दिया है कि चीज़ें चुम्बक के किस हिस्से पर ज़्यादा चिपकती हैं। क्या चुम्बक के सभी हिस्से बराबर रूप से चुम्बकीय चीज़ों को अपनी ओर खींचते हैं? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के लिए एक और प्रयोग करो।

एक कागज़ के ऊपर लोहे का थोड़ा-सा बुरादा रखो। एक छड़ चुम्बक बुरादे पर आड़ा लिटाकर इधर-उधर घुमाओ। अब चुम्बक को उठाओ।

तुम क्या देखते हो? अपनी कॉपी में चित्र बनाओ। (2)

चुम्बक के किस हिस्से पर बुरादा अधिक चिपकता है? (3)

किस हिस्से पर बुरादा नहीं के बराबर चिपकता है? (4)

जशन-ए-तालीम

इस संशोधन प्रक्रिया का दूसरा पहलू भी गांगुली समिति ने रेखांकित किया था, मगर वास्तव में वह एक ऐसा मुद्दा रहा है जो 1974-75 से उठने लगा था। यह बात कई तबकों से उठती रही है कि हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम की कड़ियाँ आगे की कक्षाओं से नहीं जुड़ पातीं। इस विषय की चर्चा हम विस्तार में अलग से करेंगे, यहाँ प्रासंगिक बात यह है कि जब भी *बाल वैज्ञानिक* और कक्षा 6-8 में चल रही “सरकारी” पाठ्य पुस्तकों में विशिष्ट अन्तरों की बात आती थी, तो मुख्य रूप से रसायन शास्त्र की ओर उँगली उठती थी और उसमें भी यह कहा जाता था कि *बाल वैज्ञानिक* में अणु, परमाणु, रासायनिक संकेत, सूत्र व समीकरणों का अभाव है, जिसकी वजह से बच्चों को कक्षा 9-10 में परेशानी होती है।

संशोधन की प्रक्रिया में इस मुद्दे को सम्बोधित करते हुए *बाल वैज्ञानिक* के रसायन शास्त्र की विषय-वस्तु पर विचार करने हेतु एक समूह का गठन किया गया था जिसने करीब एक वर्ष काम करके रसायन शास्त्र सम्बन्धी कई अध्याय विकसित किए थे। काफी विचार-विमर्श के बाद समूह इस निर्णय पर पहुँचा था कि “अणु, परमाणु” कक्षा 8 तक नहीं पढ़ाया जाना चाहिए। समूह का विचार था कि इस स्तर पर बच्चों को रासायनिक परिघटनाओं, क्रियाओं, परिवर्तनों का पर्याप्त अनुभव दिया जाना चाहिए जो आगे चलकर उपरोक्त अमूर्त चीज़ें सीखने में मददगार होगा। मगर अन्ततः कक्षा 8 में “पदार्थों की रचना और संकेतों की भाषा” नामक अध्याय शामिल किया गया था। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह एक शैक्षिक निर्णय नहीं था बल्कि परिस्थिति के साथ एक समझौता था, क्योंकि ऐसा एहसास था कि सिर्फ इस एक अध्याय के न होने के कारण पूरे कार्यक्रम, उसकी शिक्षण पद्धति पर ही सवाल खड़े होने लगते हैं।

रसायन शास्त्र समूह के प्रयासों के फलस्वरूप रसायन के निम्नलिखित नए अध्याय तैयार हुए और *बाल वैज्ञानिक* के अंग बने – “रासायनिक क्रियाएँ”, “रासायनिक क्रियाओं की गति”, “रवे बनाना”, “घुलनशीलता”, “पदार्थों की रचना” और “संकेतों की भाषा”।

संशोधन का तीसरा आयाम समूह के अपने अनुभवों व सोच-विचार का

परिणाम था। एक तरह से यह आयाम 1985-1989 की संशोधन प्रक्रिया में सामने आ चुका था। मगर इस बार इसे साकार रूप मिला। जो सवाल 1985 में पूछा गया था – “क्या सारी अवधारणाएँ गतिविधियों के माध्यम से ही उभारनी हैं और क्या सीखने के अन्य तरीकों को कोई स्थान नहीं देना है?” – उसे भी इस संशोधन में सम्बोधित किया गया।

“पौधों में पोषण”, “कहाँ-कहाँ नहीं है बल”, “फसलों के सवाल-जवाब: भाग-1 व 2” जैसे अध्याय तैयार हुए। ये तीनों विषय पहले भी *बाल वैज्ञानिक* के अंग थे मगर इन्हें एकदम नए ढंग से प्रस्तुत किया गया। “कहाँ-कहाँ नहीं है बल” पूरी तरह दैनिक जीवन की घटनाओं में बलों के विश्लेषण पर आधारित है और बच्चों को ख्याली प्रयोग (thought experiment) जैसी प्रक्रियाओं से परिचित कराता है। यह अध्याय मूलतः न्यूटन के गति के पहले नियम के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है और बच्चों को लगातार अलग-अलग परिस्थितियों में बलों की खोज में शामिल करता है। कहीं-कहीं इसमें एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी शामिल किया गया है। “पौधों में पोषण” नामक अध्याय में पौधों में पोषण के सवाल की खोज के इतिहास को चर्चा का आधार बनाया गया है, जबकि “फसलों के सवाल-जवाब” में कोशिश की गई है कि दी गई जानकारी का उपयोग करके फसलों से जुड़े विभिन्न मुद्दों की छानबीन की जाए।

इन तीन सर्वथा नए ढंग से तैयार किए गए अध्यायों के अलावा दोनों संशोधनों के दौरान अधिकांश अध्यायों के अवधारणात्मक ढाँचे में खास फेरबदल नहीं किया गया था। कई प्रयोगों को सरल बनाया गया था और कहीं-कहीं नए प्रयोग जोड़े गए थे या पुराने प्रयोग हटाए गए थे। अलबत्ता, कई सारे अध्यायों में अवधारणाओं से जुड़ी रोचक जानकारी, ऐतिहासिक तथ्य, वैज्ञानिकों की जीवनी, प्रयोगों के विवरण आदि काफी मात्रा में जोड़े गए थे। मकसद यह था कि बच्चे जो कुछ सीखें, उसे एक व्यापक सन्दर्भ से जोड़ पाएँ और वैज्ञानिकों के कामकाज की एक झलक पा सकें। इस तरह से तीसरे संस्करण में बच्चों के सामने वैज्ञानिक विधि का एक ज़्यादा समग्र चित्र प्रस्तुत करने की कोशिश हुई थी।

जश्न-ए-तालीम

दूसरे संशोधन के दौरान शिक्षकों की प्रत्यक्ष भागीदारी काफी अधिक रही और अध्यायों के लेखन व परीक्षण में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस संस्करण के लिए अवधारणाओं की समझ को लेकर बच्चों के साथ व्यवस्थित परीक्षण भी किए गए थे और इनके परिणामों ने संशोधन को प्रभावित किया था।

अगले खण्ड में हम कुछ ऐसे अध्यायों के विकास की यात्रा को ज़्यादा विस्तार में देखेंगे जिनमें व्यापक अवधारणात्मक फेरबदल किए गए थे। इनमें पौधों में पोषण व बल से सम्बन्धित अध्यायों की बात की जाएगी। *बाल वैज्ञानिक* का एक प्रमुख अध्याय “आकाश की ओर” रहा है। यह अध्याय वैज्ञानिक विधि के कई तत्वों को उजागर करता है, मगर इसको लेकर स्कूलों के अनुभव बहुत सकारात्मक नहीं रहे हैं। इसके बारे में भी हम थोड़े विस्तार में चर्चा करेंगे। इसके अलावा रसायन शास्त्र के पाठ्यक्रम पर अलग से थोड़ी बात करेंगे क्योंकि तीसरे संस्करण में इस पर विशेष रूप से काम किया गया था और अणु-परमाणु व रासायनिक संकेतों पर एक अध्याय तैयार किया गया था जो हो.वि.शि.का. के सन्दर्भ में एक प्रमुख परिवर्तन कहा जा सकता है।

एक अध्याय की जीवनी: आकाश की ओर

बाल वैज्ञानिक का एक चर्चित अध्याय है “आकाश की ओर”। यह कई कारणों से चर्चा में रहा। इसमें सौर मण्डल व उससे जुड़ी घटनाओं के बारे में निबन्ध लिखने की बजाय गतिविधियों के ज़रिए आगे बढ़ने की कोशिश की गई है। इस दृष्टि से यह अध्याय अन्य कार्यक्रमों के इसी विषय से सम्बन्धित अध्यायों से एकदम अनोखा है। यह बात विभिन्न देशों में किए गए कई अध्ययनों से प्रमाणित हुई है कि बच्चे तो क्या, बड़े लोग भी सौर मण्डल की गतियों को लेकर भ्रमित रहते हैं। इसलिए इस तरह के विवरणात्मक अध्यायों की उपयोगिता काफी सन्दिग्ध है। अतः यह सोचा गया कि बच्चों को गतिविधियों के माध्यम से इन गतियों व परिघटनाओं को टटोलने दिया जाए।

इस अध्याय के बारे में एक और दिलचस्प तथ्य यह है कि इसमें प्रस्तुत अवधारणाओं का सम्बन्ध दैनिक जीवन से है। ग्रहण, चन्द्रमा की कलाएँ वगैरह जैसी चीज़ें हमारे सांस्कृतिक जीवन से गहराई से जुड़ी हैं। इस मायने में चाँद, सूरज, तारे, नक्षत्र हमसे इतनी दूर होते हुए भी हमारे पर्यावरण का हिस्सा हैं। इसलिए इन चीज़ों को एक वैज्ञानिक ढंग से समझना महत्वपूर्ण हो जाता है।

तीसरी बात यह है कि यह एक ऐसा विषय है जिसमें प्राचीन काल से ही हमारे देश के वैज्ञानिकों ने काफी योगदान किया है।

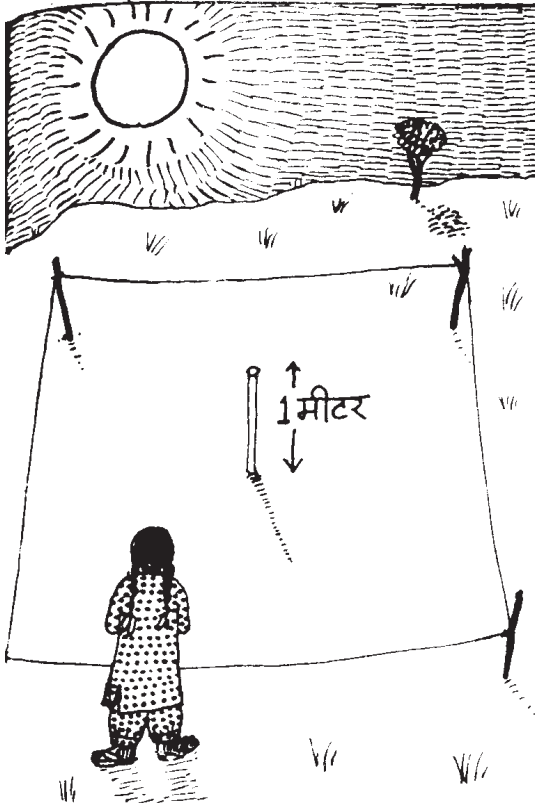
जश्न-ए-तालीम

इस अध्याय में बच्चों से जितनी तरह की गतिविधियाँ करवाई गई हैं वे अपने आप में एक मिसाल हैं – अध्याय में रात को करने के प्रयोग हैं, साल भर चलने वाले प्रयोग हैं और गाँव के बुजुर्गों से पूछकर जानकारी हासिल करने का प्रयास है।

जो चीज़ इस अध्याय को और भी दिलचस्प बनाती है वह है इसमें अपेक्षित अमूर्त सोच का स्तर। कुछ प्रयोग तो ऐसे हैं जिनसे सीधे-सीधे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, मगर प्रयोगों की एक ज़ुखला ऐसी है जिसे करने के बाद बच्चों को वैकल्पिक व्याख्याओं के बारे में सोचना होता है और फैसला करना होता है कि इनमें से किसे सही मानें, क्योंकि प्रयोगों के परिणाम दोनों व्याख्याओं को सन्तुष्ट करते हैं। बच्चे इन अवलोकनों के आधार पर सूरज व पृथ्वी की सापेक्ष गतियों के दो मानसिक मॉडल बनाते हैं और तय करने की कोशिश करते हैं कि उनमें से कौन-सा मॉडल यथार्थ की ज़्यादा अच्छी व्याख्या करता है। तब विज्ञान की इस आधुनिक समझ को उभारने का अवसर मिलता है कि जो व्याख्या ज़्यादा सरल हो उसे ज़्यादा स्वीकार्य माना जाएगा। इसे हम आकेम्स रेज़र (Occam's razor) या प्रिंसिपल ऑफ पार्सिमनी (principle of parsimony) यानी किफायत के सिद्धान्त के नाम से भी जानते हैं।

अब आप समझ ही सकते हैं कि क्यों यह अध्याय शिक्षकों के लिए भी भारी पड़ता था। मगर उसमें जाने से पहले 1978 के संस्करण में इस अध्याय की बनावट पर एक नज़र डालें। 1978 के संस्करण में यह अध्याय दो भागों में था – एक भाग कक्षा 7 में था और दूसरा कक्षा 8 में।

पहले भाग में मूलतः आकाश में सूर्य की गति का अध्ययन छाया के माध्यम से किया जाता है और उसकी नियमितता को पकड़ने का प्रयास होता है। इसमें सूर्य की गति के दैनिक व वार्षिक पहलुओं को समझने का प्रयास किया गया है। बच्चों के सामने चुनौती यह है कि सूर्य को देखकर घड़ी व कैलेण्डर कैसे बनाए जा सकते हैं। इस मामले में पहले तो कुछ सवालियों के माध्यम से उनकी समझ को टटोलने का प्रयास है। इसके बाद प्रयोग 1 में एक मीटर लम्बी एक छड़ी को ज़मीन में गाड़कर उसकी छाया के अवलोकन लिए जाते हैं। दिनभर छड़ी की छाया की लम्बाई व दिशा में होने वाले



परिवर्तनों को नोट करने के बाद समय व छड़ी की छाया की लम्बाई का ग्राफ बनाकर सबसे छोटी छाया का समय पता किया जाता है और बच्चों से यह ध्यान देने को कहा जाता है कि न्यूनतम लम्बाई वाली छाया की दिशा क्या थी। इस तरह से मध्यान्ह को परिभाषित कर दिया जाता है, और यह जानकारी दी जाती है कि सबसे छोटी छाया हमेशा उत्तर-दक्षिण दिशा में ही पड़ती है। इस प्रयोग में बच्चे शायद न चौकें मगर शिक्षकों को यह देखकर बहुत आश्चर्य होता है कि आम सोच के विपरीत सबसे छोटी छाया की लम्बाई हमेशा शून्य नहीं होती और सबसे छोटी छाया दोपहर ठीक 12 बजे भी नहीं पड़ती।

जश्न-ए-तालीम

इस प्रयोग को अगले दिन और फिर दो सप्ताह बाद दोहराया जाता है। इसमें वे यह देखते हैं कि उन्हीं समयों पर छड़ी की छाया रोज़ाना उन्हीं निशानों पर नहीं पड़ती है। इस अवलोकन की व्याख्या का प्रयास होता है।

अगला प्रयोग (प्रयोग 2) और भी महत्वाकांक्षी है। इसमें किसी खम्भे की छाया के निशान प्रति सप्ताह लगाकर उस पर तारीख लिखने को कहा गया है। इसके आधार पर उन्हें यह समझना है कि सूर्य की दिशा दिन-पर-दिन बदलती है।

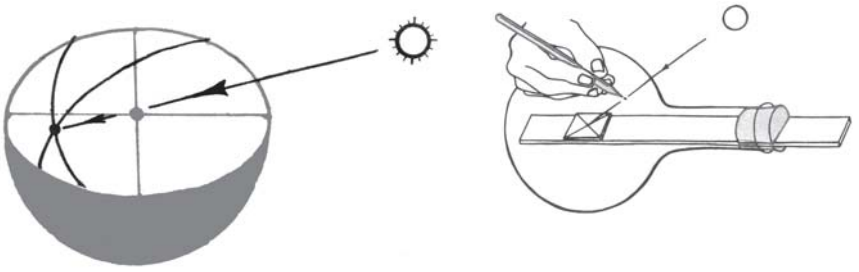


प्रयोग 3 घर पर करने के लिए है। करना वही है – एक डण्डी गाड़ देनी है। एक कागज़ में बीचों-बीच छेद करके उसे डण्डी में पिरोकर निश्चित समयों पर (सुबह 9 से दोपहर 4 बजे तक) छाया के निशान लगाना है। “यह प्रयोग हर दूसरे रविवार को घर पर दोहराओ। हर बार प्रयोग के लिए एक नया कागज़ लगाओ और उस पर दिन की तारीख ज़रूर लिख लो।” इन चित्रों की तुलना के आधार पर बच्चों को बताना है कि “प्रयोग के दौरान आकाश में सूर्य का पथ किस प्रकार बदला?” और “बदलती हुई लम्बाइयाँ देखकर क्या यह बताना सम्भव है कि गर्मियों के दिन आ रहे हैं या जाड़े के?”

अन्त में प्रयोग 4 में बच्चे एक सूर्य-घड़ी बनाते हैं।

“आकाश की ओर – भाग 2” अत्यन्त महत्वाकांक्षी है, सिर्फ प्रयोगों के लिहाज़ से नहीं बल्कि अवधारणा के लिहाज़ से भी।

सबसे पहले सूर्य और चन्द्रमा के पथ को समझने के लिए एक प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग दो तरह से किया जा सकता है। कार्डों के ज़माने में



एक गोल पेन्डे वाले फ्लास्क में एक स्केल फँसाकर उस पर एक आईना चिपकाकर सूर्य के प्रतिबिम्ब देखकर फ्लास्क की बाहरी सतह पर निशान लगाते जाने का तरीका था। दूसरा तरीका एक मटके पर आधारित है। इस प्रयोग के एक हिस्से का विवरण शब्दशः बताना ही बेहतर होगा।

“एक मिट्टी का घड़ा लो और उसके ऊपरी हिस्से को सावधानी से इस तरह तोड़ो कि उसका आकार एक अर्द्ध गोले की तरह हो जाए। इससे भी सरल और अच्छा तरीका यह होगा कि गाँव के कुम्हार से ऐसा अर्द्ध गोला बनवाकर पकवा लो। प्रयोग में आसानी के लिए अर्द्ध गोले के अन्दर चूना पुतवा लो। अर्द्ध गोले के बीच में दो डोरियाँ एक-दूसरे के लम्बवत तान लो। ये डोरियाँ एक-दूसरे को ठीक बीच में अर्द्ध गोले के केन्द्र बिन्दु पर काटनी चाहिए।” शिक्षा के आज के माहौल में कल्पना कीजिए इस तरह का प्रयोग लिखने की, करने की तो बात ही जाने दीजिए। क्या आज कोई सोच सकता है कि कक्षा में एक प्रयोग करने के लिए गाँव के कुम्हार से एक आधा मटका बनवाकर पकवाया जाएगा?

“जहाँ ये डोरियाँ एक-दूसरे को काटती हैं वहाँ गीली चिकनी मिट्टी की गोली बनाकर चिपका लो।” यह उपकरण तैयार हो जाने के बाद “हर आधे घण्टे बाद घड़े की सतह पर गोली की परछाई का निशान लगाना होगा और साथ ही समय भी लिखना होगा। ऐसे निशान तुम्हें दिन में जितनी देर तक गोली की छाया दिखे उतनी देर तक लगाने होंगे।”

प्रयोग 2 में यही क्रिया चाँद के साथ दोहरानी है! आप समझ ही गए होंगे

जश्न-ए-तालीम

कि यह प्रयोग रातभर चलेगा। इसलिए शिक्षक के लिए एक टीप बॉक्स में दी गई है कि ये प्रयोग सब विद्यार्थी अपने-अपने घरों पर कर सकते हैं। परन्तु कम से कम एक घड़ा स्कूल में भी लगवाकर प्रयोग 1 व 2 करवाएँ। ज़रा सोचिए, सूर्य और चन्द्रमा के पथ का चित्रण गाँव के हर उस घर में हो रहा है जिसका कोई बच्चा आठवीं में पढ़ता है। और यकीन मानिए, जब कार्यक्रम 16 स्कूलों में प्रायोगिक तौर पर चलता था तब वास्तव में स्रोत व्यक्तियों ने गाँवों में पड़ाव डालकर रात-रात भर ये प्रयोग करवाए।

ये प्रयोग हो जाने के बाद बच्चे एक ओर तो सूर्य और चन्द्रमा के पथों के अलग-अलग गुणधर्मों का विश्लेषण करते हैं तथा दूसरी ओर इन दोनों के पथों की तुलना भी करते हैं।

यही प्रयोग 10-10 दिन के अन्तराल पर साल भर दोहराने का प्रावधान है ताकि एक सूर्य घड़ी बनाई जा सके। सिर्फ इतनी मेहरबानी है कि “अगर तुम हर 10-10 दिन के अन्तर पर यह प्रयोग न कर सको तो [साल में] कम से कम ऐसा छह बार ज़रूर करो।”

इन चार प्रयोगों के माध्यम से बच्चे यह देख पाते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा के दैनिक पथ तो लगभग समान्तर हैं लेकिन वार्षिक पथ एक-दूसरे को काटते हैं।

सचमुच ज्ञान के प्रति निष्ठा की माँग है। उस समय जुड़े एक शिक्षक हल्केवीर पटेल बताते हैं कि होशंगाबाद विज्ञान में काफी ज़ोर इस बात पर था कि ज्ञान प्राप्त करना है तो मेहनत करनी होगी।

सूर्य और चन्द्रमा के बाद नम्बर आता है तारा मण्डलों के पथ का (प्रयोग 4)। यह भी रात का प्रयोग है जिसे घर पर करना है। इसमें पहले सप्तर्षि या काश्यपि तारामण्डल और ध्रुव तारे को ढूँढकर उनका एक नक्शा बनाना है। फिर एक-एक घण्टे के अन्तर से नक्शे पर तारामण्डलों और ध्रुव तारे की स्थिति दर्शानी है। इन अवलोकनों के आधार पर अन्य प्रश्नों के अलावा इस प्रश्न का भी उत्तर खोजना है कि वे “आकाश में कौन-सा पथ अपनाते हैं?”

अगले प्रयोग (प्रयोग 5) में बच्चों से अपेक्षा है कि वे यह पता करेंगे कि

“कोई भी तारा या तारामण्डल एक घण्टे में आकाश में कितने अंश घूम जाता है।” इससे ही पता चलता है कि पिछले प्रयोग में बच्चे यह देख पाए होंगे कि तारे एक वृत्ताकार पथ पर चलते हैं। इस प्रयोग के लिए बच्चे एक ध्रुवीय पैमाना बनाते हैं जिसके लिए सामग्री किट कॉपी में दी गई है। यानी यह प्रयोग सचमुच हो पाए इसकी पूरी व्यवस्था करने की कोशिश की गई है। प्रयोग के निर्देशों में हर बारीकी का ख्याल रखा गया है। ध्रुवीय पैमाना एक ऐसा उपकरण है जिसकी नोक को किसी भी तारे की ओर करके एक उर्ध्वाधर दिशा से उसका कोण पता किया जा सकता है। इसे भी एक-एक घण्टे बाद दोहराना है। जब इस प्रयोग से यह पता चल जाए कि एक घण्टे में कोई तारा कितने अंश घूमता है तो यह गणना करना है कि “इस तारे को ध्रुव तारे का एक पूरा चक्कर लगाने में लगभग कितना समय लगेगा?” बात को एक तारे के संयोगवश अवलोकन पर न छोड़कर सलाह दी गई है कि “अच्छा हो कि तुम इस प्रयोग को किसी और तारे को चुनकर उसकी ध्रुव तारे के चारों ओर घूमने की गति भी साथ-साथ नापते जाओ।” शायद इस स्तर की पाठ्य पुस्तक में यह एकमात्र उदाहरण होगा जब तारों की गति की बात की गई है और वह भी सिर्फ पूर्व से पश्चिम की गति की नहीं बल्कि ध्रुव तारे के चारों ओर घूमने की बात है। यह निष्कर्ष निहायत सावधानी से लिए गए अवलोकनों से ही सम्भव है।

इन सब प्रयोगों के बाद सवाल यह है: “सूर्य, चन्द्रमा व तारे सभी लगभग 24 घण्टों में एक स्थान से चलकर उसी स्थान पर कैसे वापस आ जाते हैं?” इस सवाल का जवाब पाने के लिए मॉडलों का सहारा लिया गया है।

एक नींबू और मोमबत्ती से सूर्य और पृथ्वी का मॉडल बनाया जाता है। इसकी मदद से बच्चे यह देख पाते हैं कि पृथ्वी पर कहीं रात तो कहीं दिन हो सकता है और नींबू को अलग-अलग तरह से रखने पर दिन-रात की लम्बाई बदली भी जा सकती है। इसके बाद आता है फैसले का क्षण।

बच्चों से कहा जाता है, “मॉडल में तो हमने देखा कि पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने से दिन व रात हो सकते हैं, पर हमें लगता तो ऐसा है कि दिन

जश्न-ए-तालीम

व रात सूर्य के चक्कर काटने के कारण होते हैं। क्या यह सम्भव नहीं कि पृथ्वी के घूमने के कारण ही सूर्य चक्कर काटता लगता है?”

इस बात को समझने के लिए प्रयोग 6 में बच्चों से कहा गया है कि “एक कमरे में खड़े होकर छत पर अपने सिर के ठीक ऊपर एक बिन्दु पर नज़र रखते हुए घूमो।”

उन्हें देखना यह है कि जहाँ सारी चीज़ें चक्कर काटती नज़र आती हैं, वहीं एक बिन्दु स्थिर नज़र आता है। अब “क्या यह सम्भव है कि सूर्य व तारे तो वास्तव में स्थिर हों और पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के कारण ये आकाश में चक्कर काटते नज़र आते हैं?” (गौरतलब है कि इस वाक्य में चन्द्रमा को छोड़ दिया गया है।) इसके आधार पर उन्हें विचार करना है कि “यदि सचमुच ऐसा है तो जिन दैनिक पथों पर सूर्य, चन्द्रमा और तारे घूमते नज़र आते हैं, उनमें क्या समानताएँ होंगी? अपनी तर्क शक्ति और कल्पना के आधार पर नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दो।

“सूर्य, चन्द्रमा और तारों के दैनिक पथों की आकृति कैसी दिखाई देगी -
- चौकोर, गोलाकार, सीधी रेखा, अण्डाकार या टेढ़ी-मेढ़ी?

“इनके ये पथ एक-दूसरे को यहाँ-वहाँ काटेंगे, एक-दूसरे से दूर हटते जाएँगे या समान्तर होंगे?

“क्या तीनों को आकाश का पूरा चक्कर लगाने में लगभग बराबर समय लगेगा या किसी को कम किसी को अधिक?”

इसके बाद सवाल है: “यदि पृथ्वी वास्तव में अपनी धुरी पर घूम रही है तो क्या आकाश में सभी वस्तुएँ चलती नज़र आएँगी?”

अब बच्चों का ध्यान प्रयोग 6 के स्थिर बिन्दु की ओर दिलाया जाता है और पूछा जाता है कि “अब कल्पना करो कि तुम अपने पृथ्वी के मॉडल पर होशंगाबाद पर खड़े हो और पृथ्वी अपनी धुरी (साइकिल स्पोक) पर घूम रही है।

“तुम्हें ऊपर देखने पर कौन-सा बिन्दु स्थिर दिखेगा?

“क्या तुमने आकाश में कोई ऐसा तारा देखा था जो हमेशा स्थिर दिखता था?”

“ऐसे तारे और पृथ्वी की धुरी के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिए?”

“पृथ्वी पर खड़े-खड़े हमें ऐसा ही लगता है कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य, तारे व चन्द्रमा उसके चारों ओर चक्कर काटते हैं। मॉडल और प्रयोग-6 के तर्कों के आधार पर लगता है कि हो सकता है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती हो और इसलिए बाकी सारी चीजें घूमती दिखती हों।

“सही निर्णय कैसे हो?”

ज़रा कल्पना कीजिए कि मिडिल स्कूल की कक्षा 8 में बच्चे और शिक्षक मिलकर उन सवालों से जूझ रहे हैं जिन पर केपलर और कॉपरनिकस जैसे खगोल शास्त्रियों ने विचार किया था। कक्षा में चल रही इस जद्दोजहद में बच्चों को यह फैसला करना है कि अवलोकन और तर्क के आधार पर किस बात को सही मानें। विज्ञान शिक्षा का उत्कर्ष कह सकते हैं इसे।

ब्रेख्त के नाटक “लाइफ ऑफ गैलीलियो” (गैलीलियो का जीवन) में एक दृश्य है। इसमें गैलीलियो एक बच्चे को कुर्सी पर बैठा देते हैं और बाजू में एक लैम्प रख देते हैं। अब वे बच्चे को मय कुर्सी लैम्प के इर्द-गिर्द गोल-गोल घुमाते हैं और अपनी बात समझाने की कोशिश करते हैं। उपरोक्त प्रयोग ज़ुंखला को देखकर उस दृश्य की याद बरबस आ जाती है।

अध्याय इसके आगे बढ़ता है और बच्चे चाँद और सूरज की गतियों की तुलना करते हैं, चन्द्रमा की कलाओं को समझने का प्रयास एक और मॉडल की मदद से करते हैं, और अन्त में एक गतिविधि के ज़रिए ग्रहण को समझने का प्रयास करते हैं। मगर वह अपेक्षाकृत सरल लगता है।

व्यावहारिकता

इन दो अध्यायों को करने में लगने वाले समय का अनुमान लगाना मुश्किल है। जैसे घर पर की जाने वाली कई क्रियाओं वगैरह के सन्दर्भ में यह कहना मुश्किल है कि उनमें कितना समय लगता है। मगर यदि हम यह मान लें

जश्न-ए-तालीम

कि रात को किए जाने वाले प्रयोगों को छोड़कर शेष प्रयोग स्कूल में ही किए जाएँगे तो छड़ी की घड़ी हर बार एक-एक दिन लेगी। स्कूल का समय या तो सुबह का होता है या दोपहर का। यह प्रयोग सुबह से लगभग शाम तक करना होता है। शुरुआती दौर की बात छोड़ दें, तो जो शिक्षक इस प्रयोग को करते थे उन्होंने अपने अनुभव से यह तय कर लिया था कि इसे करीब 11 बजे शुरू करके 2 बजे तक करना पर्याप्त होता है, क्योंकि न्यूनतम लम्बाई वाली छाया 12 बजे के आसपास मिल जाती है।

कक्षा 8 का अध्याय तो और भी व्यावहारिक समस्याएँ पैदा करता है। जैसे, उसमें रात के प्रयोग करने होते हैं, क्योंकि तभी तो आप यह देख पाएँगे कि तारे ध्रुव तारे के आसपास चक्कर काटते हैं। आगे का पूरा तर्क इसी अवलोकन पर टिका है। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के 16 स्कूलों के दौर वाले शिक्षक बताते हैं कि उन्होंने ये प्रयोग चन्देक बार किए हैं। मगर उसके बाद जहाँ तक जानकारी है ये प्रयोग नहीं किए जाते थे। 1985 में पचमढ़ी में *बाल वैज्ञानिक* पुनर्लेखन सम्बन्धी कार्यशाला में तो यह रिपोर्ट हुआ था कि अधिकांश स्कूलों में यह अध्याय छोड़ दिया जाता है। इसका एक बड़ा कारण यह बताया जाता है कि परीक्षा में इस अध्याय से सम्बन्धित सवाल ही नहीं पूछे जाते थे। मोटे तौर पर लगता है कि व्यावहारिक समस्याओं के चलते यह अध्याय उपेक्षा का शिकार हुआ था।

मगर यह अध्याय बहस का एक महत्वपूर्ण मुद्दा रहा। “आकाश की ओर” में दोनों बातें थीं – व्यावहारिक दिक्कतें और अमूर्त सोच का उच्च स्तर। इस कारण से यह बताना सरल नहीं है कि यह अध्याय किस कारण से असम्भव होता गया। स्कूलों से फीडबैक लगातार यह था कि यह अध्याय हो नहीं पाता। खुद हो.वि.शि.का. समूह में बहस जारी थी। अक्टूबर 1983 में इस अध्याय पर काफी बहस हुई थी।

हम देख चुके हैं कि विषय-वस्तु के आधार बताते हुए अनिल सद्गोपाल ने बताया था कि बच्चों को अमूर्त चिन्तन से जोड़ना एक उद्देश्य था, “पर यह ‘आकाश की ओर’ वाले अध्याय में बहुत ज़्यादा हो गया। 6-7 प्रयोगों के निष्कर्षों को जोड़ करके निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया है। इन सारे

आँकड़ों को समझने के दो तरीके हैं। इनमें से एक सरल हल है, इसलिए बेहतर है। इसको समझाने में बहुत मुश्किल आई। इसके पीछे विज्ञान की समझ है कि जो सरल हल हो, वही अपेक्षाकृत बेहतर हल होगा। शिक्षकों को भी यह समझाने में काफी मुश्किलें आईं। इसमें मॉडल के आधार पर समझाने की तकनीक का उपयोग किया। दूसरे अध्यायों में भी इसका उपयोग किया गया है पर 'आकाश की ओर' में यह असफल हो गई और पूरे अध्याय को ही निकाल देना पड़ा।”

लेकिन समूह के सब लोग सहमत नहीं थे। जैसे, किशोर भारती में अक्टूबर 1983 में आयोजित बैठक में विजय वर्मा का कहना था कि “इस अध्याय का उद्देश्य मात्र इतना ही नहीं है कि बच्चे समझ जाएँ कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। इसमें कई और चीज़ें हैं, जैसे – चन्द्रमा की कलाएँ कैसे होती हैं, ग्रहण कैसे होते हैं? इसलिए यदि बच्चे अन्त तक यह नहीं समझ सकते कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है, तो यही एकमात्र कारण नहीं होना चाहिए अध्याय को निकालने का। यदि व्यावहारिक दिक्कतें हैं तो हमें उनको संशोधित करने का निर्णय लेना चाहिए।”

इस बात पर तो आम सहमति थी कि यह अध्याय जीवनोपयोगी है। यह मत भी उभरा कि यदि व्यावहारिक दिक्कतें न होतीं तो हम धीरे-धीरे इसके तर्कों को बच्चों के साथ संवाद के योग्य बना लेते। मगर दिन-दिन भर के प्रयोगों और रात को किए जाने वाले प्रयोगों वगैरह के कारण यह करना असम्भव है।

अमूर्त चिन्तन के स्तर को लेकर भी काफी बहस हुई। एक मत था कि हमारे पास कोई स्पष्ट सबूत नहीं है कि यह 13-14 साल के बच्चे की मानसिक तैयारी से बाहर है। इसी से जुड़ी एक बात यह भी उठी कि क्या पाठ्यक्रम में उतनी ही बात रखी जाए जो उस कक्षा के हर बच्चे को आसानी से समझ में आ जाए। कहा यह जा रहा था कि चुनौती का भी कुछ पुट रहना चाहिए जिसे पाने के लिए बच्चे को जूझना पड़े।

इसके अलावा एक और महत्वपूर्ण बात उभरी थी। जब हम इस तरह की चुनौतीपूर्ण चीज़ें अपने पाठ्यक्रम में रखते हैं तो यह साफ होना चाहिए

जश्न-ए-तालीम

कि हम बच्चों से क्या अपेक्षा करते हैं। दरअसल यह बात एक सामान्य मुद्दे के रूप में भी सामने आई कि खास तौर से परीक्षा की दृष्टि से किसी भी मुश्किल अवधारणा को लेकर यह स्पष्टता ज़रूरी है।

एक अन्य अध्याय “संयोग और सम्भाविता” को लेकर हुई चर्चाओं में भी यह मुद्दा उभरता है। “संयोग और सम्भाविता” में एक प्रयोग के अवलोकन से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। बहुत सारे अवलोकन लेकर उनको जोड़कर निष्कर्ष निकालना होता है। प्रयोग भी सिक्के उछाल-उछालकर टुकड़ों-टुकड़ों में होते हैं। इनसे प्राप्त चित-पट के आँकड़ों को स्तम्भालेख के रूप में प्रस्तुत करने पर या औसत निकालने पर कुछ पैटर्न दिखते हैं जिनके आधार पर निष्कर्ष निकालने होते हैं। और ये निष्कर्ष भी अगली बार सिक्का उछालने की घटना की भविष्यवाणी में कोई मदद नहीं करते, वह तो फिर भी संयोग बनी रहती है। इसलिए हमें यह स्पष्ट होना चाहिए कि बच्चों से हमारी अपेक्षा क्या है कि वे क्या सीखेंगे। यदि वे मोटा-मोटा एहसास बना लेते हैं तो काफी है। जैसे, यदि वे इतना ही बता पाएँ कि चित-पट का कौन-सा पैटर्न मिलना मुश्किल है तो पर्याप्त है।

यह बात आजकल की परीक्षा आधारित शिक्षा व्यवस्था को शायद ही रास आए मगर पाठ्यक्रम के लचीलेपन की दृष्टि से निहायत ज़रूरी है, क्योंकि यह गुंजाइश होने पर ही पाठ्यक्रम में “चुनौती का पुट” शामिल हो सकता है।

अलबत्ता जब *बाल वैज्ञानिक* में प्रथम संशोधन का वक्त आया तो 1985 में विषय-वस्तु समूह ने संक्षिप्त सा सुझाव दिया था: “[कक्षा 8 के] प्रयोग-5 को कक्षा 7 में डाला जाए। शेष अध्याय हटाएँ।” प्रयोग 5 यानी तारामण्डलों की गति।

यह कहना मुश्किल है कि यह सुझाव व्यावहारिक दिक्कतों का परिणाम था या अमूर्त चिन्तन के स्तर के प्रति चिन्ता का। सम्भवतः जब, खासकर कक्षा 8 में, उपलब्ध समय और पाठ्यक्रम को पूरा करने में लगने वाले अनुमानित समय के बीच तालमेल बैठाने की बात आई तो यह अध्याय छँटाई के लिए सर्वमान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया।

मगर उस सिफारिश पर पूरी तरह अमल हुआ हो, ऐसा नहीं है। यह अध्याय हो.वि.शि.का. समूह के प्रिय अध्यायों में से रहा है। आखिर विज्ञान की विधि का खुलासा करने का इससे बेहतर अवसर कहाँ मिलेगा? यह वह विषय है जिसने काफी हद तक विज्ञान की विधि को परिभाषित करने का काम किया है। और यह विषय दैनिक जीवन में रचा-बसा है, उसे प्रभावित करता है। इसकी विषय-वस्तु ने वास्तव में मनुष्य की विश्व दृष्टि को प्रभावित किया है। अध्याय की जो संकल्पना की गई थी वह हो.वि.शि.का. के सोच को इतने सुन्दर ढंग से साकार करती थी कि पाठ्यक्रम में इस अध्याय का एक विशेष स्थान था। इसमें विज्ञान की विधि के कई तत्व गुँथे हुए हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसमें “करके सीखो” अपने पूरे शबाब पर है। जानकारी न देने का महत्व भी इस अध्याय में साफ होता है। जानकारी न देना अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है, बल्कि यह बच्चों को सोचने को प्रेरित करने का (शायद मजबूर करने का) एक तरीका है। इस अध्याय में हर मोड़ पर बच्चों के लिए सोचने का काफी मसाला उपलब्ध है। हर सवाल एक पूरी विचार प्रक्रिया को शुरू कर सकता है। *बाल वैज्ञानिक* के सारे अध्यायों में यह बात देखने को मिलती है, मगर “आकाश की ओर” में यह अत्यन्त सघन रूप में मौजूद है। शायद यह सघनता ही इस अध्याय की “समस्या” बन गई।

1986 में जब संशोधन की प्रक्रिया वास्तव में शुरू हुई तो अन्ततः “आकाश की ओर” का जो स्वरूप उभरा वह निम्नानुसार था।

पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि दो अध्यायों को जोड़कर एक अध्याय बना दिया गया और उसे कक्षा 8 में रखा गया। मगर सबसे प्रमुख परिवर्तन यह नज़र आता है कि पूरा सैद्धान्तिक ढाँचा हटा दिया गया। यानी इस बात पर कोई प्रश्नोत्तर नहीं हैं कि कौन किसके आसपास घूमता है। अध्याय का पूरा ज़ोर अवलोकन पर है। शायद समझ यह रही कि इस समय बच्चों का ध्यान आकाश की कुछ प्रमुख बातों की ओर दिला दिया जाए। आगे जब भी वे इस विषय की सैद्धान्तिक गवेषणा करेंगे तब ये अवलोकन उपयोगी बुनियाद साबित होंगे। इसके साथ ही इस अध्याय का वह पक्ष लगभग समाप्त हो गया जो बच्चों को सोचने को मजबूर करता था।

जशन-ए-तालीम

दूसरा बड़ा परिवर्तन यह किया गया कि रात को किए जाने वाले अधिकांश प्रयोग हटा दिए गए – सिर्फ तारामण्डल की गति वाला प्रयोग गुणात्मक स्तर पर रखा गया।

अब पहले की ही तरह थोड़ी भूमिका व सवाल-जवाब के बाद छड़ी की छाया वाला प्रयोग किया जाता है। इसी प्रयोग को अगले दिन व दो सप्ताह बाद दोहराने का सुझाव दिया गया है।

इसके बाद बच्चों से यह देखने को कहा गया है कि सूर्य के उगने की दिशा भी बदलती रहती है। फिर सूर्य-घड़ी बनाई जाती है।

इसके बाद चन्द्रमा की गति सम्बन्धी प्रयोग है। यह सामान्य अर्थों में प्रयोग तो नहीं कहा जा सकता, चन्द्रमा के अस्त होने व उदय होने का समय नोट करना है। इसके आधार पर चन्द्रमा व सूर्य की गति में अन्तर को समझने की अपेक्षा है। वे इतना ही समझ पाएँगे कि दो सूर्योदय या दो सूर्यास्त के बीच और दो चन्द्रोदय या दो चन्द्रास्त के बीच की अवधि अलग-अलग होती है। इसे किसी मॉडल से नहीं जोड़ा गया है।

चन्द्रमा की कलाएँ व चन्द्र ग्रहण को समझने के लिए वही गतिविधियाँ हैं। अन्त में तारामण्डलों की गति को देखने के लिए एक प्रयोग है जिसमें मात्र इतनी अपेक्षा है कि बच्चे ध्रुव तारे को सन्दर्भ बिन्दु मानकर देख पाएँगे कि तारामण्डल ध्रुव तारे के आसपास घूमते हैं, बस।

इस तरह संशोधन में तीनों बातों – स्कूली परिस्थिति के साथ तालमेल, अमूर्त सोच के स्तर में कमी करना और अव्यावहारिक गतिविधियों को हटाना – को सम्बोधित किया गया लगता है।

इसके बाद के संशोधन में इस संशोधित अध्याय की दिक्कतें भी सामने आने लगी थीं, मगर किसी वजह से इसे छुआ नहीं गया। अन्तिम (अप्रकाशित) संस्करण में इसे वैसा ही रखा गया था। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि कोई कारणगर वैकल्पिक ढाँचा उभर नहीं पा रहा था। हालाँकि इस दौरान कई बार कोशिश हुई कि इसका कोई वैकल्पिक रूप तैयार किया जाए, मगर अन्यान्य कारणों से यह सम्भव नहीं हुआ।

एक अध्याय की जीवनी: पौधों का पोषण

यह तो कोई भी मानेगा कि पौधों के पोषण का सवाल जैव मण्डल के अस्तित्व की दृष्टि से एक बुनियादी महत्व का विषय है। जीव विज्ञान के किसी भी पाठ्यक्रम में प्रकाश संश्लेषण पर कुछ न कुछ विषय-वस्तु ज़रूर शामिल होती है। आम पाठ्य पुस्तकों में जिस ढंग से प्रकाश संश्लेषण की बात की जाती है वह लगभग वैसी ही होती है जैसे पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने या सूर्य की परिक्रमा करने की बात है।

कार्बन डाईऑक्साइड + पानी = कार्बोहाइड्रेट + ऑक्सीजन। यह समीकरण अपने में एक पूरा इतिहास छिपाए है। यह इतिहास सिर्फ जीव विज्ञान नहीं बल्कि रसायन शास्त्र की बुनियादी खोजों का इतिहास है। 400 सालों तक डाल-डाल, पात-पात का विश्लेषण करने के बाद हम समझ पाए हैं कि पौधों का पोषण कहाँ से व कैसे प्राप्त होता है। यह सही है कि यह इतिहास उस तरह की धार्मिक, राजनैतिक व सामाजिक सरगर्मियों का सबब नहीं बना जैसे पृथ्वी के घूमने की बात बनी थी, मगर प्रकाश संश्लेषण के इतिहास में भी वैज्ञानिक विधि के विकास का उतना ही समृद्ध खज़ाना है।

हो.वि.शि.का. के परिप्रेक्ष्य में पौधों का पोषण एक चुनौती के रूप में है। प्रकाश संश्लेषण की पूरी बात को समझने (खोजने) के लिए जिस ढंग के प्रयोग, तर्क, अनुमान, कल्पना की छल्लों और अटकलों की ज़रूरत है वह *बाल वैज्ञानिक* के ढाँचे में फिट नहीं बैठता। खासकर यदि इस परिप्रेक्ष्य को

जश्न-ए-तालीम

मात्र प्रयोगों के दायरे तक सीमित माना जाए। मगर उसमें जाने से पहले यह देखा जाए कि *बाल वैज्ञानिक* में पौधों के पोषण पर क्या शामिल किया गया है।

बाल वैज्ञानिक (1978) में यह विषय दो अध्यायों में बँटा है। एक है कक्षा 6 में “भोजन और पाचन क्रिया” का खण्ड 5 और दूसरा है कक्षा 7 में “पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश” का अध्याय। जैसा कि हम आगे देखेंगे इस अवधारणा को इस तरह दो भागों में बाँटने के कारण न सिर्फ पौधों के पोषण का एक समग्र चित्र नहीं उभरता, बल्कि गुमराह करने वाली कल्पना उभरती है।

पहले “पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश” का मुआयना करें।

पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश

किसी वजह से इस अध्याय की शुरुआत पौधों की वृद्धि में बीजपत्रों की भूमिका से की गई है। इस बात को समझने के लिए बच्चे एक प्रयोग (प्रयोग 1) करते हैं जिसमें तीन ऐसे बीज बोए जाते हैं जिनमें बीजों का अंकुरण ऊपरीभूमिक (epigeal) होता है। इनके अंकुरित होने पर एक नवजात पौधे के दोनों बीजपत्र साबुत रखे जाते हैं, दूसरे का एक बीजपत्र काट दिया जाता है और तीसरे के दोनों बीजपत्र काट दिए जाते हैं। फिर सात दिनों तक इन तीनों की वृद्धि की तुलना की जाती है।

अब उन्हें कक्षा 6 के अध्याय “बीज और उनका समूहीकरण” के आधार पर याद दिलाया जाता है कि बीजपत्रों में मण्ड के रूप में भोजन होता है और यह निष्कर्ष निकालने को ठेला जाता है कि नवजात पौधे अपनी वृद्धि के लिए बीजपत्रों से भोजन प्राप्त करते हैं।

इसके बाद सवाल यह उठाया जाता है कि “बीजपत्रों के कुम्हलाकर गिर जाने के बाद पौधा भोजन कहाँ से व कैसे प्राप्त करता होगा?”

(यहाँ गौरतलब है कि सारे बीजों के बीजपत्रों में भोजन मण्ड के रूप में नहीं होता – कई बार यह वसा के रूप में होता है। पहले “बीज और उनका

समूहीकरण” [कक्षा 6] में यह गलत निष्कर्ष निकाला जा चुका था कि अंकुर का भोजन मण्ड के रूप में ही होता है। यहाँ उठाया गया सवाल उस निष्कर्ष को पुष्ट करता है तथा एक और भ्रम पैदा करता है कि बीजपत्रों में ही भोजन होता है और पोषण के लिए शायद बीजपत्रों का ज़मीन से ऊपर आना ज़रूरी है। जबकि कई बीजों में भोजन भ्रूणपोष में होता है।)

बगैर किसी भूमिका के बच्चे प्रयोग 2 के द्वारा इस सवाल का जवाब खोजने में भिड़ जाते हैं। इस प्रयोग में वे तरह-तरह की पत्तियाँ लाकर, उनमें से हरा रंग हटाकर आयोडीन की मदद से देखते हैं कि पत्तियों में मण्ड होता है। इसी प्रयोग को वे पत्तियों पर काला कागज़ लगाकर फिर से दोहराते हैं (प्रयोग 3) और देखते हैं कि पत्ती के जिस भाग पर धूप नहीं पड़ती वहाँ मण्ड नहीं पाया जाता।

मगर प्रयोग 3 से पहले सवाल यह रखा गया है कि “क्या यह सम्भव है कि मण्ड पत्तियों में बनता हो? अगर हाँ, तो किस प्रकार से?”

यहाँ वैज्ञानिक तर्क को गच्चा दे दिया गया है। उक्त सवाल का जवाब पाने के लिए काले कागज़ वाला प्रयोग कैसे मदद करेगा? यदि पत्तियों में मण्ड का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि वह वहीं बना है तो प्रयोग 3 करने की कोई ज़रूरत नहीं है। प्रयोग 3 से तो इस सवाल का जवाब मिलने से रहा। इससे तो यह पता चल सकता है कि मण्ड का धूप से क्या सम्बन्ध है। और यहाँ प्रयोग में तुलना के प्रावधान को भी धता बता दी गई है। क्या पता कागज़ लगाने भर से ही मण्ड पर असर पड़ता हो या फिर बबूल के काँटे लगाने से पड़ता हो?

इन बातों को भूल भी जाएँ तो प्रयोग 3 करने के बाद आप मात्र इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि धूप न पड़े तो पत्ती के उस भाग में मण्ड नहीं मिलता। इससे कैसे साबित होता है कि मण्ड वहीं बनता है?

इस प्रयोग के बाद जो सवाल पूछे गए हैं वे उद्धरित करने योग्य हैं: “पत्ती में मण्ड की उपस्थिति और सूर्य के प्रकाश के बीच क्या सम्बन्ध है? क्या यह कहना ठीक होगा कि पत्तियों में मण्ड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश

जश्न-ए-तालीम

ज़रूरी है?” इनसे पता चलता है कि अध्याय के रचयिता भी जानते थे कि प्रयोग 3 से यह पता नहीं चल सकता कि मण्ड वहीं (यानी पत्तियों में ही) बनता है।

वैसे भी ये प्रश्न बच्चों को जिस ढंग से एक उत्तर की ओर धकेलते हैं वह *बाल वैज्ञानिक* की परिपाटी के अनुरूप नहीं लगता। परिपाटी से हटकर यहाँ जानकारी दी गई है, “तुमने ऊपर पता किया कि पत्तियों में मण्ड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है। वैज्ञानिकों ने ऐसे प्रयोग किए हैं जिनसे यह भी पता चला है कि सारे जीवजगत में केवल हरी पत्तियाँ ही मण्ड बना सकती हैं। पत्तियों के हरे रंग वाले पदार्थ के बिना मण्ड नहीं बन सकता। मगर ऐसे प्रयोग तुम्हारी कक्षा में करना सम्भव नहीं है।”

यहाँ शायद बेहतर होता कि “वैज्ञानिकों” द्वारा किए गए उन प्रयोगों का विवरण प्रस्तुत किया जाता। मगर बच्चों को वैज्ञानिकों की धाक के भरोसे छोड़ दिया गया है। इस कारण से यह जानकारी अध्याय के ताने-बाने में गूँथी होने की बजाय एक पैबन्द जैसी लगती है।

इसके आगे भोजन ज़खला से सम्बन्धित चर्चा है।

आज देखने पर लगता है कि यह अध्याय एक “छद्म प्रयोग-आधारित” अध्याय का नमूना है। हरे रंग के पदार्थ की भूमिका को चितकबरी पत्तियों (croton) से आसानी से उभारा जा सकता था। इसी प्रकार से पौधों के पोषण का एक प्रमुख हिस्सा पानी है जिसे इस अध्याय में छुआ तक नहीं गया है। उस बात को कक्षा 6 के अध्याय “भोजन और पाचन क्रिया” के एक खण्ड के रूप में दिया गया है।

भोजन और पाचन क्रिया – खण्ड 5

कक्षा 6 के इस अध्याय में प्रयोग 5 (टहनियों को रंगीन पानी में रखकर पानी का चढ़ना देखना) के ज़रिए बच्चे यह सीखते हैं कि पौधे अपना भोजन जड़ों के माध्यम से लेते हैं। इस प्रयोग को करने से पहले उनके सामने निम्नलिखित सवाल रखे गए थे: “आओ सोचें कि यदि पौधे भोजन

लेते हैं तो वह कहाँ से आता है और किस रूप में होता है? यदि किसी पेड़ की जड़ें काट दी जाएँ तो क्या वह ज़िन्दा रहेगा?” वगैरह।

इन सवालों का उत्तर खोजते हुए बच्चे प्रयोग 5 में देखते हैं कि पौधों में पानी जड़ों में से होता हुआ तने व पत्तियों तक पहुँचता है। इससे वे क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं? वे शायद यही निष्कर्ष निकालेंगे कि पौधों को भोजन मिट्टी से पानी के ज़रिए मिलता है। और निम्नलिखित प्रश्न उनकी इस बात को पुख्ता करने का काम करेगा: “यह पदार्थ (आशय यूरिया से है) तो किसान ज़मीन पर छिड़कते हैं। फिर इसका असर पत्तियों पर कैसे हो जाता है?”

कक्षा 6 में परजीवी पौधों की चर्चा भी की गई है और उसमें भी जड़ों पर ध्यान दिलाया गया है।

कहने का मतलब है कि कक्षा 6 में लगता है कि पौधों को उनका भोजन जड़ों से मिलता है। कक्षा 7 में बताया गया है कि पत्तियाँ मण्ड बनाती हैं। मगर पौधों के पोषण का एक समग्र चित्र नहीं उभरता।

1987 का संस्करण

अगले संस्करण में इस बिखराव की समस्या को सम्बोधित किया गया था और कक्षा 6 व 7 के अध्यायों के सम्बन्धित हिस्सों को जोड़कर एक अध्याय “पौधों में पोषण” तैयार किया गया था। इसकी सिफारिश *बाल वैज्ञानिक पुनर्लेखन कार्यशाला* (पचमढ़ी 1985) में भी की गई थी:

1. छठी कक्षा से “भोजन और पाचन क्रिया” का अन्तिम भाग इस पाठ (“पत्तियों में मण्ड और सूर्य का प्रकाश”) के साथ जोड़ा जाए और पौधों में पोषण पर एक नया अध्याय बन जाएगा। इसका क्रम: (क) पौधे में पानी व लवणों का चढ़ना, (ख) बीजपत्र में मण्ड, (ग) प्रकाश की मदद से भोजन संश्लेषण और (घ) परजीवी पौधों के बारे में।
2. अल्कोहल प्राप्त करने के लिए प्रयास करना चाहिए। (इस अध्याय का प्रमुख प्रयोग है जिसमें पत्तियों में मण्ड परीक्षण करने से पहले अल्कोहल की मदद से हरा रंग हटाना होता है। सरकारी नियमों के चलते अल्कोहल मिलना एक कठिनाई है।)

जश्न-ए-तालीम

3. केवल हरी पत्तियों में मण्ड बनता है इस कथन की पुष्टि के लिए क्या चितकबरी पत्तियों पर इस प्रयोग को दोहराया जा सकता है?
4. भोजन जूखला के लिए एक सरल जूखला का उदाहरण भी देना चाहिए।
5. लोक विज्ञान संघटना के पास से भोजन जूखला पर आधारित खेल मिल सकता है, जो कि पूरक सामग्री के रूप में दिया जा सकता है।

ज़ाहिर है कि अध्याय के अवधारणात्मक ढाँचे पर कोई सवाल नहीं था। यह सवाल भी शायद नहीं उठा था कि क्या यह अध्याय अन्ततः बच्चों को यह समझने में मदद करता है कि पौधे अपना भोजन स्वयं बनाते हैं। लिहाज़ा इन सिफारिशों के आधार पर जो अध्याय तैयार हुआ वह मूलतः दो अध्यायों में बँटी सामग्री को एक अध्याय में जोड़ने का लक्ष्य ही पूरा करता है।

1987 में तैयार अध्याय का खाका इस तरह है। अध्याय की शुरुआत इस सवाल से होती है कि “आओ इस बात का पता लगाएँ कि पेड़-पौधे पोषण करते हैं या नहीं। यदि करते हैं तो किस रूप में?” इसके बाद प्रयोग 1 में पौधों में पानी चढ़ने में जड़ों की भूमिका पर विचार किया जाता है।

इस प्रयोग को करके यह उम्मीद की जाती है कि बच्चे यह समझ पाएँगे कि “पौधे ज़मीन से जड़ों के द्वारा पानी एवं उसमें घुले अन्य पोषक पदार्थ लेते हैं।”

इसके बाद सवाल यह पूछा जाता है: “क्या पौधों का पोषण पानी तथा पानी में घुले पोषक पदार्थ ही हैं या कुछ और?” यह सवाल एक तरह से कहता है कि पानी एक पोषक पदार्थ है। अभी भी बच्चे यही खोज रहे हैं कि पौधे पोषण लेते हैं। स्वपोषी होने की बात का नामोनिशान नहीं है।

इस सवाल का जवाब खोजने के लिए अल्कोहल की मदद से पत्तियों का हरा रंग हटाकर मण्ड परीक्षण किया जाता है। (वैसे यह फीडबैक लगातार मिल रहा था कि अल्कोहल की उपलब्धता एक बड़ी समस्या है और इस कारण से यह प्रयोग स्कूलों में होता नहीं है। बैतूल ज़िले के शाहपुर संगम केन्द्र के एक स्कूल में एक शिक्षिका ने इस प्रयोग को करने के लिए कलारी से एक पच्चा शराब मँगवाकर कोशिश की थी। मगर ऐसे अपवाद इक्के-दुक्के

ही होंगे।) जब इस प्रयोग में पत्ती में मण्ड मिल जाता है तो सवाल यह उठता है, “क्या यह सम्भव है कि मण्ड पत्ती में ही बनता हो? अगर हाँ, तो किस प्रकार से?”

देखा जाए तो इस सवाल का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि यही सवाल आप आलू के बारे में भी पूछ सकते हैं। मगर ज़्यादा हैरतअंगेज़ बात तो यह है कि इस सवाल का जवाब खोजने के लिए जो प्रयोग किया जाता है वह सर्वथा अनुपयुक्त है: वही पत्तियों पर काला कागज़ लगाकर मण्ड परीक्षण करने वाला प्रयोग। जहाँ काला कागज़ होता है वहाँ मण्ड नहीं मिलता। यह कहना मुश्किल है कि इस प्रयोग से यह कैसे सिद्ध होता है कि मण्ड का निर्माण पत्ती में ही हुआ है। बच्चों को बताया जाता है कि “ऊपर तुमने पता किया है कि पत्तियों में मण्ड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है।” शुरु में सवाल यह था कि “क्या यह सम्भव है कि मण्ड पत्ती में ही बनता हो? अगर हाँ, तो किस प्रकार से?” और जवाब यह मिला कि “पत्तियों में मण्ड बनने के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है।” यहाँ एक तार्किक छल्लाँग लगाई गई है।

इसके बाद बच्चों को यह भी बताया जाता है कि “सारे जीवजगत में केवल पौधों के हरे भाग ही मण्ड बना सकते हैं।” और फिर यह महत्वपूर्ण सवाल पूछा जाता है: “क्या अब तुम बता सकते हो कि पौधों एवं जन्तुओं के पोषण में क्या अन्तर है?” क्या जवाब देंगे बच्चे?

फिर हम परजीवी पौधों पर चले जाते हैं। यानी पौधों के पोषण की इतनी ज़रूरी अवधारणा को बहुत सस्ते में निपटा दिया गया है। पूरे अध्याय को पढ़ने (करने) के बाद भी बच्चे शायद यही मानेंगे कि पौधों का पोषण एक तो जड़ों से मिलता है (पानी व घुलित पदार्थों के रूप में) और दूसरे पत्तियाँ मण्ड बना लेती हैं। इनका आपस में कोई सम्बन्ध भी है, यह बात तो कहीं उभरती ही नहीं।

कुल मिलाकर देखा जाए तो यह अध्याय “करके सीखो” की रूढ़ि का शिकार हुआ है। शायद यह बात सभी लोग जानते हैं कि पौधों का पोषण एक जटिल मसला है और इसे समझने के लिए एक-दो प्रयोग से काम नहीं

जश्न-ए-तालीम

चल सकता। वास्तव में पौधों के पोषण की समझ बनाने में कई बरस लगे थे और कई धाराओं से जानकारी का योगदान रहा था। सबसे बड़ी बात तो यह रही कि इसकी समझ बनाने में समझदार अटकलों की अहम भूमिका रही। इन सबको दो प्रयोगों में समेट देने से बात नहीं बनती।

दरअसल प्रकाश संश्लेषण का विषय वैज्ञानिक विधि के विभिन्न आयामों को उभारने का एक सशक्त माध्यम प्रदान करता है। लेकिन यह मात्र “प्रयोग आधारित खोजबीन” के हथ्ये नहीं चढ़ता।

तीसरा प्रयास

बच्चों के साथ पौधों के पोषण की खोजबीन का तीसरा प्रयास एकदम अलग ढंग का था। इसमें दो प्रमुख विशेषताएँ थीं। इसमें यह कोशिश नहीं की गई थी कि कक्षा में किए गए प्रयोगों से ही बच्चों के सामने पौधों के पोषण सम्बन्धी सारे सवालों के जवाब उभर आएँ। दूसरा, इसमें पौधों के पोषण की समस्या को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया था।

अध्याय में खोजबीन के लिए सवाल यह रखा गया था: “ये पेड़-पौधे बिना खाए-पीए इतने बड़े कैसे हो जाते हैं? इतना गेहूँ, भूसा और फल कहाँ से आते हैं? ज़मीन में डाले गए पानी से या फिर हवा से?”

बच्चों के सामने इस सवाल का जवाब खोजने की ऐतिहासिक प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत किया जाता है और हर मोड़ पर उनसे उम्मीद की जाती है कि वे इतिहास के हर पड़ाव पर उपलब्ध जानकारी के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों पर विचार करें। यह भी आभास दिया जाता है कि हर समय उपलब्ध जानकारी के आधार पर सीमित निष्कर्ष ही निकाले जा सकते हैं। जैसे शुरू में फॉन हेल्मॉन्ट द्वारा किए पाँच साल के प्रयोग के विवरण के बाद सवाल यह पूछा गया है: “इस प्रयोग के आधार पर तुम क्या निष्कर्ष निकालोगे? पौधे की वृद्धि के लिए सारा पदार्थ मिट्टी से आया होगा, क्या ऐसा मानना सही होगा? अपने उत्तर का कारण भी बताओ।” और फिर कहा गया है: “तुम्हारा निष्कर्ष जो भी हो मगर फॉन हेल्मॉन्ट ने दो निष्कर्ष निकाले थे: 1. पौधों की वृद्धि के लिए पदार्थ मिट्टी से नहीं आता। 2. पौधे

की वृद्धि उसे मिलने वाले पानी से होती है। क्या हेल्मॉन्ट की बातें पूरी तरह सही हैं? इसका पता तुम्हें आगे चलेगा।”

विवरण से यह भी स्पष्ट होता है कि इस मामले में जानकारी सिर्फ उन प्रयोगों से प्राप्त नहीं हुई थी जो इस उद्देश्य के लिए किए गए थे। कई असम्बन्धित से दिखने वाले तथा अन्य उद्देश्यों से किए गए प्रयोगों से भी इसमें योगदान मिला था। जैसे: “सन् 1771 में जोसेफ प्रीस्टले द्वारा किए गए प्रयोगों से इस मामले में कई नई जानकारियाँ मिलीं। वैसे प्रीस्टले ने ये प्रयोग पौधों के पोषण को समझने के उद्देश्य से नहीं किए थे। वह वास्तव में हवा में उपस्थित गैसों के बारे में जानना चाहता था।”

यह भी साफ होता चलता है कि कई बार वैज्ञानिकों को अपनी कल्पना शक्ति का भी सहारा लेना पड़ा था। जैसे प्रीस्टले के प्रयोग के विवरण के बाद बताया गया है कि “इन प्रयोगों ने प्रीस्टले को उलझन में डाल दिया। दुनिया में इतने सारे जन्तु हैं। दुनिया में इतनी सारी आग भी जलती रहती है। प्रीस्टले ने सोचा कि फिर क्यों पूरी दुनिया की हवा अशुद्ध नहीं हो जाती।”

इस विवरण के साथ-साथ बच्चे ऐसे कुछ ऐतिहासिक प्रयोगों को थोड़े परिवर्तित रूप में दोहराते भी हैं। इससे न सिर्फ चर्चा में मदद मिलती है बल्कि एक एहसास भी बनता है कि कितने सरल प्रयोगों से कितने गहरे व व्यापक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

इस तरह पौधों के पोषण में पानी व कार्बन डाईऑक्साइड से सूर्य के प्रकाश व क्लोरोफिल की उपस्थिति में मण्ड बनने तक की बात हो जाने के बाद जड़ से पानी सोखने का प्रयोग और पत्तियों से हवा के लेन-देन की बात की गई है। प्रकाश संश्लेषण में प्रकाश की भूमिका सम्बन्धी प्रयोग का विवरण देकर सिर्फ चर्चा का प्रावधान ही रखा गया है। इस प्रयोग को करने की व्यावहारिक कठिनाइयों को देखते हुए इसे करवाने की बात छोड़ दी गई है। मगर प्रकाश की भूमिका को समझने के लिए बच्चे एक प्रयोग परोक्ष ढंग से जरूर करते हैं।

जश्न-ए-तालीम

इस प्रयोग में एक जलीय पौधे से बनी ऑक्सीजन इकट्ठी की जाती है। बच्चे यह देख चुके हैं कि यदि पौधे को अँधेरे में रख दिया जाए तो ऑक्सीजन के बुलबुले बनना बन्द हो जाते हैं। अर्थात् यदि ऑक्सीजन बनने को प्रकाश संश्लेषण का द्योतक मान लिया जाए तो अँधेरे में प्रकाश संश्लेषण नहीं होता। वैसे इस बात को इस ढंग से कहा नहीं गया है, मगर प्रकाश संश्लेषण के अध्ययन में ऑक्सीजन के बनने और कार्बन डाईऑक्साइड की खपत को परोक्षी के रूप में उपयोग किया जाता है।

अन्त में भोजन जृखला की बात होती है, मगर यह स्पष्ट करने के बाद कि पौधे स्वयं अपना भोजन बनाने के अलावा जन्तुओं के लिए भी भोजन मुहैया कराते हैं।

अध्याय में वैज्ञानिकों के कामकाज की ओर इशारा भी किया गया है। जैसे, “जब कोई इतना महत्वपूर्ण प्रयोग होता है तो अन्य वैज्ञानिक उसे खुद करके देखते हैं।...पूरे मामले की बारीकी से छानबीन करने का काम एक अन्य वैज्ञानिक ने किया।”

यह अध्याय सन 2000 के संस्करण में शामिल किया गया था, पर इसे कक्षा में कराने का कोई फीडबैक उपलब्ध नहीं है।

एक अध्याय की जीवनी: बल और भार

यह एक और अध्याय है जिसमें समय के साथ भारी परिवर्तन हुए हैं। “लाल वैज्ञानिक” से लेकर तृतीय संस्करण तक इस अध्याय के विभिन्न स्वरूपों को देखना दिलचस्प होगा।

“लाल वैज्ञानिक” में “बल और भार” तथा “भार और तुला” नामक दो अध्यायों में ये अवधारणाएँ फैली हुई थीं। कई सारी गतिविधियों व प्रयोगों के माध्यम से बल की अवधारणा उभारी जाती थी तथा भार का मापन किया जाता था।

अध्याय की शुरुआत खींचने व धकेलने के रूप में बल के एहसास से होती है। एक स्प्रिंग को दबाकर और खींचकर महसूस करते हैं तथा उस पर ईट रखकर देखते हैं। बल को दो वस्तुओं के बीच पारस्परिक क्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है। इसके बाद दो अलग-अलग श्यानता के द्रवों को हिलाने, एक रबर नली पर कोई आकृति बनाकर रबर नली को मोड़ने से उस आकृति में होने वाले परिवर्तन, साइकिल पम्प के पिस्टन को दबाने पर लगने वाले बल, काँच की दो सूखी पट्टियों तथा गीली पट्टियों के बीच लगने वाले बल वगैरह का एहसास कराया जाता है।

फिर बगैर छुए लगने वाले बल का एहसास कराने के लिए लोहे व चुम्बक तथा दो चुम्बकों के बीच परस्पर क्रिया देखी जाती है।

जश्न-ए-तालीम

भार को भी एक बल के रूप में परिभाषित करने के बाद बल की इकाइयों की चर्चा होती है और विभिन्न परिमाणों में लग रहे बल का अनुमान कराया जाता है। इसके लिए पहले स्प्रिंग तुला से एक इकाई बल का एहसास कराया जाता है और फिर वस्तुओं को हथेली पर रखकर उनके द्वारा लगने वाले बल का अनुमान करने को कहा जाता है। यहाँ भार को इस रूप में परिभाषित किया गया है कि किसी वस्तु द्वारा नीचे की ओर लगने वाले बल को ही उसका भार कहते हैं।

एक गतिविधि और थी जिसमें कई गुटकों के वज़न व आयतन निकाले जाते हैं और यह देखा जाता है कि किसी पदार्थ के एक इकाई आयतन का वज़न निश्चित होता है। गौरतलब है कि इसे घनत्व नहीं कहा गया है। यहाँ एक मज़ेदार सवाल पूछा गया है जिसका सम्बन्ध आयतन के संरक्षण से भी है और गणना से भी:

नीचे दी हुई समस्या पर विचार करो:

एक एल्युमिनियम का गुटका 5 से.मी. लम्बा है और उसकी चौड़ाई व ऊँचाई दोनों ही एक से.मी. है। इस गुटके का भार कितना होगा?

मान लो कि किसी मशीन द्वारा इस गुटके का एक पेंच बना दिया जाता है। पेंच का भार 8 ग्राम-बल है। इसका आयतन कितना होगा?

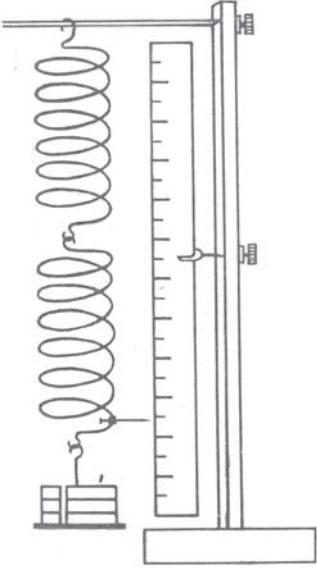
पेंच बनाते समय जो छीलन निकली होगी, उसका भार व आयतन कितना होगा?

अन्त में द्रवों का भार ज्ञात करने की गतिविधियाँ हैं।

कुल मिलाकर यह अध्याय बल व भार के गुणात्मक व मात्रात्मक एहसास देने पर केन्द्रित है। कहीं भी बल की परिभाषा नहीं दी गई है।

भार से सम्बन्धित अगला अध्याय है “भार और तुला”। इसमें मुख्य रूप से स्प्रिंग व उत्तोलक की मदद से भार का मापन करने की चर्चा है। मगर स्प्रिंग के साथ कई जटिल गतिविधियाँ भी शामिल की गई हैं।

सबसे पहले एक तार को लपेटकर एक स्प्रिंग बनाई जाती है और उस पर अलग-अलग ज्ञात वज़न लटकाकर लम्बाई में होने वाले परिवर्तन को देखा



जाता है। इन लम्बाइयों का एक पट्टी-चित्र बना लेते हैं। यहाँ एक सवाल यह पूछा गया है कि क्या ताम्बे व लोहे की स्प्रिंगें एक-सा व्यवहार करेंगी।

इसके बाद स्प्रिंग के साथ कुछ और प्रयोग किए जाते हैं। जैसे, दो स्प्रिंगों को श्रेणी में तथा समान्तर जोड़कर यह देखने का प्रयास होता है कि वज़न लटकाने से उन पर क्या प्रभाव पड़ता है। श्रेणी क्रम में लटकी स्प्रिंग में यह देखने का प्रयास होता है कि क्या वज़न लटकाने पर उसका प्रभाव दोनों स्प्रिंगों पर बराबर बँटता है। यानी, क्या दोनों स्प्रिंगों की लम्बाई में बराबर वृद्धि होती है। इसी प्रकार से कहा जाता है कि दो स्प्रिंगों को समान्तर जोड़ने पर:

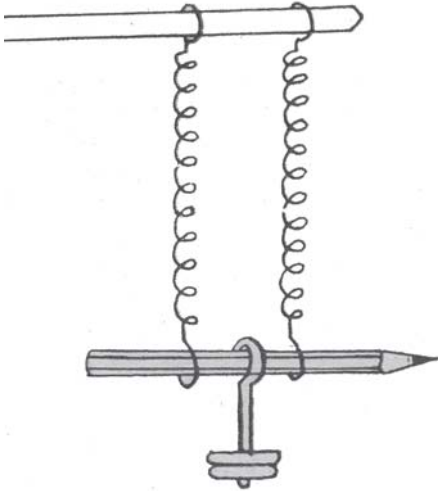
दोनों स्प्रिंगों की लम्बाई में होने वाले विस्तार को लिखो।

दो स्प्रिंगों में फँसी पेंसिल से कितने भार का वज़न लटकाया जाए कि उनकी लम्बाई में उतना ही विस्तार हो जितना कि अकेली स्प्रिंग से 150 ग्राम-बल का भार लटकाने से हुआ था?

इस प्रयोग को स्वयं करो और देखो कि तुम्हारा अनुमान कितना सही है।

एक स्प्रिंग-तुला बनाने के बाद उत्तोलक की गतिविधियाँ शुरू होती हैं।

उत्तोलक की गतिविधि में मूलतः सन्तुलन का सिद्धान्त खोजने का प्रयास है। एक



जश्न-ए-तालीम

पैमाने पर अलग-अलग दूरियों पर कुछ वज़न रखकर पैमाने को सन्तुलित किया जाता है और एक तालिका में वज़न व दूरी के आँकड़े भर लिए जाते हैं। मगर इन आँकड़ों से आगे कोई गणना नहीं की जाती। अन्त में निष्कर्ष स्पष्ट शब्दों में बताया गया है: “इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब पैमाना क्षैतिज हो तो बाईं ओर रखी चकतियों की संख्या और उनकी आधार रेखा से दूरी का गुणनफल आधार के दाईं ओर रखी चकतियों की संख्या और उनकी आधार रेखा से दूरी के गुणनफल के बराबर होता है।”

अन्त में सामान्य तुला से परिचय कराया गया है।

गृह कार्य के रूप में काफी सारे प्रयोग करने को दिए गए हैं।

इस अध्याय की एक विशेषता यह थी कि इसमें कई प्रयोग ऐसे भी हैं जो छोड़ भी दिए जाते तो काम चल जाता। जैसे, दो स्प्रिंगों वाले प्रयोग बल की बुनियादी समझ के लिए बहुत ज़रूरी नहीं हैं।

अध्याय की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें प्रयोग/गतिविधि करने के बाद निष्कर्ष बता देने से कोई परहेज़ नहीं था। दरअसल “लाल वैज्ञानिक” में यह ज़ोर बिलकुल भी नहीं था। कई जगहों पर निष्कर्ष बताए गए थे और कई जगहों पर प्रयोग के आधार पर निष्कर्ष तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया भी नहीं बताई गई थी। जैसा कि उपरोक्त उदाहरण में है – यहाँ गुणनफल निकालने की बात तक नहीं की गई है। अलबत्ता कहीं-कहीं थोड़ा इशारा प्रक्रिया की ओर भी है। जैसे, एल्युमिनियम के विभिन्न आकार के गुटकों का वज़न और आयतन निकालने के बाद बच्चों से कहा जाता है कि वे गुटके के 1 से.मी. पदार्थ का वज़न पता करें। इसके आधार पर उन्हें बताया जाता है: “अब तुम्हें स्पष्ट हो गया होगा कि किसी पदार्थ के इकाई आयतन का भार सदा वही रहता है, चाहे गणना के लिए उस पदार्थ की बनी बड़े आकार की वस्तु को चुना जाए या छोटे आकार की वस्तु को।”

ऐसा लगता है कि निष्कर्ष बिलकुल न देने की प्रथा होशंगाबाद विज्ञान की खास देन है। यह फैसला शायद 16 स्कूलों में कार्यक्रम के अनुभव का

परिणाम रहा होगा। खैर, अब इसी अध्याय का स्वरूप *बाल वैज्ञानिक* के प्रथम संस्करण (1978) में देखते हैं।

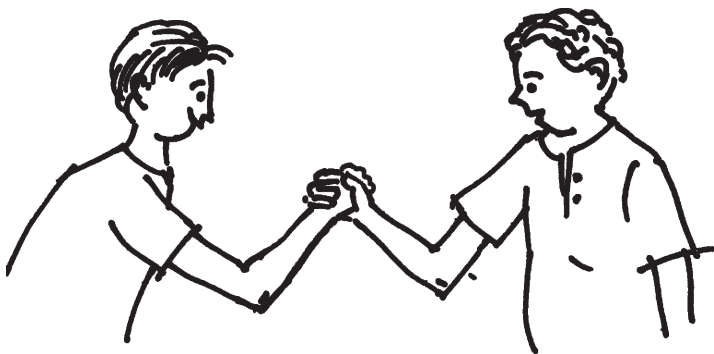
प्रथम संस्करण

प्रथम संस्करण में एक बड़ा परिवर्तन यह हुआ था कि बल और भार को तो कक्षा 6 में रखा गया था, मगर तुला तथा सन्तुलन के सिद्धान्त कक्षा 7 में स्थानान्तरित कर दिए गए थे।

“लाल वैज्ञानिक” के मुकाबले 1978 के संस्करण का अध्याय बहुत सरल लगता है।

यहाँ एक अन्तर यह नज़र आता है कि बल का एहसास देने के लिए दैनिक जीवन के उदाहरणों का सहारा लिया गया है – गल्ले की बोरी उठाना, कुएँ से पानी खींचना, हाथ ठेला चलाना वगैरह। इसके बाद दो चुम्बकों के बीच लगने वाले बल, साइकिल पम्प के पिस्टन को दबाने पर लगने वाले बल, सूखी व गीली काँच की पट्टियों के बीच लगने वाले बल, चुम्बक व लोहे के बीच लगने वाले बल तथा भार से सम्बन्धित प्रयोग किए जाते हैं। वैसे तो “लाल वैज्ञानिक” के ही प्रयोग इस अध्याय में भी रहे, अलबत्ता कुछ प्रयोग छोड़ दिए गए थे। जैसे स्प्रिंग दबाना-खींचना, स्प्रिंग पर वज़न लटकाकर लम्बाई में वृद्धि देखना, इकाई आयतन में वस्तु का भार ज्ञात करना, और द्रव का भार ज्ञात करना वगैरह।

बल को खिंचाव, धक्के वगैरह के एहसास के रूप में ही परिभाषित किया गया है, बल के द्वारा आकृति में बदलाव की बात को छोड़ दिया गया है। बल और भार के अनुमान के भी काफी सारे प्रयोग व प्रश्न हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, भार के मापन वाला अध्याय कक्षा 7 में “तराजू का सिद्धान्त” के नाम से रखा गया था जिसमें भार के मापन की बजाय सन्तुलन का सिद्धान्त खोजने पर ज़्यादा ज़ोर रहा। उस अध्याय में बच्चे खुद के तराजू व बाँट बनाते हैं और उनसे प्रयोग करके सन्तुलन के सिद्धान्त तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। इस अध्याय की विस्तृत चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है।



द्वितीय संस्करण

द्वितीय संस्करण (1987) में इस अध्याय में कई परिवर्तन हुए थे। उदाहरण के लिए, बल का एहसास देने के लिए गल्ले की बोरी और हाथ-ठेले का स्थान कबड्डी के खेल ने ले लिया। मगर अध्याय की भूमिका से ही बल की एक औपचारिक शुरुआत होने लगती है: “चुम्बकों के आकर्षण और विकर्षण बल का मज़ा तुमने चुम्बक के अध्याय में लिया। फलों को पेड़ से नीचे गिरते हुए भी तुमने देखा होगा। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल के कारण चीज़ें ज़मीन की ओर गिरती हैं। खेलते समय तुमने देखा होगा कि गिल्ली या गेंद को दूर फेंकने में या कबड्डी में खिलाड़ी को पकड़ने में बल का उपयोग करना पड़ता है। इस प्रकार तरह-तरह के बल होते हैं – चुम्बकीय, गुरुत्वाकर्षण, मनुष्य द्वारा लगाया हुआ आदि।”

अध्याय में बल की सामान्य समझ को मानकर चला जाता है। खण्ड “बल क्या है” के अन्तर्गत बल को परिभाषित करने की कोशिश करने की बजाय कहा गया है, “तुमने देखा होगा कि जब किसी गेंद या गिल्ली को एक जगह से दूसरी ओर चलाना हो तो हमें ज़ोर या बल लगाना पड़ता है।” यानी यह मानकर चला जाता है कि बच्चे जानते ही हैं कि बल क्या होता है।

फिर पंजा लड़ाने की गतिविधि के माध्यम से बल की दिशा की बात उठाई

जाती है। दो चुम्बकों तथा एक चुम्बक व लोहे की क्रिया के माध्यम से बगैर छुए लगने वाले बल के बारे में बताने के बाद गुरुत्वाकर्षण की बात की जाती है और भार का एहसास कराया जाता है। अन्त में एक रबर बैंड पर वज़न लटकाकर उसकी लम्बाई में वृद्धि को देखा जाता है तथा भार की इकाइयाँ बताई जाती हैं।

1987 के अध्याय में न सिर्फ निष्कर्ष देने बल्कि व्याख्याएँ करने के प्रयास भी किए गए हैं। जैसे चुम्बक व लोहे के प्रयोग करने के बाद बच्चों को बताया जाता है: “तुमने देखा कि चुम्बक के सभी प्रयोगों में एक-दूसरे को छुए बिना ही बल का असर पड़ता है।” इसी प्रकार से, “एक गेंद को हाथ में पकड़कर कुछ ऊँचाई से छोड़ दो। गेंद नीचे गिरती है। इसका मतलब कोई बल गेंद को नीचे पृथ्वी की तरफ खींच रहा है।”

ध्यान से देखने पर पता चलता है कि यह वक्तव्य थोड़ा अटपटा है। चीज़ें पृथ्वी पर गिरती हैं, इसका सीधे-सीधे यह मतलब निकालना उचित नहीं है कि पृथ्वी गेंद पर बल लगाती है। यह भी हो सकता है कि कोई चीज़ उसे नीचे धकेल रही हो या यह भी हो सकता है कि अरस्तू की व्याख्या सही हो कि चीज़ों का स्वाभाविक स्थान पृथ्वी पर है और सब चीज़ें अपनी स्वाभाविक जगह पर पहुँचना चाहती हैं।

एक अन्य प्रयोग में जब एक रबर बैंड पर कंचे लटकाने से उसकी लम्बाई में वृद्धि हुई तो यह कहना ज़रूरी समझा गया: “तुमने देखा कि जब कंचे अधिक हुए तो उन पर पड़ने वाला गुरुत्व बल (या भार) बढ़ा और छल्ले की लम्बाई भी बढ़ी।” यहाँ भी बात बहुत साफ नहीं है। यानी यह तो उन्होंने देखा कि छल्ले की लम्बाई बढ़ी मगर यह कब देखा कि गुरुत्व बल बढ़ा!

दरअसल बल एक अमूर्त अवधारणा है जिसके असर तो हम देख सकते हैं मगर स्वयं बल को पकड़ना मुश्किल है। इस अवधारणा को समझाने के लिए शायद ज़रा आहिस्ता चलने की ज़रूरत है। यह तरीका किसी हद तक “लाल वैज्ञानिक” व प्रथम संस्करण में तो नज़र आता है। लेकिन किसी वजह से द्वितीय संस्करण में एक उतावलापन है कि गुरुत्वाकर्षण के बारे

जश्न-ए-तालीम

में जल्दी से बता दिया जाए और कहीं यह सोच है कि इसे इस तरह बताया जाए कि लगे कि इसकी समझ प्रयोग में से उभरी है।

जैसे कि हम देखेंगे, तृतीय संस्करण में इस अध्याय का स्वरूप और भी बदल गया था।

तृतीय संस्करण

तृतीय संस्करण में इस अध्याय का नाम है “कहाँ-कहाँ नहीं है बल”। इसमें प्रमुख परिवर्तन यह हुआ कि प्रयोगों और गतिविधियों का स्वरूप व मकसद काफी बदल गया है। दूसरा परिवर्तन यह है कि बल का एहसास देने के बाद अध्याय के नाम के अनुरूप ही विभिन्न स्थितियों में लगने वाले बलों की पहचान व विश्लेषण को काफी महत्व दिया गया है। तीसरी बात है कि इस अध्याय में विश्लेषण में चित्रों की भरपूर मदद ली गई है। इसके अलावा इस अध्याय में अपेक्षाकृत अनौपचारिक भाषा का उपयोग हुआ है।

शुरुआत बल को एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करके होती है। बच्चों के सामने यह सवाल रखा जाता है कि “वैज्ञानिकों को इसमें [जब कोई व्यक्ति आराम से खड़ा है] बल कहाँ दिखाई दे रहा है?” इसके बाद कई परिस्थितियों में बल की खोज करते-करते हम इस बात पर पहुँचते हैं कि बल की एक दिशा भी होती है और गति न होने का मतलब यह नहीं है कि बल नहीं लग रहा है। इसके बाद गैलीलियो के ख्याली प्रयोग से पहले कंचों को एक ढलान पर लुढ़काकर, घर्षण बदल-बदलकर देखा जाता है कि कंचे अलग-अलग दूरी तय करते हैं। यहाँ गैलीलियो के ख्याली प्रयोग की बात करके न्यूटन का पहला नियम प्रस्तुत होता है और साथ ही घर्षण बल की बात होती है।

अब गेंद को गिराने पर या उछालने पर लगने वाले बल का विश्लेषण करके गुरुत्वाकर्षण की बात होती है। यहाँ कई रोचक प्रसंगों के माध्यम से गुरुत्वहीन परिस्थिति की कल्पना को विस्तार दिया गया है। भार की बात भी इस सन्दर्भ में की गई है और चाँद पर भार की चर्चा भी है।

अन्त में विभिन्न परिस्थितियों में बलों के सन्तुलन की बात की गई है। कुछ हद तक बल के परिमाण की बात भी की गई है।

अध्याय का लक्ष्य यह है कि बच्चों को बल के विश्लेषण का अभ्यास कराया जाए और इसके लिए ज़रूरी जानकारी से लैस किया जाए। इसी तारतम्य में घर्षण बल, गुरुत्वाकर्षण बल, जड़त्व, बलों का सन्तुलन वगैरह अवधारणाएँ आती हैं। कुल मिलाकर तर्क यह है कि पृथ्वी पर किसी भी वस्तु पर गुरुत्वाकर्षण हमेशा लगता है। इसलिए यदि वह नीचे की ओर गति नहीं कर रही है तो अवश्य ही कोई बल गुरुत्वाकर्षण को “काट” रहा है। विश्लेषण का यही तर्क अन्य परिस्थितियों में भी काम करता है और बच्चे यह देख पाते हैं कि गति न होने का मतलब है कि बलों का सन्तुलन स्थापित हुआ है। इसे स्पष्ट करने हेतु कहा गया है कि “हमें तो बस यह देखना है कि वस्तु की गति यदि कम हो रही है, तो ज़रूर उलटी दिशा में कोई बल उसे रोक रहा है। और यदि वस्तु की गति तेज़ हो रही है तो ज़रूर कोई बल उसे उसी दिशा में खींच रहा है या धकेल रहा है।” दूसरे शब्दों में, बल को त्वरण से जोड़ा गया है।

यहाँ इतना स्पष्ट करना ज़रूरी है कि इस अध्याय पर ज्यादा फीडबैक उपलब्ध नहीं है क्योंकि यह संस्करण लागू होने से पहले ही कार्यक्रम बन्द हो गया था।

सवाल आगे की कक्षाओं से जोड़ने वाली कड़ियों का

कार्यक्रम की शुरुआत से ही शिक्षक यह चिन्ता व्यक्त करने लगे थे कि इस पाठ्यक्रम में और अन्य स्कूलों में चलने वाली किताबों में काफी अन्तर है। खास तौर से शिक्षकों के बीच एक आम चिन्ता का विषय यह रहा कि जो बच्चे कक्षा 6-8 में हो.वि.शि.का. का पाठ्यक्रम “पढ़ते” हैं, उन्हें कक्षा 9 और 10 में दिक्कत तो नहीं आएगी। शिक्षकों ने यह सवाल कई मंचों पर उठाया था। इसके अलावा शिक्षा प्रशासन में भी यह चिन्ता व्याप्त रहती थी। हो.वि.शि.का. से जुड़े कई स्रोत शिक्षक व अनुवर्तनकर्ता हाई व हायर सेकण्डरी स्कूलों के थे और वे भी अपने तरीके से यह सवाल उठाया करते थे। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि सभी शिक्षकों को यह चिन्ता खाए जा रही थी, मगर काफी सारे शिक्षक इसमें शरीक थे।

यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि 16 स्कूलों में नवाचार कार्यक्रम लागू करने की अनुमति देते हुए शासन की ओर से यह स्पष्ट कर दिया गया था कि प्रचलित पाठ्यक्रम में कोई फेरबदल नहीं किया जाएगा। आशय विषय-वस्तु से था। ज़िला स्तरीय प्रसार से पूर्व 1977 में राज्य पाठ्य पुस्तक समीक्षा समिति ने अन्य स्कूलों में चल रही पाठ्य पुस्तकों और प्रस्तावित *बाल वैज्ञानिक* की तुलना करके पाया था कि उनमें कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। इसी आधार पर हो.वि.शि.का. के ज़िला स्तरीय प्रसार को हरी झण्डी मिली थी।

शिक्षकों में भी प्रायः चिन्ता का कारण यह नहीं था कि हो.वि.शि.का. और कक्षा 9-10 के विज्ञान में कोई बुनियादी खाई है। कोई-कोई शिक्षक ही कहता था कि शिक्षा की इस सक्रिय विधि से रटन्त पद्धति में लौटने पर बच्चों को दिक्कत होती है। असल में इस सम्बन्ध में हाई स्कूल के कुछ शिक्षकों ने कभी-कभी अपने अनुभव सुनाते हुए बताया था कि हो.वि.शि.का. से आए बच्चे कक्षा में ज़्यादा सवाल पूछते हैं और प्रयोग करने में कुशल व तत्पर होते हैं। मगर अधिकांश शिक्षकों को चिन्ता थी कि ये बच्चे दसवीं बोर्ड में “पिट” जाएँगे।

सबसे पहले यह सवाल 1975 में उठा था। उस समय हो.वि.शि.का. के 16 स्कूलों के छात्रों व अन्य छात्रों के प्राप्तांकों की तुलना करके देखा गया था कि हो.वि.शि.का. के छात्र पिछड़ते नहीं हैं।

फ्रेंड्स रुरल सेंटर और किशोर भारती द्वारा किए गए इस अध्ययन¹ में दो तरीके अपनाए गए थे। पहला तरीका था होशंगाबाद व बनखेड़ी प्रखण्ड (जहाँ के कुछ स्कूलों में हो.वि.शि.का. लागू था) की उच्चतर माध्यमिक शालाओं के प्राचार्यों, व्याख्याताओं व शिक्षकों से चर्चा। नवम्बर 1975 में आयोजित इस गोष्ठी में दो प्रमुख बातें उभरी थीं (गौरतलब है कि जुलाई 1975 में ही हो.वि.शि.का. छात्रों का पहला बैच उच्चतर माध्यमिक शालाओं में पहुँचा था)।

उच्चतर माध्यमिक शालाओं के अध्यापकों ने बताया कि वे अभी तक नहीं पहचान पाए हैं कि उनकी कक्षा में कौन-से विद्यार्थी “रसूलिया” विज्ञान के हैं और कौन-से परम्परागत विज्ञान के। वैसे उस समय हो.वि.शि.का. समूह का मत था कि “ऐसा होना स्वाभाविक ही है। जैसा कि कुछ शिक्षकों ने स्वीकार किया कि उनकी कक्षाओं में चर्चा, विवेचन, प्रयोग या अन्य

1 मध्य प्रदेश शासन एवं एन.सी.ई.आर.टी. के संयुक्त तत्वावधान में हो.वि.शि.का. के ज़िला स्तरीय विस्तार से पूर्व किशोर भारती व फ्रेंड्स रुरल सेंटर द्वारा किया गया अध्ययन “हो.वि.शि.का. के अन्तर्गत माध्यमिक शाला में प्रयोगनिष्ठ विज्ञान शिक्षण प्राप्त विद्यार्थियों की कक्षा 9 में शैक्षणिक प्रगति और समायोजन का मूल्यांकन”, दिसम्बर 1977।

जश्न-ए-तालीम

सृजनात्मक क्रियाओं के अवसर ही नहीं आए थे जिनके आधार पर प्रयोगनिष्ठ शिक्षण प्राप्त विद्यार्थियों के इन गुणों को परखा जाता।”

अध्यापकों ने यह भी स्पष्ट किया था कि माध्यमिक शालाओं के शिक्षण पर उन्हें इतना अविश्वास है कि वे अपना अध्यापन कार्य यह मानकर करते हैं कि विद्यार्थियों की विज्ञान के विषय में जानकारी शून्य है।

दूसरा तरीका था कक्षा 9 की परीक्षाओं का विवेचन। बनखेड़ी व होशंगाबाद प्रखण्ड की तीन उच्चतर माध्यमिक शालाओं में हो.वि.शि.का. व अन्य छात्रों के द्वारा नवीं कक्षा में विज्ञान के प्राप्तांकों की सांख्यिकीय तुलना की गई। इससे पता चला कि इन दो समूहों में जो भी अन्तर है वह सांख्यिकीय दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं है।

इसी प्रकार की एक तुलना जिला स्तरीय प्रसार के बाद ग्यारहवीं के प्राप्तांकों को लेकर भी की गई थी। इस अध्ययन में 1982-1985 के बीच ग्यारहवीं की परीक्षा देने वाले छात्रों के प्राप्तांकों की तुलना की गई थी। 1982 व 1983 में ग्यारहवीं की परीक्षा देने वाले छात्र परम्परागत विज्ञान पढ़कर आए थे जबकि 1984 व 1985 के बीच हो.वि.शि.का. छात्रों के थे। कुल मिलाकर आँकड़ों से निष्कर्ष निकला था कि हो.वि.शि.का. के छात्र पिछड़ते तो कदापि नहीं हैं।

अलबत्ता इस अध्ययन ने सदा के लिए इन आशंकाओं पर विराम नहीं लगाया। हर दो-तीन साल में यह मुद्दा उठता रहा। आम तौर पर यह सवाल नहीं उठा कि हो.वि.शि.का. पद्धति से सीखने वाले और अन्य छात्रों के बीच अवधारणाओं की समझ, प्रायोगिक हुनर, अपने पर्यावरण के प्रति जिज्ञासा व समझ वगैरह को लेकर क्या फर्क है। पूरा मुद्दा बोर्ड परीक्षाओं के सीमित दायरे में ही उठता रहा और हर बार ऐसा मुद्दा उठने पर हो.वि.शि.का. समूह की ओर से दसवीं के परिणामों का तुलनात्मक अध्ययन पेश कर दिया जाता था। वैसे यह प्रक्रिया खुद हो.वि.शि.का. समूह के लिए कभी सन्तोषप्रद नहीं रही। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि इन परीक्षाओं में अवधारणाओं की समझ या वैज्ञानिक सोच की जाँच होती ही नहीं थी। इस तरह की तुलना से इतना ही साबित होता था कि “करके सीखो” पद्धति से गुज़रने के बाद भी बच्चे पारम्परिक परीक्षा के जानकारी

सवाल आगे की कक्षाओं से जोड़ने वाली कड़ियों का

आधारित सवालों से सफलतापूर्वक जुड़ पाते हैं। लेकिन ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद ऐसा अध्ययन करना मुश्किल हो गया था क्योंकि होशंगाबाद ज़िले की दसवीं बोर्ड की परीक्षा में सारे बच्चे हो.वि.शि.का. धारा से ही आते थे। आगे चलकर जब हो.वि.शि.का. को 13 ज़िलों के एक-एक शाला संकुल में लागू किया गया तो फिर यही सवाल उठे। फिर एक बार दोनों धाराओं के बच्चों की तुलना ने इस आशंका को निर्मूल साबित कर दिया।

उदाहरण के लिए, दिसम्बर 2000 में हरसूद शाला संकुल (ज़िला खण्डवा) में कक्षा 9 व 10 के परिणामों का एक विश्लेषण किया गया था। अन्य सभी शाला संकुलों के समान हरसूद में भी कुछ माध्यमिक शालाओं में हो.वि.शि.का. लागू था जबकि अन्य शालाओं में परम्परागत विज्ञान चलता था। अतः यहाँ की उच्चतर माध्यमिक शालाओं में दोनों धाराओं के बच्चे पहुँचते थे। यहाँ भी देखा गया कि हो.वि.शि.का. व अन्य छात्रों के बीच कक्षा 9 व 10 के परीक्षा परिणामों में कोई खास अन्तर नहीं है।

एक और अध्ययन का ज़िक्र करना मुनासिब होगा। यह अध्ययन ठीक कब किया गया था पता नहीं चलता, मगर सम्भवतः 1983 के बाद कभी किया गया था। सामान्य छात्रों को कक्षा 8 के जीव विज्ञान, रसायन व भौतिकी से सम्बन्धित तीन-तीन प्रश्न देकर हल करने को कहा गया था। ये छात्र कक्षा 8 परम्परागत विधि से उत्तीर्ण कर चुके थे, मगर रिपोर्ट से यह पता नहीं चलता कि परीक्षण के समय वे किस कक्षा में थे। इतना स्पष्ट है कि सारे छात्र किसी न किसी उच्चतर माध्यमिक शाला में पढ़ रहे थे।

शाजापुर, धार, उज्जैन, रतलाम व मन्दसौर ज़िले के कुल 609 छात्रों के साथ यह परीक्षण किया गया था। मात्र 23 छात्र उत्तीर्ण हो सके। इनमें से नौ छात्रों को द्वितीय श्रेणी तथा 14 छात्रों को तृतीय श्रेणी योग्य अंक मिले। यह अध्ययन दर्शाता है कि यह ज़रूरी नहीं है कि परम्परागत पाठ्यक्रम में शामिल सारे विषय (जो *बाल वैज्ञानिक* में नहीं थे) बच्चों को आगे मददगार बने रहते हैं। लेकिन कम से कम एक मायने में इस अध्ययन के निष्कर्ष शिक्षकों के लिए चौंकाने वाले नहीं रहे होंगे क्योंकि वे जानते हैं कि परीक्षा के बाद अधिकांश छात्र सब भूल ही जाते हैं।

जश्न-ए-तालीम

कुल मिलाकर किसी वजह से अविश्वास बना रहा। शायद लोगों को लगता था कि हो.वि.शि.का. का पाठ्यक्रम कमज़ोर है। शायद बाल वैज्ञानिक को देखकर लगता था कि इसमें विषय-वस्तु का अभाव है और इसलिए बच्चे क्या सीखते होंगे इसे लेकर शंका बनी रहती थी। सीखने की जो रूढ़ छवि है – तथ्य, परिभाषाएँ, नियम, सूत्र, जानकारी प्राप्त करना – उसकी पृष्ठभूमि में देखने पर लगता था कि हो.वि.शि.का. में कुछ नहीं सिखाया जाता। इसलिए लोग यह मानते थे कि बच्चों को ज़रूर नुकसान होता होगा।

बहरहाल, धीरे-धीरे कक्षा 9-10 से जुड़ाव की बात कुछ विशिष्ट विषयों पर टिक गई थी। शिक्षकों व अन्य लोगों ने अन्य ज़िलों में चलने वाली पुस्तक विज्ञान और बाल वैज्ञानिक के बीच अन्तर खोज निकाले। कुछ विषय-वस्तु ऐसी थी जो विज्ञान में थी और बाल वैज्ञानिक में नहीं थी, जबकि कुछ विषय-वस्तु ऐसी थी जो बाल वैज्ञानिक में थी मगर विज्ञान में नहीं थी। बाल वैज्ञानिक में से नदारद विषय-वस्तु धीरे-धीरे एक अभियान का आधार बन गई। समय-समय पर हो.वि.शि.का. के विरोध में जो गतिविधियाँ हुईं उनमें यह एक प्रमुख बिन्दु बना।

इस बात को कदापि नहीं सराहा गया कि बाल वैज्ञानिक में बच्चों को विज्ञान की कुछ ऐसी बुनियादी बातें सिखाई जाती थीं जो “विज्ञान” में से नदारद थीं। मुख्यधारा के सामने बाल वैज्ञानिक एक छोटा-सा प्रयास था, इसलिए यह हो.वि.शि.का. की ज़िम्मेदारी थी कि वह तालमेल बनाए। मुख्यधारा “मानक” बन जाती है, स्वनामधन्य होती है। इसलिए कई शिक्षकों का सवाल होता था कि “संयोग और सम्भावितता” या “जीवजगत में विविधता” जैसी चीज़ें क्यों पढ़ाई जाती हैं।

बाल वैज्ञानिक में से नदारद विषय-वस्तु में निम्नलिखित चीज़ें प्रमुख थीं:

- 1) संहति (mass) व घनत्व
- 2) सजीवों का मानक वर्गीकरण
- 3) अणु, परमाणु, संकेत, सूत्र, समीकरण व संयोजकता

इनमें से अन्तिम विषय सबसे बड़े अभाव के रूप में उभरा था। किसी वजह से लोगों ने संहति और सजीवों के वर्गीकरण को इतना बड़ा मुद्दा नहीं माना।

सवाल आगे की कक्षाओं से जोड़ने वाली कड़ियों का

होशंगाबाद के बच्चों के तथाकथित पिछड़ने में प्रमुख भूमिका *बाल वैज्ञानिक* में अणु, परमाणु, संकेत, सूत्र, समीकरण व संयोजकता के अभाव की मान ली गई थी। एक दिलचस्प बात यह भी है कि सन 2000 में जब *बाल वैज्ञानिक* के नए संस्करण को पाठ्य पुस्तक स्थायी समिति के समक्ष प्रस्तुत किया गया तो समिति ने पाठ्यक्रम में अन्तर की बात उठाई। उस समय की गई एक तुलना से पता चला था कि *बाल वैज्ञानिक* में निम्नलिखित अध्याय नहीं हैं जो पारम्परिक पाठ्य पुस्तक में हैं:

- | | |
|----------------------------------|-----------------------|
| 1. द्रव्य: प्रतीक, सूत्र, समीकरण | 2. विद्युत आवेश |
| 3. कार्बन | 4. कार्बन के यौगिक |
| 5. चट्टानें, खनिज व धातुएँ | 6. धातुएँ और उनके गुण |
| 7. मानव निर्मित वस्तुएँ | 8. जैव विकास |

लेकिन समिति को भी इस बात से कोई सरोकार नहीं था कि *बाल वैज्ञानिक* में कई चीजें ऐसी हैं जो पारम्परिक पाठ्य पुस्तक में नहीं हैं, न ही उन्होंने यह जानने की कोशिश की कि बाल वैज्ञानिक में इन चीजों को शामिल करने की क्या वजह थी।

क्योंकि *बाल वैज्ञानिक* में अधिकांश अध्याय रसायन शास्त्र से सम्बन्ध रखते थे, इसलिए चर्चा को आगे बढ़ाने के लिए इसी विषय पर बात करते हैं।

हो.वि.शि.का. में रसायन पाठ्यक्रम का विकास

मिडिल स्कूल की कक्षाओं में रासायनिक विषयों को शामिल करना खासा मुश्किल काम है। पर्यावरण में से जो रासायनिक विषय उभरते हैं, उनका सम्बन्ध खेती-बाड़ी, स्वास्थ्य, प्रदूषण, पानी की गुणवत्ता वगैरह से होता है। यदि “करके सीखो” को एक कसौटी बना लिया जाए तो मुश्किलें और बढ़ जाती हैं। पदार्थों के रासायनिक गुणधर्मों को समझने के लिए विशिष्ट रसायनों के अलावा उपकरणों की ज़रूरत पड़ती है। ऐसे रसायन आम तौर पर ज़िले के स्तर पर भी नहीं मिल पाते। फिर ये महँगे भी होते हैं। अलबत्ता, यदि आपने तय किया है कि पाठ्य पुस्तक में लिख देना ही पर्याप्त है तो फिर सब कुछ “आसान” हो जाता है। आपको किसी सीमा को स्वीकार

जश्न-ए-तालीम

करने की मजबूरी नहीं होती। यही रवैया पारम्परिक पाठ्य पुस्तकों में रहा है।

इन बातों के मद्देनज़र हो.वि.शि.का. समूह को बच्चों को पदार्थों की रासायनिक प्रकृति व परस्पर क्रियाओं से परिचित कराने के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ी थी। ज़िला स्तरीय प्रसार (1978) के समय *बाल वैज्ञानिक* में रसायन शास्त्र से सम्बन्धित अध्याय देखें तो निम्नलिखित चित्र उभरता है:

1. मिश्रण में से पदार्थों को अलग-अलग करना (“पृथक्करण”)
2. पदार्थों को बनाना व उनके गुणधर्म पता करना (“गैसें”)
3. रासायनिक गुणधर्मों के आधार पर पदार्थों की पहचान (“अम्ल, क्षार और लवण”)
4. पदार्थों की परस्पर क्रियाएँ – आंशिक मात्रात्मक अध्ययन (“अम्ल, क्षार और लवण” और “जल – मृदु और कठोर”)
5. विद्युत के रासायनिक प्रभाव
6. जैविक प्रक्रियाओं (“पाचन”, “श्वसन”, “प्रकाश संश्लेषण”) में रासायनिक परिवर्तनों का अध्ययन
7. पदार्थों की उपस्थिति के रासायनिक प्रभाव (“जल – मृदु और कठोर”)

शुरू में इन विषयों के इर्द-गिर्द कई अध्यायों पर प्रारम्भिक काम किया गया था। इन अध्यायों के मसौदे तैयार हुए थे, मगर लगता है कि पहली जाँच में इन्हें छोड़ दिया गया था अथवा कहीं-कहीं इनके हिस्सों को अन्य अध्यायों में शामिल कर लिया गया था। उन खारिज अध्यायों पर एक नज़र डालें तो अनुचित न होगा।

मई 1973 में लिखे गए एक अध्याय का मसौदा देखते हैं। इस शीर्षक-रहित अध्याय का सम्बन्ध पदार्थों के रासायनिक गुणों के परीक्षण से था। अध्याय की शुरुआत बहुत दिलचस्प थी और इसमें यह दिखाने का प्रयास था कि रासायनिक गुण किस तरह से भौतिक गुणों से अलग होते हैं। बच्चों के

सामने समस्या यह रखी गई थी कि क्या एक-से दिखने वाले पदार्थ हमेशा एक-से होते हैं।

तीन तरल पदार्थ, क, ख और ग, लिए गए थे जो तीनों पानी जैसे दिखते हैं। पता करना है कि वे तीनों पानी ही हैं या नहीं। अब घोल क की थोड़ी-सी मात्रा घोल ख में मिलाई जाती है तो घोल ख थोड़ा गर्म हो जाता है। सवाल है: क्या पानी में थोड़ा पानी और मिलाने से पानी गर्म हो जाता है? निष्कर्ष निकलता है कि घोल क और ख में पानी के अलावा कुछ और भी है। इस प्रकार से प्रयोग करके देखा जाता है कि एक-से दिखने वाले पदार्थ अलग-अलग हो सकते हैं। “उन परिस्थितियों में जबकि पदार्थों को केवल रंग-रूप से नहीं पहचाना जा सकता, तब हम उन पदार्थों की पहचान एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ के साथ प्रतिक्रिया से कर सकते हैं।”

इसके बाद 10 परीक्षण दिए गए थे जिनकी मदद से पदार्थों की पहचान की जा सकती है। इनमें ज्वाला परीक्षण, सिल्वर नाइट्रेट से क्लोराइड का परीक्षण, लिटमस परीक्षण, कार्बोहायड्रेट का परीक्षण (अल्फा-नेफ्थाइल अमीन-सल्फ्यूरिक अम्ल) तथा प्रोटीनों का परीक्षण (निनहायड्रिन) वगैरह शामिल थे। मगर इनमें से अधिकांश परीक्षणों के लिए विशिष्ट रसायनों की जरूरत होती। क्लोराइड जैसे समूह का परीक्षण वैसे भी निरर्थक होता, क्योंकि बच्चे इससे परिचित नहीं थे। इस तरह यह अध्याय शायद परीक्षण स्तर तक पहुँचा ही नहीं था।

रासायनिक गुणों के बारे में भी एक अध्याय विकसित किया गया था जिसमें क्वथनांक, गलनांक, घुलनशीलता जैसे गुणों से सम्बन्धित प्रयोग थे। यह भी आगे नहीं बढ़ा। इसी प्रकार से पदार्थों की अवस्थाओं और अवस्था परिवर्तन पर भी एक अध्याय तैयार किया गया था, मगर अन्ततः *बाल वैज्ञानिक* में इसे स्थान नहीं मिला।

स्पष्ट है कि बच्चों को पदार्थों के रासायनिक गुणधर्मों व अन्तर्क्रियाओं से परिचित कराना अजेण्डा में नहीं था।

प्रथम संशोधन के दौरान, जैसा कि पहले कहा गया है, मुख्य चिन्ता तो विषय-वस्तु कम करने और *बाल वैज्ञानिक* को स्कूल सत्र के अनुकूल बनाने

जश्न-ए-तालीम

की थी। मगर द्वितीय संशोधन प्रक्रिया के समय यह महसूस किया गया कि *बाल वैज्ञानिक* में रसायन का अंश बढ़ाया जाना चाहिए। इसके मद्देनज़र 1996 में हो.वि.शि.का. से जुड़े रसायन समूह ने रसायन शास्त्र के पाठ्यक्रम का एक व्यवस्थित आकलन किया। पाया गया कि रसायन शास्त्र के कुछेक अध्याय इधर-उधर बिखरे हुए हैं और कुछ अन्य अध्यायों में ज़रूरत के हिसाब से रसायन शास्त्र का इस्तेमाल किया गया है। रसायन शास्त्र के अध्यायों में आसान गुणात्मक अध्ययन से जटिल मात्रात्मक अध्ययन की ओर क्रमवार बढ़ने की कोशिश का जर्बदस्त अभाव था। यह भी समझ में आया कि इसके पीछे मुख्य कारण यह था कि हो.वि.शि.का. समूह में एक गहरी धारणा थी कि इतने कम रसायनों और उपकरणों के इस्तेमाल से इससे अधिक कुछ नहीं किया जा सकता।

ऐसे में रसायन समूह ने *बाल वैज्ञानिक* के रसायन के पूरे पाठ्यक्रम को नई तरह से विकसित करने का काम हाथ में लिया। चुनौती थी कि बच्चों को प्रायोगिक ढंग से रासायनिक गुणधर्मों और परिवर्तनों की मूलभूत अवधारणाओं से परिचित करवाया जाए ताकि आगे के सालों में रसायन शास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों को समझने के लिए एक आधार तैयार हो सके। और यह सब करते हुए यह ध्यान रखना था कि किट पर कम से कम बोझ बढ़े और साथ ही *बाल वैज्ञानिक* का कुल पाठ्यक्रम न बढ़े।

इस स्तर पर की जा सकने वाली जो मूलभूत अवधारणाएँ पहचानी गईं वे थीं – घुलनशीलता, पदार्थों की अवस्थाएँ, रासायनिक क्रिया, रासायनिक तुल्यता और क्रिस्टलीकरण। इन अवधारणाओं को ध्यान में रखते हुए ढेरों प्रयोग आजमाए गए और अन्ततः दो सालों के प्रयासों से पाँच नए अध्याय तैयार किए गए। ये थे “घुलनशीलता”, “रासायनिक क्रियाएँ”, “रासायनिक क्रियाओं की गति”, “रवे बनाना” तथा “अम्ल और क्षार का आपसी सम्बन्ध”। रसायन समूह के लिए यह एक बहुत ही रोचक अनुभव था क्योंकि वे कुछ हद तक इस धारणा को तोड़ पाए कि इस स्तर पर सीमित साधनों के चलते ज़्यादा कुछ नहीं किया जा सकता।

“अम्ल और क्षार का आपसी सम्बन्ध” अध्याय का उद्देश्य बच्चों को रासायनिक तुल्यता की अवधारणा से अवगत करवाना था। ऐसा माना गया

कि अगर बच्चे रासायनिक तुल्यता की अवधारणा कुछ हद तक समझ पाएँ तो अणु, परमाणु, संकेत, सूत्र और समीकरण समझने के लिए एक आधार बन पाएगा। समूह ने माना कि ये सब अमूर्त अवधारणाएँ हैं और इन्हें आठवीं तक के पाठ्यक्रम में शामिल नहीं किया जाना चाहिए। परन्तु बाद में कई एक दबावों के चलते इन अवधारणाओं से सम्बन्धित एक अध्याय आठवीं की पुस्तक में डाला जाना ज़रूरी हो गया। लेकिन ऐसा नहीं था कि 1999 में पहली बार इस पर काम किया गया था। इससे पहले भी कई कोशिशें हो चुकी थीं और उन पर एक नज़र डालना मुनासिब होगा।

अणु-परमाणु: चलती हुई बहस

असल में हो.वि.शि.का. पाठ्यक्रम पर जब भी बात होती थी, अणु-परमाणु की बात ज़रूर उठती थी। अणु-परमाणु से सम्बन्धित अवधारणाओं (यानी तत्व, यौगिक, मिश्रण, परमाणु, अणु, संकेत, सूत्र, समीकरण व संयोजकता) को *बाल वैज्ञानिक* में शामिल न किए जाने के कारण शिक्षकों, पालकों व अन्य लोगों ने बार-बार यह चिन्ता व्यक्त की थी कि होशंगाबाद के बच्चे पिछड़ रहे हैं। इसमें एक प्रमुख चिन्ता यह रही कि जब ये बच्चे कक्षा 9 में पहुँचते हैं तो इन्हें बहुत दिक्कत होती है क्योंकि वहाँ यह विषय उनके लिए एकदम अपरिचित होता है। कई लोगों का यह मानना था कि ये चीज़ें आधुनिक रसायन शास्त्र की बुनियाद हैं और यदि बच्चों को ये जल्दी से जल्दी नहीं सिखाई जाती तो वे आगे कई बातें नहीं सीख पाएँगे।

मगर इन अवधारणाओं को शामिल करने के आग्रह के पीछे जो प्रमुख तर्क होता था वह विषय की समझ, बच्चों की तैयारी के आकलन या शिक्षा के तौर-तरीकों पर आधारित न होकर मूलतः इस बात पर टिका होता था कि अन्य ज़िलों में यदि ये चीज़ें हैं तो इन्हें *बाल वैज्ञानिक* में भी होना चाहिए।

इस मुद्दे की व्यापकता के बावजूद हो.वि.शि.का. समूह ने इस विषय को *बाल वैज्ञानिक* में जगह नहीं दी। अतः यह जानना ज़रूरी है कि इसके पीछे समझ क्या रही।

यदि हम हो.वि.शि.का.की पाठ्यक्रम सम्बन्धी चर्चाएँ देखें तो इसके दो जुड़े हुए कारण मिलते हैं। रसायन शास्त्र में परमाणु व अणु की अवधारणा एकदम

जश्न-ए-तालीम

अमूर्त अवधारणा है। इसे समझने के लिए प्रयोग हैं तो सही मगर वे मिडिल स्कूल के स्तर पर नहीं करवाए जा सकते। वैसे भी आधुनिक रसायन शास्त्र में परमाणु व अणु की अवधारणा किसी एक प्रयोग का परिणाम नहीं है। पदार्थ की प्रकृति व उसकी भीतरी क्रियाओं को समझने के प्रयासों में किसी मोड़ पर यह अवधारणा उभरी थी। अट्टारवीं सदी का उत्तरार्ध रासायनिक अध्ययनों में मात्रात्मक पहलू के समावेश का ज़माना था। जब रासायनिक परिवर्तनों के अध्ययन में नाप-तौल की जाने लगी तो आधुनिक अर्थों में तत्व की परिभाषा उभरी और उसके बाद 50 सालों के मात्रात्मक अवलोकनों व आँकड़ों की व्याख्या करते हुए डाल्टन ने परमाणु की अवधारणा प्रस्तुत की थी। यह एक दार्शनिक इकाई नहीं थी बल्कि भौतिक इकाई थी। अणु तो इसके भी 50 साल बाद स्वीकार किया गया था।

अतः पदार्थ की परमाणविक प्रकृति को आधुनिक अर्थों में समझने के लिए पहले ज़रूरी है कि बच्चे रासायनिक परिवर्तनों को देखें-समझें और उनमें मात्रात्मक सम्बन्धों पर ध्यान दें। इस पूर्व तैयारी के बगैर परमाणु व अणु की बात करना बेमानी है। पाठ्यक्रम की बात करते हुए विजय वर्मा ने कहा था कि हमने “परमाणु संरचना और रासायनिक सूत्रों की बात नहीं की क्योंकि हमें बहुत शक है कि इस उम्र में बच्चे की मानसिक क्षमता इतनी है कि वह परमाणु संरचना समझ सके। दूसरी बात कि यदि परमाणु संरचना सिखानी है, तो [ज़रूरी है कि] हम उन्हें ऐसे प्रयोग करके दिखा सकें कि वे विश्वास करें कि जो चीज़ें हमें ठोस लग रही हैं वे वास्तव में छोटे-छोटे परमाणुओं से मिलकर बनी हैं। ऐसे प्रयोग हैं जो उन्हें बता सकते हैं कि परमाणु संरचना का आधार है पर यहाँ दो-तीन तरह की कठिनाइयाँ आईं। एक तो इन प्रयोगों को समझने में काफी बौद्धिक विकास की ज़रूरत होती है। दूसरी चीज़ इन प्रयोगों के लिए उपकरण बहुत महँगे हैं। हम नहीं चाहते कि शिक्षक उनको किसी प्रकार बता दे कि मॉडल के आधार पर परमाणु संरचना का सबूत मिलता है। इन सब बातों को सोचकर यह निर्णय लिया कि ऐसी चीज़ हम कार्यक्रम में नहीं रखेंगे” (किशोर भारती बैठक, अक्टूबर 1983)।

हो.वि.शि.का. समूह के अनुसार, “अणु की अवधारणा से परिचित कराने के लिए जो दो प्रयोग करना ज़रूरी हैं, वे हैं – (क) रासायनिक संयोग के नियम

और (2) गतियों का ब्राउनियन नियम या तेल की झिल्ली के पतले होने की सीमा। पहला प्रयोग [पदार्थ की] किसी इकाई के अस्तित्व की माँग करता है जबकि दूसरा प्रयोग उस इकाई के साइज़ की सीमा निर्धारित कर देता है।... हम थोड़ा इन्तज़ार करना पसन्द करेंगे ताकि बच्चों में प्रयोग करने व निष्कर्ष निकालने के हुनर इतने विकसित हो जाएँ कि वे अन्य लोगों द्वारा किए गए प्रयोगों को सराह सकें” (साइंस टुडे, दिसम्बर 1977)।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, हो.वि.शि.का. समूह का तर्क था कि मिडिल स्कूल के बच्चों को इस तरह के अनुभव दे पाना असम्भव है। इन प्रयोगों के लिए जिस स्तर की कुशलता की ज़रूरत है उसकी अपेक्षा 11-13 वर्ष के बच्चों से नहीं की जा सकती।

अलबत्ता यहाँ एक बात कहना ज़रूरी है। वह यह कि पदार्थों की परमाणविक प्रकृति आज हमारे सोच का इतना अभिन्न अंग है कि शायद किसी के लिए पदार्थ की सतत प्रकृति (continuous nature) को समझा पाना बहुत मुश्किल होगा। इसलिए ज़्यादा ज़रूरी सवाल यह है कि क्या मिडिल स्कूल के बच्चे रासायनिक संयोग के नियमों का विश्लेषण करते हुए परमाणु की बात को सीख पाएँगे। यानी बात सिर्फ प्रयोगों की नहीं है, बात इस तरह के प्रयोगों के विश्लेषण के लिए ज़रूरी तैयारी की भी है।

हो.वि.शि.का. समूह का दूसरा तर्क यह था कि परमाणु, संकेत, सूत्र और समीकरण वगैरह सीखने के लिए ज़रूरी है कि बच्चे विभिन्न रूपों में रासायनिक परिघटनाओं से परिचित हो जाएँ। यानी वे तरह-तरह के पदार्थों के रासायनिक गुणों को परखें और इनके आधार पर पदार्थों का समूहीकरण करें, रासायनिक क्रियाएँ करके देखें, उन्हें प्रभावित करने वाले कारकों को समझें और कुछ हद तक रासायनिक क्रियाओं का मात्रात्मक अध्ययन करें। इसके बाद परमाणु मॉडल की बात की जाए तो ज़्यादा सार्थक होगी। यह लगभग “आकाश की ओर” अध्याय वाली स्थिति है – आप परमाणु को स्वीकार करते हैं क्योंकि वह रासायनिक निष्कर्षों की सरल व्याख्या प्रदान करता है।

एक बात यह भी है कि आधुनिक रसायन शास्त्र में परमाणु मात्र एक कण नहीं है – यह पदार्थों के आपसी व्यवहार की एक इकाई है। ये सारी बातें

जश्न-ए-तालीम

समझने के लिए बच्चों की काफी तैयारी होनी चाहिए – आँकड़ों को समझना, आकड़ों में पैटर्न देख पाना, जटिल तर्कों को समझ पाना वगैरह। आम तौर पर पाठ्य पुस्तकों में परमाणु की बात इस अर्थ में की जाती है कि यदि किसी पदार्थ के टुकड़े करते जाएँ तो एक स्थिति ऐसी आएगी जब उसके और टुकड़े करना असम्भव हो जाएगा। यह जो सबसे छोटा कण है, जिसमें पदार्थ के सारे गुण पाए जाते हैं, परमाणु है। मगर इस प्रस्तुतीकरण के कारण बच्चों में परमाणु को लेकर कई भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं। जैसे बच्चे यह मानते हैं कि धातुओं के परमाणु ठोस होते हैं और वे विद्युत के चालक होते हैं। परमाणु की आधुनिक अवधारणा इस तर्क पर नहीं टिकी है।

इस सम्बन्ध में तीसरा तर्क थोड़ा घुमावदार है। 1980 के दशक में कक्षा 9 की प्रचलित पाठ्य पुस्तक के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट सामने आती है कि वहाँ अणु-परमाणु की बात एकदम नए सिरे से शुरू की जाती है – यानी वहाँ बच्चों में किसी पूर्व ज्ञान को मानकर शुरुआत नहीं की जाती। तो यदि कक्षा 6-8 में इस विषय को छोड़ दिया जाता है तो बच्चों को कोई खास नुकसान नहीं होगा और इसकी जगह उन्हें कुछ अन्य चीज़ें पढ़ाई जा सकती हैं। इस बात को *बाल वैज्ञानिक* कक्षा 8 (1981) में बच्चों को सम्बोधित सवालीराम के खत में इस तरह कहा गया था:

तुम जानते हो कि तुम्हारी इस किताब में कहीं भी रासायनिक सूत्र व परमाणु संरचना का ज़िक्र नहीं है। तुमने शायद यह भी सुना होगा कि विज्ञान की पुरानी पुस्तकों में ये दोनों विषय शामिल थे। तुम्हें एक बात और बताऊँ। हमें हायर सेकण्डरी के कई शिक्षकों ने बताया है कि पहले नवीं कक्षा में आने वाले अधिकतर विद्यार्थियों को इन दोनों विषयों का ज्ञान लगभग शून्य होता था, हालाँकि उन्होंने पुरानी पुस्तक में ये दोनों विषय पढ़े होते थे। इसीलिए नवीं कक्षा में इन विषयों को भी दोबारा पढ़ाना होता था। वैसे भी ये विषय नवीं कक्षा के पाठ्यक्रम का अंग हैं। फिर मिडिल स्कूल में इन पर समय क्यों लगाया जाए? अतः हमने इन विषयों की जगह ऐसे विषय तुम्हारी इन किताबों में जोड़े हैं जो विज्ञान सीखने के लिए ज़रूरी हैं पर पहले न तो इन्हें मिडिल स्कूल में पढ़ाया जाता था और न ही हायर सेकण्डरी में।

सवालीराम के खत में जो यह लिखा गया था कि “हमें हायर सेकण्डरी के

कई शिक्षकों ने बताया है...” वह शिक्षकों से अनौपचारिक चर्चाओं पर आधारित नहीं था बल्कि 1975 में हायर सेकण्डरी स्कूलों के शिक्षकों व प्राचार्यों के साथ की गई एक बैठक से उभरी बात थी। उस बैठक में यह समझने की कोशिश की गई थी कि हो.वि.शि.का. से निकले बच्चों और अन्य स्कूलों के बच्चों के बीच क्या फर्क है।

हो.वि.शि.का. समूह का यह तर्क जैसा भी हो, इस सम्बन्ध में यहाँ एक बात ज़रूर उठाई जानी चाहिए। समूह का यह दावा ज़रूर था कि हमने “परमाणु संरचना और रासायनिक सूत्रों की बात नहीं की क्योंकि हमें बहुत शक है कि इस उम्र में बच्चे की मानसिक क्षमता इतनी है कि वह परमाणु संरचना समझ सके,” मगर समूह द्वारा इस सन्दर्भ में कोई व्यवस्थित अध्ययन किया गया हो ऐसा नहीं लगता। इस तरह का कोई अध्ययन किया गया होता तो शायद शिक्षकों के साथ इस विमर्श को कहीं अधिक गहराई से किया जा सकता था और इससे पाठ्यक्रम निर्माण व विषय-वस्तु के चयन की प्रक्रिया में उनकी भागीदारी एक अलग स्तर पर ले जाई जा सकती थी। सिर्फ 1990 के दशक में एक सीमित अध्ययन कक्षा 9 के बच्चों के साथ किया गया था जिससे पता चला था कि इन अवधारणाओं को लेकर उनकी समझ गड़बड़ है और अन्य बातों के अलावा यह इस बात का परिणाम लगता है कि इतनी सूक्ष्म चीज़ों को समझने में स्वाभाविक दिक्कतें हैं।

दूसरी बात यह है कि जब कोई कार्यक्रम मुख्यधारा के साथ मिलकर चलना चाहता है तो उस पर कई दबाव पड़ते हैं। इसे एक संवाद भी कह सकते हैं। नवाचार में एक उद्देश्य यह भी शामिल है कि ऐसे मुद्दों पर एक बहस चले, वर्तमान तौर-तरीकों पर सवाल खड़े हों और अधिक से अधिक लोग इस बहस में शामिल हों। इस प्रक्रिया में कई समझौते भी करने पड़ते हैं।

असल में धीरे-धीरे हो.वि.शि.का. समूह इस दबाव को महसूस करने लगा था और शायद कहीं अन्दर ही अन्दर एक धारा यह भी उभर रही थी कि “अणु-परमाणु” पढ़ाया जा सकता है और मिडिल स्तर पर पढ़ाया जा सकता है। फिर भी हो.वि.शि.का. में दूसरी धारा ही बलवती थी कि कक्षा

जश्न-ए-तालीम

6-8 में इसे न तो पढ़ाया जा सकता है, न ही पढ़ाना ज़रूरी है। इस सम्बन्ध में एक विचार यह भी उभर रहा था कि बच्चों को कुछ रासायनिक अनुभव दिए जाएँ जिनसे उन्हें आगे चलकर अणु-परमाणु सीखने में मदद मिले, जैसे गैसों का व्यवहार, अवस्था परिवर्तन, अम्ल-क्षार के अनुमापन वगैरह।

शिक्षकों व अन्य सम्बन्धित लोगों के साथ इस मुद्दे पर संवाद जारी था। यह तसल्ली का विषय है कि पालकों के साथ हुए खुले सम्मेलनों में अणु व परमाणु की बारीकियों पर चर्चा होती थी, बच्चों की अमूर्तीकरण की क्षमताओं पर चर्चा होती थी, सन्तोष-असन्तोष उभरते थे। मगर इसी दौरान समूह के कुछ सदस्यों ने परमाणु सिखाने के लिए एक अध्याय तैयार करना शुरू कर दिया था।

1987-88 के आसपास “अणु-परमाणु की कहानी” के नाम से तैयार किए गए इस अध्याय में बातचीत की शुरुआत प्राचीन युनानी दार्शनिक डेमोक्रेट्स के विचारों से होती है। वही दिमागी प्रयोग यानी किसी फल के छोटे-छोटे टुकड़े करके यह सोचना कि कितना छोटा टुकड़ा हासिल किया जा सकता है और क्या उसमें फल के गुण रहेंगे। इस चर्चा के बाद स्याही को पानी में घोलकर तनु करते जाने का प्रयोग था जब तक कि रंग गायब न हो जाए। फिर बच्चों से कल्पना करने को कहा गया था कि क्या ऐसी भी चीज़ें हो सकती हैं जो सूक्ष्मदर्शी से भी दिखाई न पड़ें। आगे डी.एन.ए. अणु का 50 लाख गुना आवर्धित चित्र दिया गया था। फिर अचानक अणु की परिभाषा दी गई थी: “पदार्थ का वह छोटे से छोटा कण जिसमें पदार्थ के गुणधर्म मौजूद हों, उसे पदार्थ का अणु कहते हैं। मतलब यदि अणु के भी टुकड़े करें तो उसमें पदार्थ के गुणधर्म नहीं मिलेंगे।” यहाँ दो बातें कहना ज़रूरी है। पहली बात यह है कि असल में तत्व, यौगिक व मिश्रण में भेद किए बिना अणु की परिभाषा समझाना मुश्किल है। और दूसरी बात यह है कि विशाल अणु (macro-molecule – DNA) का उदाहरण इस सन्दर्भ में उचित नहीं है क्योंकि ऐसे अणुओं के दो टुकड़े कर देने पर भी गुणधर्म बरकरार रहते हैं – ये बहुलक हैं और कई मायनों में मॉड्यूलर (modular) हैं।

सवाल आगे की कक्षाओं से जोड़ने वाली कड़ियों का

यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि इस अध्याय को इस तर्ज़ पर शुरू किया गया था कि एक ऐतिहासिक गाथा सुनाई जाने वाली है, लेकिन उसे अणु की परिभाषा के बाद निभाया नहीं गया। अणु के फौरन बाद परमाणु को इस रूप में परिभाषित किया गया है: “अणु भी टुकड़ों से मिलकर बने हैं। हर पदार्थ का अणु किसी एक या एक से अधिक प्रकार के परमाणुओं से मिलकर बना होता है।” यह सही नहीं है – हर पदार्थ के अणु नहीं होते।

बहरहाल, इसके बाद संकेत, संकेत लिखने के नियम, सूत्र, सूत्र व संकेत में अन्तर, सूत्र का व्याकरण, रासायनिक समीकरण व सन्तुलित समीकरण वगैरह बताए गए हैं।

इस अध्याय को शिक्षकों के साथ करके देखा गया था मगर यह चला नहीं, हालाँकि अध्याय पढ़ने के बाद वे पूछे गए सवालों के जवाब सही-सही दे देते थे। इस अध्याय की सबसे भारी दिक्कत यह थी कि इसमें सोचने व करने को कुछ नहीं था, सिवाय पानी में स्याही घोलने के।

दूसरी बात यह थी कि पारम्परिक पाठ्य पुस्तकों की तरह इसमें भी यही लगता था कि अणु व परमाणु का होना, रासायनिक सूत्र, समीकरण वगैरह हमें किसी ने दे दिए हैं। यह आभास भी नहीं मिलता था कि इन सूत्रों व समीकरणों का पदार्थ की वास्तविकता से कुछ सम्बन्ध है या वास्तविक पदार्थों का अध्ययन व विश्लेषण करके इन्हें ज्ञात किया जा सकता है।

अन्त में इस अध्याय को एक नए परिप्रेक्ष्य में रखने की कोशिश की गई थी:

इस पाठ में ऐसी बहुत सी बातें की गईं, जिन्हें प्रयोग द्वारा नहीं समझा जा सकता। अब ऑक्सीजन को O क्यों लिखा जाए, यह तो केवल एक भाषा की बात हुई ना? फिर अणु की तस्वीर तुमने देखी, वह तो तुम्हें माननी पड़ गई, तुमने खुद तो नहीं बनाई वह तस्वीर!

इस तरह की कई बातों और सिद्धान्तों को हम अपनी प्रयोगशाला में प्रमाणित नहीं कर सकते, पर कई लोगों ने अलग-अलग प्रयोगों और उनके निष्कर्षों के आधार पर इन बातों को माना है। इसीलिए हम भी इन्हें मानने को तैयार हैं। तुम क्या सोचते हो इस बारे में?

इस अन्तिम चीज़ के बारे में कोई प्रतिक्रिया उपलब्ध नहीं है मगर यह थोड़ा

जश्न-ए-तालीम

आपत्तिजनक था। आखिर अन्य लोगों के प्रयोगों व परिणामों को स्वीकार करने में इतनी शर्त तो होनी ही चाहिए कि वे प्रयोग, निष्कर्ष व तर्क हमारे सामने रखे जाएँ।

इस अध्याय के बाद अणु-परमाणु की बात एक बार ठण्डे बस्ते में चली गई। लम्बे समय तक समूह में किसी ने इस पर हाथ नहीं आजमाया। मगर मॉग तो उठती रही। लिहाज़ा अणु-परमाणु अध्यापन की बहस को एक ज़्यादा सार्थक स्तर पर ले जाने के लिए एक नया शैक्षणिक प्रयास किया गया। इस नई पहल का मकसद यह था कि शिक्षकों के साथ इन अवधारणाओं की विस्तृत चर्चा की जाए ताकि वे एक जानकारीशुदा बहस में सहभागी हो सकें। शिक्षकों के साथ संगम केन्द्रों पर होने वाली मासिक गोष्ठियों को इसका मंच बनाया गया। लगातार पाँच मासिक गोष्ठियों में अणु-परमाणु की अवधारणा के विकास का विस्तार में अध्ययन किया गया।

इस प्रक्रिया में पूरे इत्मीनान से रासायनिक क्रियाओं के नियम, उनके आधार पर डाल्टन के परमाणु सिद्धान्त का प्रतिपादन, डाल्टन के सिद्धान्त का प्रायोगिक सत्यापन (गुणित अनुपात का नियम), परमाणु भार, डाल्टन-गैल्यूसेक-एवोगैड्रो की बहस, ड्यूलॉन्ग-पेटिट का नियम वगैरह पर चर्चा करते हुए बातें स्पष्ट हुईं। इसके साथ फ्लॉजिस्टन की बात जोड़ने से आधुनिक रसायन शास्त्र की बुनियाद भी उभरकर आई। पाँच माह तक चले इस सिलसिले में यह स्पष्ट हुआ कि हम परमाणु व अणु के अस्तित्व को क्यों मानते हैं, कि परमाणु भार, सूत्र आदि आसमान से नहीं टपके हैं। इस ज़ुखला में कोई प्रयोग नहीं किया गया था। ज़ुखला पूरी होने के बाद कई शिक्षकों ने महसूस किया कि ये चीज़ें मिडिल स्कूल के बच्चों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। उन्हें यह भी स्पष्ट हुआ कि जिस ढंग से आम तौर पर अणु-परमाणु पढ़ाया जाता है, वह समझ की दृष्टि से नहीं बल्कि मात्र जानकारी की दृष्टि से होता है।

इसके अलावा एक प्रयास और किया गया था। एक समय पर हो.वि.शि.का. समूह ने निर्णय लिया था कि शिक्षकों में से जो स्रोत दल तैयार हुआ है, जो कार्यक्रम में प्रशिक्षण व अन्य ज़िम्मेदारियाँ उठा रहा है, उसका और सघन प्रशिक्षण करने की ज़रूरत है ताकि वह ये ज़िम्मेदारियाँ ज़्यादा

सक्षमता से निभा सके। राज्य स्तरीय प्रसार की सम्भावना को देखते हुए भी यह ज़रूरी लग रहा था। तो इस स्रोत दल के साथ विशेष प्रशिक्षण शिविर आयोजित किए गए। ऐसे दो प्रशिक्षण शिविरों में अणु-परमाणु का एक सात-दिवसीय कोर्स किया गया था। यह कोर्स पूरी तरह प्रयोग आधारित था और इसमें काफी गहराई से इन बातों को समझने का प्रयास किया गया था। इस कोर्स में गैसों बनाकर उनके घनत्व निकालना, गैसों की परस्पर क्रियाओं का अध्ययन आदि के बाद एवोगैड्रो संख्या निकालने तक के प्रयोग किए गए थे।

मगर कई शिक्षकों व अधिकांश पालकों को लगता रहा कि *बाल वैज्ञानिक* में इस अवधारणा के बगैर बात अधूरी रहती है। खुद हो.वि.शि.का. समूह में कुछ लोगों का मत था कि यदि इस कारण से पूरे कार्यक्रम का विरोध हो रहा है तो इसे शामिल कर लेना चाहिए। राज्य शैक्षिक अनुसन्धान व प्रशिक्षण परिषद की पाठ्य पुस्तक सम्बन्धी स्थायी समिति ने भी इसे शामिल करने की सलाह दी थी।

तो एक बार फिर कोशिश की गई। और एक अध्याय *बाल वैज्ञानिक* के तीसरे संस्करण की कक्षा 8 में जोड़ दिया गया। खुशकिस्मती से या बदकिस्मती से यह संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ। इस अध्याय का नाम था – “पदार्थों की संरचना और संकेतों की भाषा”।

इस अध्याय की शुरुआत इस बात से होती है कि शुद्ध पदार्थ क्या होते हैं और इस आधार पर तत्व, यौगिक और मिश्रण अलग-अलग किए जाते हैं। तब तत्व व यौगिक को कणों के नज़रिए से देखा जाता है। फिर संकेत व सूत्र मात्र एक भाषा के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। यह अध्याय भी मूलतः रासायनिक भाषा के व्याकरण का प्रारम्भिक परिचय है। इसमें भी कहीं परमाणु व अणु की अवधारणा को स्पष्ट करने की कोशिश नहीं की गई है। रासायनिक समीकरण को छोड़ दिया गया है। समझौता तो आखिर समझौता ही है।

दिलचस्प बात यह है कि हो.वि.शि.का. समूह ने तीस साल की लड़ाई के बाद समझौते के रूप में इस विषय को *बाल वैज्ञानिक* में स्थान देने का निर्णय लिया। और दूसरी ओर अब (2005) एन.सी.ई.आर.टी. ने अन्ततः

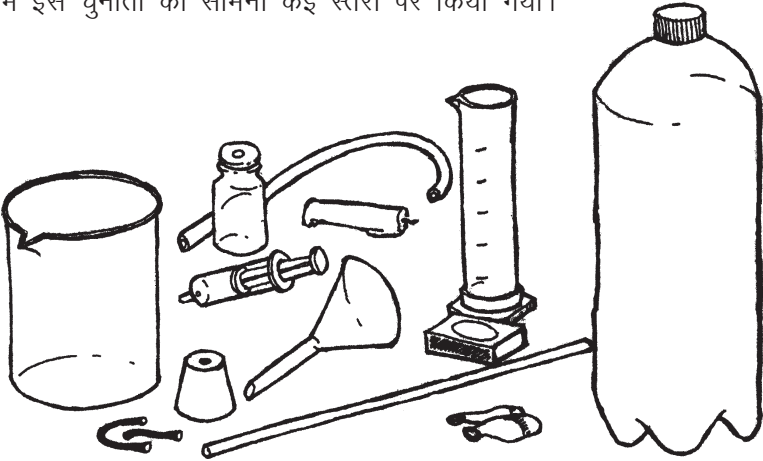
जश्न-ए-तालीम

स्वीकार कर लिया है कि यह विषय मिडिल स्कूल पाठ्यक्रम का अंग नहीं होना चाहिए।

वैसे आज भी हो.वि.शि.का. समूह का मत है कि ये चीज़ें किसी भी सार्थक रूप में सिखाने के लिए ज़रूरी है कि बच्चे कई रासायनिक क्रियाओं का मात्रात्मक अध्ययन कर लें, उनमें गणितीय सम्बन्धों को देख लें। इसके अलावा गणितीय हुनर भी इतने विकसित होने चाहिए कि वे सरल दशमलव की गणनाएँ सहजता से कर पाएँ। अन्यथा होता यह है कि वे गणनाओं की भूलभुलैया में फँस जाते हैं और अवधारणा तक पहुँच ही नहीं पाते। अणु-परमाणु व अन्य सम्बन्धित चीज़ें पदार्थों की संरचना को समझने का एक मॉडल है। कोई भी मॉडल तभी सार्थक होता है जब यथार्थ से उसकी कड़ी बनी रहे। तभी आप उस मॉडल का उपयोग यथार्थ को समझने के लिए कर सकते हैं। यदि यह समझ में न आए कि सूत्र व समीकरण वास्तविक पदार्थों व क्रियाओं के द्योतक हैं, तो वे अबूझ ही बने रहेंगे। इसलिए इन तक पहुँचने का रास्ता रासायनिक अनुभवों से होकर ही जाता है। एन.सी.ई.आर.टी. के पाठ्यक्रम में पहले ये चीज़ें कक्षा 7 में होती थीं और अब कक्षा 9 में हैं। दोनों में ही ये अत्यन्त अबूझ व रहस्यमय तरीके से शामिल की गई हैं। बच्चों की समझ की दृष्टि से इनका महत्व सन्दिग्ध है।

सवा रुपए का विज्ञान: किट का विकास

जब किशोर भारती और फ्रेंड्स रूरल सेंटर ने होशंगाबाद के 16 स्कूलों में विज्ञान शिक्षा के प्रयोग करने की अनुमति माँगी थी, तब एन.सी.ई.आर.टी. के फील्ड एडवाइज़र ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा था, “भारत जैसे गरीब देश में ऐसे विज्ञान नहीं पढ़ाया जा सकता। हमारे देश में संसाधन नहीं हैं, पैसे नहीं हैं। यह जो विज्ञान है सम्पन्न देशों का विज्ञान है।” इसका अर्थ यह है कि किसी भी प्रयोग आधारित विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के लिए यह एक प्रमुख चुनौती है कि आप जो भी प्रयोग दें उन्हें बच्चे कर सकें और उनके लिए आवश्यक सामग्री या तो स्थानीय स्तर पर उपलब्ध हो या बाहर से पहुँचाने का इन्तज़ाम किया जाए। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में इस चुनौती का सामना कई स्तरों पर किया गया।



जश्न-ए-तालीम

विज्ञान किट की बात सुनते ही लोगों के मन में जो छवि उभरती है वह चमचमाते काँच के उपकरणों, टिमटिमाती बतियों वाले डिजिटल उपकरणों वगैरह की होती है। सबसे पहला कदम तो यह था कि इस छवि को बदला जाए क्योंकि विज्ञान के नफीस प्रयोग करने के लिए हमेशा महँगे उपकरणों की ज़रूरत नहीं पड़ती। इस बात को स्थापित करने की पुरज़ोर कोशिश हो.वि.शि.का. ने की थी, हालाँकि इस कार्यक्रम के लिए किट की प्रकृति तो बम्बई नगर निगम के कार्यक्रम के दौरान ही तय हो गई थी। यशपाल के शब्दों में, बम्बई नगर निगम स्कूलों के शिक्षकों का “पहला शिक्षक उन्मुखीकरण शिविर 1970 के शुरू में आयोजित हुआ। सम्भवतः अधिकांश शिक्षकों को पहली बार उपकरणों से छेड़छाड़ करने का मौका मिला था, हालाँकि उन्हें यह देखकर हैरत हुई थी कि हमने काफी मामूली किस्म की सामग्री वहाँ रखी थी।”

यानी यह सिद्धान्त बन चुका था कि प्रयोग ऐसी सामग्री से किए जाएँ जो बेगानापन पैदा न करे, जिसका उपयोग करते डर न लगे। यह बात खास तौर से तब ज़रूरी हो जाती है जब सारे प्रयोग बच्चों को खुद करने हैं।

“लाल वैज्ञानिक” के हिसाब से जो किट दिया गया था उसमें कई सारी चीज़ें ऐसी थीं जिन्हें “प्रयोगशाला टाइप” कहा जा सकता है, जैसे ब्यूरेट, पिपेट, गोल पेन्डे वाला फ्लास्क वगैरह। उस समय से शुरू करके किट का लगातार विकास होता गया और इस विकास में शिक्षकों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया।

शुरू से ही तय किया गया था कि हो.वि.शि.का. की कक्षा में बच्चे 4-4 की टोलियों में काम करेंगे। इसलिए किट सामग्री की ज़रूरत की गणना करते वक्त हमेशा टोली को इकाई माना जाता था। वैसे यह नहीं कहा जा सकता कि टोली में काम करने की व्यवस्था सिर्फ किट सामग्री की ज़रूरत को कम करने के लिए की गई थी। जैसा कि पहले भी कहा गया है, टोली के गठन के पीछे कई अन्य विचार भी काम कर रहे थे। इसका मतलब यह है कि 40 बच्चों की किसी कक्षा में 10 टोलियाँ बनेंगी और सामग्री 10 टोलियों के लिए दी जाएगी। बताते हैं कि शुरुआती दौर में तीनों कक्षाओं (120 बच्चे,

30 टोलियाँ) के लिए किट की कीमत करीब 1200 रुपए थी। 1978 में ज़िला स्तरीय प्रसार के समय प्रति स्कूल किट की कीमत 800 रुपए और दुलाई का खर्च 200 रुपए था। इन कीमतों में अलमारी का खर्च शामिल नहीं है। इन वर्षों में किट की कीमत कम होने के दो प्रमुख कारण थे। एक तो कई चीज़ों को किट में से हटा दिया गया था क्योंकि उनके सस्ते विकल्प खोज लिए गए थे। दूसरा कारण यह था कि शुरुआती दौर में सामान किशोर भारती और फ्रेंड्स रूरल सेंटर द्वारा खरीदा जाता था जबकि बाद में इसे सरकारी प्रक्रिया से खरीदा जाने लगा जिसमें न्यूनतम निविदा का नियम लागू होता है। वैसे भी बड़े पैमाने पर खरीदने से कीमत में थोड़ी गिरावट तो आती ही है।

उस समय एक गणना की गई थी जिससे पता चला था कि पूरे प्रदेश (तत्कालीन मध्य प्रदेश) में ऐसा किट उपलब्ध कराने की लागत 19 करोड़ रुपए होगी। इसमें अलमारी भी शामिल है।

लिहाज़ा महँगेपन के तर्क को तो प्रारम्भिक वर्षों में ही ध्वस्त कर दिया गया था।

इस किट के बारे में एक बात और उल्लेखनीय है। इसमें शुरु से ही मानकर चला गया था कि यह एकमुश्त दिया जाने वाला किट नहीं है। तीनों कक्षाओं के लिए दिए गए किट में लगभग 125 चीज़ें थीं। इनमें से कई चीज़ें (खासकर रसायन) ऐसी हैं जो प्रयोग करने पर खर्च होंगी। इसके अलावा कई चीज़ें ऐसी हैं जिनमें टूट-फूट होगी। चोरी होना या अन्य कारणों से चीज़ों का नष्ट होना भी टाला नहीं जा सकता। यदि इस सामान की क्षतिपूर्ति का इन्तज़ाम नहीं होता तो जल्दी ही यह व्यवस्था चरमरा जाएगी। इसलिए शुरु से ही हो.वि.शि.का. में वार्षिक क्षतिपूर्ति का प्रावधान रखा गया था। बताते हैं कि प्रति छात्र क्षतिपूर्ति की लागत सवा रुपए थी। वैसे यदि यह खर्च थोड़ा अधिक भी हो, तो अच्छी विज्ञान शिक्षा के लिए ज़रूरी मानकर इसका इन्तज़ाम किया जाना चाहिए।

1972-77 के बीच कार्यक्रम का संचालन पूरी तरह दो स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था। किट उपलब्ध कराना व क्षतिपूर्ति भी उनकी ही ज़िम्मेदारी

जश्न-ए-तालीम

थी। उस समय व्यवस्था आसान थी। प्रशिक्षण के बाद शिक्षकों को किट सामग्री सौंप दी जाती थी। इसके बाद स्रोत दल द्वारा किए जाने वाले अनुवर्तन के दौरान शिक्षक अपनी ज़रूरतें उन्हें बता देते थे और अगले अनुवर्तन के समय यह सामग्री पहुँचा दी जाती थी। सामग्री हमेशा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहती थी।

किट के विषय में एक बात और है जिसका ज़िक्र लाज़मी है। ज़िला स्तरीय प्रसार के समय तीनों बाल वैज्ञानिकों में कुल 59 अध्याय थे। इनमें से 12 अध्याय ऐसे थे जिनमें किसी किट सामग्री की ज़रूरत नहीं थी। 14 अध्याय ऐसे थे जिनमें सारी सामग्री स्थानीय स्तर पर जुटाई जा सकती थी। यानी बाहर से किट प्रदाय का सवाल करीब 50 प्रतिशत अध्यायों के लिए ही था। इसी गणना को एक अलग तरह से करके देखा गया था कि *बाल वैज्ञानिक* में एक-तिहाई अध्याय ही ऐसे थे जिनमें ऐसी किट सामग्री की ज़रूरत थी जो स्थानीय बाज़ारों में नहीं मिलती। कई अध्यायों में ऐसी थोड़ी-सी सामग्री लगती है। इसका मतलब है कि मिडिल स्कूल स्तर पर प्रयोग आधारित विज्ञान शिक्षण में किट का इन्तज़ाम कोई हौवा नहीं है।

फिर भी इसका इन्तज़ाम एक मुश्किल काम रहा है। कई बार स्कूलों में ऐसी परिस्थिति निर्मित हुई कि किट के अभाव में शिक्षण कार्य प्रभावित हुआ। 1982-85 में तो हालत यह हो गई थी कि शिक्षकों के साथ संगम केन्द्र स्तर पर होने वाली मासिक गोष्ठियों में किट का अभाव ही प्रमुख मुद्दा रहता था। ज़िला स्तरीय प्रसार के समय हो.वि.शि.का. स्कूलों में किट प्रदाय की ज़िम्मेदारी एन.सी.ई.आर.टी. ने ली थी। क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के तत्वावधान में पहले तीन वर्षों (1978-80) तक किट का वितरण सम्भागीय शिक्षा अधीक्षक के माध्यम से हुआ। उस समय इसे खरीदने व वितरित करने के ढाँचे विकसित किए गए। मगर इसके बाद क्षतिपूर्ति पर गाड़ी अटक गई। क्षतिपूर्ति का काम मध्यप्रदेश शासन को करना था। मध्यप्रदेश शासन को धकेलकर यह काम करवाना काफी श्रमसाध्य साबित हुआ, सिर्फ धन राशि के आवंटन की दृष्टि से नहीं अपितु प्रक्रियाओं की दृष्टि से भी।

इस सन्दर्भ में कुछ महत्वपूर्ण प्रक्रियाएँ स्थापित की गईं। एक तो किट को

तीन भागों में बाँटा गया। एक भाग वह था जो स्थानीय स्तर पर जुटाया जा सकता था जिसे खरीदने की ज़रूरत नहीं थी। दूसरा भाग वह था जो स्थानीय स्तर पर उपलब्ध था और स्कूलों को इसे खरीदने का अधिकार दिया जा सकता था। इसके बाद 20-25 चीज़ें ऐसी बचती थीं जिनकी खरीद बाहर से करके वितरित करने की ज़रूरत पड़ती थी। इसमें शासन ने एक महत्वपूर्ण कदम यह उठाया कि मिडिल स्कूलों को यह अधिकार दिया कि वे अपने गतिविधि कोश (ए.एफ.) में से विज्ञान किट सामग्री खरीद सकते थे। आगे चलकर पूरे प्रदेश के मिडिल स्कूलों में प्रति छात्र 50 पैसे विज्ञान शुल्क भी लागू किया गया और इसे खर्च करने का अधिकार स्कूल को दिया गया।

एक पैरा में लिखी यह प्रक्रिया लागू करवाने के लिए 10-15 सालों तक अथक परिश्रम करना पड़ा था। स्कूलों में किट रखने के लिए अलमारी का इन्तज़ाम भी टेढ़ी खीर साबित हुआ। मगर ये सारी मुश्किलें सिर्फ पैसे की कमी का परिणाम नहीं थीं।

इस सन्दर्भ में कई विकल्पों पर विचार किया गया था। एक विचार यह था कि किट सम्बन्धी कुछ समस्याओं का हल तभी निकल सकता है जब सम्बन्धित अध्याय का अवधारणात्मक ढाँचा बदल दिया जाए। जैसे, शरीर रचना के अध्ययन में विच्छेदित चूहे का अवलोकन एक महत्वपूर्ण गतिविधि है। विच्छेदित चूहे पहुँचाना दिक्कत का काम है। मगर इसे किट से तभी हटाया जा सकता है जब अध्याय में भारी फेरबदल किए जाएँ। इसी प्रकार से प्रकाश संश्लेषण के अध्ययन हेतु पत्तियों का हरा रंग हटाने के लिए अल्कोहल लगता है। इस प्रयोग को हटा दें तो समस्या हल हो जाएगी। मगर यह स्वीकार्य नहीं था।

इस बारे में भी विचार हुआ था कि क्या किट प्रदाय की एक समान्तर व्यवस्था खड़ी की जाए। इस मामले में कुछ पहल की गई थी जिसका सकारात्मक परिणाम भी मिला था। विज्ञान शुल्क लागू हो जाने के बाद स्कूलों के पास किट क्षतिपूर्ति के लिए पर्याप्त धन राशि उपलब्ध हो गई थी और वे किट सामग्री खरीदने को इच्छुक भी थे। मगर कुछ सामान ऐसा था जो स्थानीय बाज़ारों में नहीं मिल पाता था और यदि एक-एक स्कूल जाकर यह सामग्री भोपाल या इन्दौर

जश्न-ए-तालीम

के बाज़ार से खरीदते तो वह काफी महँगी पड़ती। इसके अलावा एक समस्या यह भी थी कि कुछ चीज़ें (जैसे रसायन) एक न्यूनतम मात्रा से कम नहीं खरीदी जा सकतीं जबकि एक-एक स्कूल को इनकी ज़रूरत अल्प मात्रा में ही होती है। इन दोनों दिक्कों को देखते हुए एकलव्य ने तय किया कि वह अपनी ओर से यह सामग्री खरीदकर रखेगा और ज़रूरत के अनुसार स्कूल इसे खरीद सकते हैं। यह व्यवस्था काफी कारगर साबित हुई थी और स्कूलों ने इसका पूरा लाभ उठाया था।

मगर फिर भी शासन पर दबाव डालकर किट की आपूर्ति करवाना किट क्षतिपूर्ति का एक महत्वपूर्ण पक्ष था। 30 सालों के इतिहास में किट क्षतिपूर्ति के लिए किए गए प्रयासों पर एक पूरी किताब लिखी जा सकती है और शायद लिखी भी जानी चाहिए। मगर इसका एक दूसरा पक्ष भी है जो शिक्षकों व बच्चों के नवाचारी रवैये से जुड़ा है। जब किट की क्षतिपूर्ति करवाने की जद्दोजहद चल रही थी, उस दौरान किट का विकास भी जारी रहा और अब हम उसी प्रक्रिया पर ध्यान देंगे।

हो.वि.शि.का. में भागीदार शिक्षकों में यह बात तो जड़ पकड़ चुकी थी कि विज्ञान के अधिकांश नफीस प्रयोग भी काफी साधारण सामग्री से हो जाते हैं। हाँ, लेंस, सूक्ष्मदर्शी, चुम्बक, दिक्सूचक, उफन नलियों जैसी कुछ विशिष्ट चीज़ें ज़रूरी होती हैं। बाद के वर्षों में शिक्षकों व छात्रों ने कई चीज़ों के विकल्प खोज लिए थे। और इनमें से कई विकल्प आज *बाल वैज्ञानिक* के अंग हैं। विकल्प खोजने के दो पहलू हैं। एक तो यह है कि किसी प्रयोग में किसी चीज़ की जगह किसी अन्य चीज़ का उपयोग कर लेना और दूसरा यह है कि पूरे प्रयोग के डिज़ाइन को इस तरह बदलना कि उन चीज़ों की ज़रूरत ही न पड़े। दोनों प्रक्रियाओं में प्रयोग के उद्देश्य की समझ और जुगाड़ करने की प्रवृत्ति की झलक मिलती है। जो विकल्प खोजे गए वे या तो अपेक्षाकृत सस्ते थे या स्थानीय रूप से उपलब्ध थे।

एक उदाहरण बार-बार सामने आता है। फूलों के विच्छेदन में सुई की ज़रूरत पड़ती थी। एक बच्चे ने देखा कि बबूल का काँटा भी बढ़िया काम करता है। जल्दी ही यह बात चारों ओर फैल गई और धीरे-धीरे *बाल वैज्ञानिक* में सुई का स्थान बबूल के काँटे ने ले लिया। और सबसे बड़ी बात

तो यह रही कि बबूल का काँटा बेहतर साबित हुआ। आगे चलकर बबूल का काँटा कई जगहों पर प्रयुक्त होने लगा। वॉल्व ट्यूब के साथ जोड़कर इसका एक डिवाइडर भी बनाया गया।

इसी प्रकार का एक उदाहरण फिनाँपथेलीन का है। इसका उपयोग अम्ल-क्षार के सूचक के रूप में किया जाता है। कभी किसी शिक्षक को पता चला कि वैक्यूलक्स और पर्गॉलक्स जैसी जुलाब की गोलियों में शुद्ध फिनाँपथेलीन ही होता है। बस बन गया काम! बाद में औषधि विशेषज्ञों ने पाया कि फिनाँपथेलीन अच्छी दवा नहीं है और इस पर प्रतिबन्ध लग गया। मगर किसी अन्य शिक्षक को पता चला कि एलोपैथी में तो फिनाँपथेलीन पर प्रतिबन्ध लगा है किन्तु आयुर्वेदिक औषधि विरेचनी में फिनाँपथेलीन का उपयोग होता है और उस पर प्रतिबन्ध नहीं है। तो गाड़ी चल गई।

इसी प्रकार से कोशिका में केन्द्रक को देखने के लिए सेफ्रेनीन या मीथायलीन ब्लू रंजकों का उपयोग होता है। किसी प्रशिक्षण में शिक्षकों ने देखा कि साधारण लाल स्याही से भी केन्द्रक का अभिरंजन हो सकता है। इस तरह एक ऐसी वस्तु का विकल्प हाथ लगा जिसे उपलब्ध कराना कठिन होता था।

इस तरह के ढेरों उदाहरण मिलते हैं। एक समय पर ऐसे विकल्पों को लेकर हो.वि.शि.का. में एक पुस्तिका प्रकाशित की गई थी – “जब स्कूल में किट नहीं पहुँचा”। इसमें ऐसे कई उदाहरण बताए गए थे। परखनली की बजाय इंजेक्शन की शीशियाँ, डिलीवरी ट्यूब और कॉर्क की बजाय बॉल पेन की खाली रिफिल और वॉल्व ट्यूब और पता नहीं क्या-क्या।

किट में एक और तरह का नवाचार यह हुआ कि एक ही चीज़ से कई-कई काम किए जाते थे। इसका एक उदाहरण प्लास्टिक के घनाकार गुटकों का है। ये गुटके 1 घन से.मी. आयतन के होते थे और मूलतः इनका उपयोग आयतन की इकाई के रूप में किया जाता था। मगर किसी को लगा कि इनकी प्रत्येक सतह 1 वर्ग से.मी. की है और इनका उपयोग क्षेत्रफल की इकाई के रूप में सतहों को ढँकने के लिए भी किया जा सकता है। फिर कभी देखा गया कि इनका वज़न लगभग 1 ग्राम है, तो ये बॉट का काम देने लगे,

जश्न-ए-तालीम

और जब संयोग और सम्भाविता का अध्याय विकसित हुआ तो यही गुटके पाँसे बने।

इस तरह के नवाचारों के लिए जिस माहौल की ज़रूरत होती है, वह हो.वि.शि.का. ने उपलब्ध कराया था। ऐसा नहीं है कि ये शिक्षक पहले से जुगाडु नहीं थे। हुआ यह कि जब उनके जुगाडों को स्वीकृति व मान्यता मिली तो यह प्रेरणा का स्रोत बन गई।

इसी क्रम में माचिस से बने सूक्ष्मदर्शी का ज़िक्र मुनासिब है। *बाल वैज्ञानिक* के प्रथम संस्करण में माचिस के खोके से सूक्ष्मदर्शी बनाने की एक विधि दी गई थी। आज माचिस के सूक्ष्मदर्शी के कई मॉडल उपलब्ध हैं। दरअसल इस जुगाडु सूक्ष्मदर्शी का बुखार कुछ ऐसा चढ़ा कि एक शिक्षक बद्री प्रसाद मैथिल ने अनगिनत मॉडल बना-बनाकर एक किताब ही तैयार कर दी, जिसे एकलव्य ने प्रकाशित भी किया है। यह किताब है *अपना जुगाड़ी सूक्ष्मदर्शी*।

टूटी उफननली से हैण्डपम्प बनाना हो या विद्युत मोटर के डिज़ाइन में सुधार की बात हो, यह हो.वि.शि.का. समूह के लिए अत्यन्त सन्तोष का विषय है क्योंकि इसमें कार्यक्रम की सफलता का संकेत छिपा है।

शिक्षक निर्देशिका

जैसा कि पहले भी कहा गया है *बाल वैज्ञानिक* अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है। इसमें मूलतः प्रयोग करने के निर्देश दिए गए हैं और कुछ प्रश्न दिए गए हैं। ये प्रश्न इस तरह बनाए गए हैं कि प्रयोग के बाद ये उठेंगे ही, यानी उठने चाहिए। कुछ प्रश्न बच्चों का ध्यान प्रयोग के अवलोकनों की ओर आकर्षित करने के लिए हैं और कुछ इन अवलोकनों का विश्लेषण करने में मदद देने के लिए हैं। एक मायने में यदि एक अच्छा शिक्षक मौजूद हो, तो ये प्रश्न व प्रश्नों के आधार पर चलने वाली प्रक्रिया स्वतः चलेगी और बच्चे काफी कुछ सीख पाएँगे। और उस प्रक्रिया में एक बात यह भी होगी कि प्रश्नों की प्रकृति बच्चों व शिक्षक की आपसी समझ से निर्धारित होगी। यह तरीका कहीं ज़्यादा सार्थक हो सकता है। मगर कक्षा में शिक्षक यह स्वतःस्फूर्त भूमिका निभाने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। यह असमर्थता कई वजहों से हो सकती है। एक तो विषय-वस्तु की पूरी समझ न हो। दूसरा, प्रयोग करने के बाद की प्रक्रिया पर पकड़ कमज़ोर हो या आत्मविश्वास की कमी हो। प्रयोग वगैरह करने के हुनर की भी दिक्कत हो सकती है।

एक समस्या यह भी आती है कि आम तौर पर शिक्षकों को पूरे अध्याय का अवधारणात्मक ढाँचा स्पष्ट नहीं होता। एक-एक प्रयोग से उभरे प्रश्नों को तो वे हल करवा लेते हैं मगर इन सबको एक निष्कर्ष में गूँथना उनके लिए कठिन होता है। विभिन्न अध्यायों के परस्पर सम्बन्ध समझते हुए आगे बढ़ना तो और भी मुश्किल है। उस समय पढ़ाई जा रही अवधारणा की जो कड़ियाँ कई अन्य अवधारणाओं या परिघटनाओं से जुड़ी होती हैं, उनसे शिक्षक प्रायः अनभिज्ञ होते हैं।

जश्न-ए-तालीम

उन दिनों कुछ हद तक तो इन कमियों को तीन-तीन सप्ताह के सालाना प्रशिक्षण के दौरान सम्बोधित किया जाता था। मगर एक बार के इस प्रशिक्षण से बात नहीं बनती थी। इसलिए शिक्षक के साथ सतत अन्तर्क्रिया के लिए अनुवर्तन व मासिक गोष्ठियों की व्यवस्था बनाई गई थी। चाहे प्रशिक्षण हो या मासिक गोष्ठी, इनमें शिक्षक बहुत रुचि से भाग लेते थे मगर अन्त में उनके पास अपने नोट्स ही रह जाते थे। यानी पढ़ाते समय यदि कोई दिक्कत आए तो उनके पास कोई फौरी सन्दर्भ नहीं होता था।

शिक्षकों की तैयारी की इस कमी को पूरा करने के लिए शिक्षक निर्देशिका एक आवश्यक चीज़ थी। हो.वि.शि.का. में शिक्षक निर्देशिका तैयार करने व उसका उपयोग करने का अनुभव काफी मिला-जुला रहा है। शुरुआती दौर में जब अध्याय तैयार किए जा रहे थे और जब *बाल वैज्ञानिक* का पहला संस्करण संकलित किया जा रहा था, तब से ही शिक्षक निर्देशिकाएँ बनाने का काम भी शुरू हो गया था।

शिक्षक निर्देशिका को लेकर एक डर शुरू से ही व्याप्त रहा था। डर यह था कि कहीं ये शिक्षक निर्देशिकाएँ *बाल वैज्ञानिक* की कुंजी न बन जाएँ। यानी कहीं ऐसा न हो कि इनमें सारे प्रश्नों के उत्तर सिलसिलेवार मिल जाएँ और खोज की प्रक्रिया कमज़ोर हो जाए। इससे यह सवाल पैदा हुआ कि आखिर *बाल वैज्ञानिक* जैसी पुस्तक की शिक्षक निर्देशिका कैसी होनी चाहिए?

इस सवाल का जवाब हमें मिलता है शिक्षक निर्देशिका के लिए तैयार किए गए दिशानिर्देशों में। इसमें कहा गया था कि:

1. इनमें [यानी शिक्षक निर्देशिकाओं में] *बाल वैज्ञानिक* के हरेक प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश नहीं की जानी चाहिए। शिक्षक निर्देशिका कोई कुंजी नहीं है। प्रश्नों के जवाब मुहैया करने से यह सुनिश्चित हो जाएगा कि कक्षा में प्रयोग या स्वतंत्र चिन्तन नहीं होगा।
2. शि.नि. में सबसे पहले अध्याय के शैक्षणिक व वैज्ञानिक उद्देश्य स्पष्ट कर दिए जाने चाहिए। शैक्षणिक उद्देश्य शामिल करना ज़रूरी है क्योंकि शिक्षक आम तौर पर इनकी उपेक्षा करते हैं।

3. प्रयोगों की सफलता के लिए ज़रूरी सावधानियाँ और सुरक्षा के उपायों के बारे में सोचकर उनका उल्लेख किया जाना चाहिए।
4. किसी भी प्रयोग की उसी अध्याय के अन्य प्रयोगों से व अन्य अध्यायों से सम्भावित कड़ियों का उल्लेख किया जाना चाहिए ताकि शिक्षक को चर्चा करवाने में मदद मिले। अनुभव बताता है कि कक्षाओं में इस तरह की कड़ियों की पूरी तरह उपेक्षा हुई है।
5. जहाँ कहीं भी ज़रूरी हो यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि वहाँ बच्चों से यह कहा जाना चाहिए कि उन्होंने जो कुछ भी सीखा है, उसका निचोड़ अपने शब्दों में व्यक्त करें।
6. हर प्रयोग या प्रयोगों के एक समूह के बाद चर्चा के तरीके की रूपरेखा शिक्षक को बताई जानी चाहिए।
7. अवधारणाएँ समझने की बच्चों की क्षमता के लिहाज़ से अध्याय के विभिन्न चरणों की जटिलता का उल्लेख भी शि.नि. में होना चाहिए। इससे शिक्षक को अपने विवेक से अध्याय को पुनर्व्यवस्थित करने में मदद मिलेगी।
8. यह अपेक्षित है कि कई बार प्रयोगों से ऐसे आँकड़े सामने आएँगे जिनकी व्याख्या मुश्किल होगी। ऐसी जगहों पर अतिरिक्त प्रयोगों के सुझाव दिए जाने चाहिए।
9. यदि यह लगता है कि कोई प्रयोग खुले परिणामों वाला (open-ended) है, तो शि.नि. में ऐसे वैकल्पिक प्रयोग सुझाए जाने चाहिए जिनकी मदद से आगे खोजबीन की जा सके।
10. ग्रामीण पर्यावरण के भरपूर उपयोग के सुझाव दिए जाने चाहिए। प्रयोगों में स्थानीय सामग्री का उपयोग, परिभ्रमण और एकीकृत प्रोजेक्ट वगैरह के सुझाव दिए जा सकते हैं।
11. ऐसे अवसर इंगित करना ज़रूरी है जब बच्चे चित्र बना सकते हैं क्योंकि चित्रों से समझ व अभिव्यक्ति बढ़ती है। इस तरह के दिशानिर्देश के अभाव में चित्रात्मक प्रस्तुतीकरण के अच्छे मौके गँवा दिए जाते हैं।

जश्न-ए-तालीम

बहरहाल, लगभग सारे अध्यायों की शिक्षक निर्देशिकाएँ तैयार की गई थीं। लेकिन अन्ततः अन्तिम चरण (यानी मुद्रण व शिक्षकों के बीच वितरण) तक सिर्फ कक्षा 8 की चन्द निर्देशिकाएँ ही पहुँचीं। इनका प्रकाशन प्रायोगिक संस्करण के रूप में किया गया था और इन्हें शिक्षकों को वितरित किया गया था। उम्मीद यह थी कि शिक्षकों से मिले फीडबैक के आधार पर इन्हें संशोधित करके पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जाएगा।

मगर सम्भवतः अधिकांश शिक्षकों ने इनका उपयोग किया ही नहीं। कारण? एक कारण तो यही लगता है कि हमारे स्कूलों में कक्षा से पहले तैयारी करने की कोई धारणा ही नहीं है। आम तौर पर शिक्षक कक्षा में पहुँचने के बाद ही सोचना शुरू करते हैं कि आज क्या करना है। कक्षा में पहुँचने के बाद वे बच्चों से पूछते हैं कि क्या चल रहा था। यहाँ तक कि *बाल वैज्ञानिक* की कक्षा होने पर भी अधिकांश शिक्षक ऐसा ही करते थे। इसलिए बच्चे पूरे समय भाग-भागकर सामग्री लाते रहते थे। एक दिन पहले अध्याय के बारे में सोचना तो अनसुनी बात थी। इसलिए पहले से यह सोचना कि किसी अध्याय को कैसे करना है, कौन-से सवाल उठेंगे, किस प्रयोग को करने के लिए किस तरह की तैयारी कर लेना ज़रूरी होगी वगैरह होता ही नहीं था। कक्षा पूरी होने के बाद यह सोचना भी अक्सर नहीं होता था कि कौन-से सवाल अनुत्तरित रह गए थे या कौन-सी बात स्पष्ट नहीं हो पाई थी, या किस प्रयोग में क्या दिक्कत आई थी। ऐसी स्थिति में शिक्षक निर्देशिका देखने की नौबत ही नहीं आती थी। वास्तव में एक शिक्षक एम.एल. पटेल ने इस बारे में बताया: “अनुभवी शिक्षक को निर्देशिका की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। यदि किसी शिक्षक ने प्रशिक्षण न लिया हो, तो उसे ज़रूर मदद मिल सकती है।” कहने का मतलब है कि अनुभव से वे सारी बातों का पूर्वानुमान कर सकते हैं और विषय वस्तु में तो वे पारंगत हो ही गए हैं। इसके विपरीत कार्यक्रम से जुड़े एक स्रोत शिक्षक का मत था कि “शिक्षक निर्देशिका होती तो *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों का खुलासा हो जाता। वैसे इन अध्यायों को पढ़ाना बहुत मुश्किल काम है।”

लिहाज़ा शिक्षक निर्देशिका पर फीडबैक कभी प्राप्त नहीं हुआ और आगे के काम का जोश भी ठण्डा पड़ गया। कक्षा 8 की इन चन्द शिक्षक निर्देशिकाओं

के बाद कोई और शिक्षक निर्देशिका शिक्षकों तक नहीं पहुँची, हालाँकि अन्य अध्यायों की निर्देशिकाएँ भी तैयार की गई थीं।

जब अगला संस्करण बन रहा था तब भी स्थिति यह रही कि कुछ अध्यायों की निर्देशिकाएँ तैयार तो की गईं मगर प्रक्रिया वहीं थम गई। इसे हो.वि.शि.का. क्रियान्वयन की एक खामी ही माना जाएगा कि शिक्षकों को प्रक्रिया के इस पहलू के प्रति जागरूक न बनाया जा सका।

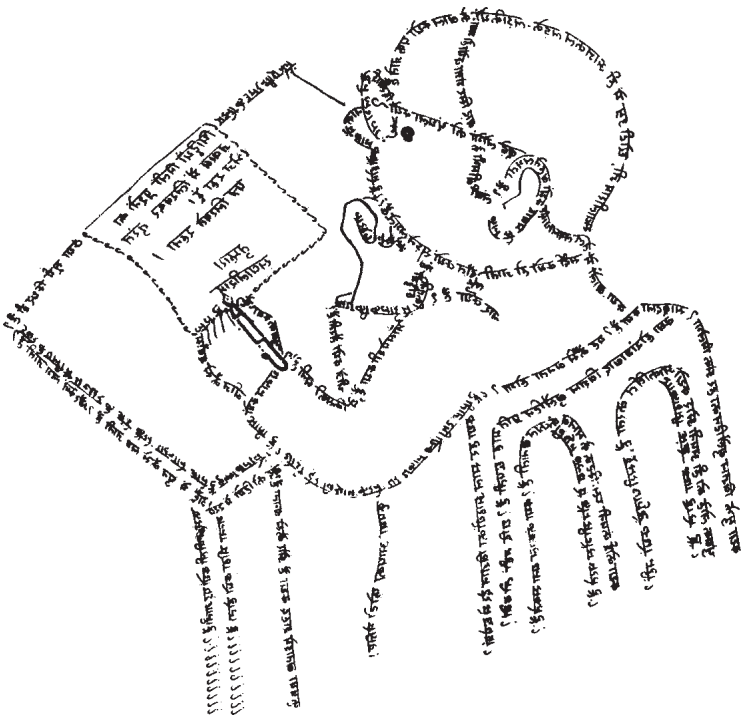
सवालीराम

जब होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की कल्पना की गई थी तो यह स्पष्ट था कि जब बच्चे खोज पद्धति का अभ्यास करेंगे तो कई सवाल उभरेंगे, क्योंकि यह कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो एक पिटी-पिटाई लीक पर चलती रहे। यह भी स्पष्ट था कि पूरा शिक्षण बच्चों की जिज्ञासा और परिवेश से शुरू होता है या होना चाहिए और शिक्षण प्रक्रिया का उद्देश्य बच्चों की जिज्ञासा को समाप्त करना नहीं बल्कि बढ़ाने का होना चाहिए। बच्चों की जिज्ञासा कोई बँधी हुई चीज़ नहीं है। वह किसी पाठ्यक्रम की मोहताज नहीं है, न ही उसे किसी पाठ्यक्रम के ढाँचे का रूप दिया जा सकता है। लेकिन फिर भी शिक्षा का कोई भी कार्यक्रम इतना तो कर ही सकता है कि बच्चों के किसी भी सवाल को अवैध न माने और इतना लचीलापन रखे कि बच्चों के सवालों को उचित स्थान मिल सके। इसका अर्थ यह है कि कक्षा में बच्चों के सवालों की छानबीन की गुंजाइश हो और शिक्षक इसके लिए तैयार हो, शैक्षिक दृष्टि से भी और सांस्कृतिक दृष्टि से भी। यह सब करने का एक तरीका यह है कि पाठ्यक्रम को काफी हद तक बच्चों के आम सवालों के धरातल पर बुना जाए।

मगर तब भी ऐसा तो नहीं हो सकता कि आप बच्चों के सारे अपेक्षित सवालों का पूर्वानुमान कर लें या जो सवाल उभरें उन सबके जवाब या जवाब पाने के तरीके शिक्षक के पास उपलब्ध हों। यह भी हो सकता है कि बच्चों के कई सवाल उस समय कक्षा की विषय-वस्तु से थोड़े अलग हों और शिक्षक तत्काल उनको लेने से बचना चाहें क्योंकि वह “अनावश्यक”

भटकाव हो सकता है। बच्चे ऐसे सवालों को लेकर कहाँ जाएँ? क्या बच्चों को मन मारकर बैठ जाना होगा?

बच्चों के ऐसे सवालों को सम्बोधित करने के लिए होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में “सवालीराम” की कल्पना की गई थी। यह एक काल्पनिक पात्र था जिसे बच्चे पत्र लिखते थे, अपने प्रश्न पूछते थे, पाठ्यक्रम सम्बन्धी समस्याएँ बताते थे, कभी-कभी शिक्षक की शिकायत भी करते थे। “सवालीराम, द्वारा ज़िला शिक्षा अधिकारी, होशंगाबाद-461001” होशंगाबाद, हरदा व 13 अन्य ज़िलों के कई बच्चों के लिए एक जाना-पहचाना नाम व पता था। यहाँ तक कि होशंगाबाद विज्ञान के कई भूतपूर्व छात्र निरन्तर सवालीराम के सम्पर्क में रहे।



जश्न-ए-तालीम

यह ज़रूरी नहीं है कि बच्चों के सारे सवाल कक्षा के दौरान ही उभरें। आखिर यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि बच्चे सिर्फ कक्षा में आकर ही सीखने का काम करते हैं। उनका सीखना तो लगातार चलता रहता है। आम तौर पर बच्चे इन सवालों को अपने तक ही सीमित रखते हैं क्योंकि कोई ऐसी जगह नहीं होती जहाँ इन्हें पूछा जा सके। परम्परागत कक्षा में तो इन सवालों को वैसे भी “फालतू” माना जाता है। मगर एक नई पद्धति, जिसमें शिक्षा को उनके पर्यावरण से जोड़ने की बात हो रही हो, कैसे किसी भी सवाल को फालतू मान सकती है? यही बात *बाल वैज्ञानिक* के प्रथम संस्करण (1978) में प्रकाशित सवालीराम की चिट्ठी में भी कही गई थी:

जब कभी भी तुम्हारे मन में सवाल उठे, तो गुरुजी से पूछना और अपने साथियों से चर्चा करना। कोई भी सवाल बेकार नहीं होता। शायद कुछ सवालों के उत्तर तुरन्त न मिलें। तब उन सवालों को अपनी कॉपी में लिखकर रख लो।

मौका मिलने पर किसी और से पूछने पर उत्तर मिल सकते हैं। शायद बाद में तुम्हें उनके उत्तर या कोई नए प्रयोग समझ में आ जाएँ!...अपने नए-नए सवाल मुझे लिखना।

अगली कक्षाओं में सवालीराम बच्चों से विज्ञान शिक्षा के कई मुद्दों पर संवाद स्थापित करने का प्रयास करता है। कक्षा में उठने वाले सवालों से लेकर बच्चों के अपने जीवन के तमाम सवाल पोस्ट कार्डों के माध्यम से सवालीराम तक पहुँचते थे। और बच्चों के सवाल सिर्फ *बाल वैज्ञानिक* से उभरे सवाल नहीं होते थे।

बच्चों के बीच यह धारणा थी कि सवालीराम नाम का कोई हाड़-माँस का व्यक्ति है जो उनके सवालों के जवाब लिख भेजता है। इसलिए वे सवालीराम को कभी सवालीराम चाचा, तो कभी सवालीराम भैया कहकर भी सम्बोधित करते थे। कक्षा में जब ठीक से प्रयोग नहीं होते, तो बच्चे *बाल वैज्ञानिक* लिखने के लिए सवालीराम को कोसते भी थे। *बाल वैज्ञानिक* में कतिपय विषय-वस्तु (जैसे अणु, परमाणु) के अभाव और उसके कारण कक्षा 9 में होने वाली कथित समस्या को लेकर भी सवालीराम के साथ बच्चों का संवाद चलता था। चूँकि बच्चे सवालीराम को एक सचमुच का

इन्सान समझते थे, इसलिए उसके फोटो की माँग भी अक्सर करते थे। इससे एक शिक्षक इतने प्रेरित हुए कि उन्होंने सवालीराम से पूछे गए सवालों को जोड़-जोड़कर एक चित्र ही बना डाला।

सवालीराम को मिलने वाले पत्रों का एक विश्लेषण किया गया था जिसमें यह जानने की कोशिश की थी कि बच्चों के सवाल मुख्यतः किस तरह के हैं। विश्लेषण में पाया गया कि बच्चे नीचे लिखे पाँच तरह के सवाल पूछते थे:

1. *बाल वैज्ञानिक से पूछे गए सवाल:* ये सवाल बच्चे सीधे *बाल वैज्ञानिक* से उतारकर भेज देते थे। वास्तव में इनके जवाब उन्हें प्रयोग करके स्वयं खोजना होते थे। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि स्कूल में प्रयोग वगैरह न कराए जा रहे हों और इसलिए बच्चों को प्रश्नों के उत्तर खोजने में दिक्कत आ रही हो। दूसरा यह कि प्रयोग करने के बाद भी वे उत्तर न समझ पाए हों। यह भी हो सकता है कि चिट्ठी लिखने की इच्छा हो रही हो मगर सवाल नहीं सूझ रहा। बहरहाल, सवालीराम आम तौर पर इन सवालों के जवाब में यही लिखता था कि इनके जवाब बच्चे को खुद खोजना है और यदि कोई दिक्कत आ रही हो, तो लिखें ताकि कोई तरीका सुझाया जा सके।
2. *बच्चों के अपने सवाल जिनका सम्बन्ध कक्षा से था:* ये ऐसे सवाल होते थे जो कक्षा में उठते थे मगर वहाँ इनका जवाब नहीं मिल पाता था। इस मामले में सवालीराम की नीति यह होती थी कि बच्चे को कोई प्रयोग या अन्य कोई तरीका सुझा दे जिससे उस सवाल का जवाब पाने में मदद मिलेगी। कभी-कभी सीधे जवाब दे भी दिया जाता था।
3. *बच्चों के आम अनुभव से उपजे सवाल:* इनके बारे में भी नीति वही होती थी जो कक्षा सम्बन्धी सवालों के बारे में थी। अन्तर सिर्फ इतना था कि यह बताना होता था कि सवाल का सम्बन्ध किस अवधारणा या प्रयोग से है।
4. *सवालीराम के चित्र से निकले सवाल:* सवालीराम का उपरोक्त चित्र *बाल वैज्ञानिक* के दूसरे संस्करण (1987) के पिछले आवरण पर छापा

जश्न-ए-तालीम

गया था। यह चित्र छपने के बाद काफी संख्या में ऐसे प्रश्न आने लगे थे जिनमें चित्र में दिए गए सवाल पूछे जाते थे।

5. *शिकायतें*: बहुत कम ऐसे पत्र होते थे जिनमें बच्चे शिकायतें करते थे। जब स्कूल खुले होते थे तो प्रति माह 25 पत्र आना सहज बात थी। मगर जब सवालीराम नियमित रूप से जवाब देता तो पत्रों की संख्या प्रति माह 150 तक पहुँच जाती थी। यह बताना लाज़मी है कि हर पत्र में एक से ज़्यादा सवाल होते थे और अधिकतम 20 प्रश्नों वाले पत्र आए थे। अलबत्ता परीक्षा के दौरान पत्र कम हो जाते थे। शायद कई बच्चों को पत्र लिखने की प्रेरणा अपने सवाल से नहीं मिलती थी बल्कि जवाब पाने की इच्छा से मिलती थी। ज़रा कल्पना कीजिए। दूर-दराज के किसी गाँव में 11-14 साल के किसी बच्चे के अपने नाम से चिट्ठी आए। जहाँ चिट्ठी आना ही इतनी बड़ी घटना होती है, वहाँ एक बच्चे के नाम चिट्ठी आना कितना रोमांचक होता होगा।

बहरहाल, जिस भी कारण से हो बच्चे सवालीराम को खूब पत्र लिखते थे। यह कहना गलत न होगा कि सब बच्चों को ऐसा एक पात्र उपलब्ध हो तो बहुत अच्छा होगा।

इसके बाद यह बात करना भी ज़रूरी है कि इन पत्रों के जवाब देने की व्यवस्था क्या थी।

सवालियों के जवाब

सम्भवतः यह सोचा गया था कि हो.वि.शि.का. के संचालन के लिए सम्भागीय शिक्षा अधीक्षक कार्यालय में स्थापित की गई विज्ञान इकाई इस कार्यक्रम की सारी शैक्षणिक ज़िम्मेदारियाँ सम्हाल लेगी। दरअसल ज़िला स्तरीय प्रसार के समय यह प्रमुख विचार था कि कार्यक्रम मुख्यधारा का अंग बन जाएगा, क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय प्रशिक्षण की ज़िम्मेदारी निभाएगा, सम्भागीय शिक्षा अधीक्षक कार्यालय सतत प्रशिक्षण, मूल्यांकन वगैरह का दायित्व उठा लेगा। सवालीराम का पता भी मार्फत सम्भागीय शिक्षा अधीक्षक ही था। मगर यह इकाई कार्यक्रम की चुनौतीपूर्ण शैक्षिक

एक बच्चे ने पूछा था: “मैंने देखा है कि जंगल में लताएँ एक ही दिशा में पेड़ से लिपटती हैं। कृपया बताएँ कि क्या मेरा अवलोकन सही है? और यदि सही है तो बताएँ कि ऐसा क्यों होता है?”

इस चिट्ठी से हड़कंप मच गया क्योंकि किसी को जवाब मालूम नहीं था। सवाल इंदौर में जीव विज्ञान के दो प्राध्यापकों को और हैदराबाद के सेंटर फॉर सेल्यूलर एण्ड मॉलीक्यूलर बायोलॉजी के एक वैज्ञानिक को भेजा गया। जब एक-एक करके जवाब आए तो काफी उत्साह पैदा हुआ और बहसबाज़ी चलती रही। दो लोगों ने बच्चे के अवलोकन की पुष्टि की और स्पष्ट किया कि उत्तरी गोलार्ध में लताएँ एक दिशा में तथा दक्षिणी गोलार्ध में विपरीत दिशा में लिपटती हैं। इस समय एक भौतिक शास्त्री भी बहस में शरीक हो गए। उन्होंने बताया कि इसका कारण कोरियोलिस प्रभाव है जो पृथ्वी के घूर्णन के कारण पैदा होता है। उनके अनुसार आइन्स्टाइन ने भी बेसिन में पानी में भँवर पैदा होने के बारे में यही लिखा था।

लगभग इसी समय एक और जवाब आया जो बिलकुल उलट था। इसमें बताया गया था कि लताओं का घूमना प्रजाति पर निर्भर है – कुछ घड़ी की दिशा में और कुछ घड़ी से विपरीत दिशा में लिपटती हैं। तीसरा जवाब आया कि यह मसला भौतिक शास्त्र और जीव विज्ञान दोनों में अग्रणी शोध का विषय है। दोनों तरफ घूमने की सम्भावना बराबर होती है। सवालीराम क्या करता? उसने इन सारे जवाबों का सार बच्चे को लिखा और जोड़ा कि ऐसे ही अवलोकन करके, परिकल्पना बनाकर और जाँच करके विज्ञान आगे बढ़ता है।

ज़िम्मेदारी उठाने में पूरी तरह नाकाम रही। इस तरह सवालीराम के पत्रों के जवाब देने का काम पहले किशोर भारती और आगे चलकर एकलव्य को उठाना पड़ा था। किशोर भारती के पास इतने कार्यकर्ता कभी न रहे कि वह इस काम को सही ढंग से अंजाम दे पाए। एकलव्य में भी कार्यक्रम के अन्य कामों की भागमभाग के चलते सवालीराम कभी एक प्राथमिकता नहीं बना। इसलिए होता यह था कि बीच-बीच में अचानक जब बच्चों के ढेर सारे पत्र इकट्ठे हो जाते थे तो एक अभियान के रूप में उनके जवाब दिए जाते थे। बीच में एक समय ज़रूर ऐसा आया था जब एकलव्य में कोई न कोई कार्यकर्ता नियमित रूप से इस काम को करने के लिए नियुक्त किया गया

जश्न-ए-तालीम

था। उस समय पत्रों के जवाब नियमित रूप से जाने का परिणाम यह हुआ था कि पत्रों की बाढ़ आ गई जिसकी वजह से यह काम और मुश्किल हो गया।

एक अकेले कार्यकर्ता द्वारा सवालीराम के पत्रों के जवाब देने से नियमितता तो आई मगर साथ ही जवाबों में बोझिलता भी आती गई। यह गौरतलब है कि सवालीराम की चिट्ठियों का जवाब देना एक सृजनात्मक काम था। इसे एक व्यक्ति लगातार (रोज़ाना 10-12 सवालों की दर से) करता तो उसकी शारीरिक, मानसिक व सृजनात्मक क्षमता जवाब दे जाती। इसके अलावा बच्चों के सवाल किसी विषय से तो बँधे नहीं होते थे। कई सवाल ऐसे होते थे जिनका सम्बन्ध एक से अधिक विषयों से होता था। ऐसे सवालों के जवाब देना एक अकेले व्यक्ति के लिए मुश्किल था। वास्तव में इसे एक टीम द्वारा किया जाना चाहिए था जो कभी सम्भव न हो सका। यह कोशिश ज़रूर हुई थी कि नियमित रूप से इन सवालों पर एक बड़ा समूह चर्चा करे और फिर एक व्यक्ति इसके आधार पर जवाब दे, मगर यह बहुत व्यवस्थित ढंग से हो नहीं पाया।

सवालों में जितनी विविधता होती थी, जवाबों में भी उसी पैमाने की विविधता दरकार थी। कभी आप प्रश्न का सीधे जवाब दे रहे हैं, तो कभी बच्चे को कह रहे हैं कि प्रश्न को और स्पष्ट करे। कभी उत्तर पाने के लिए कोई प्रयोग सुझा रहे हैं, तो कभी सवाल का जवाब सवाल के रूप में ही दे रहे हैं। कभी-कभी ऊटपटाँग सवाल पूछने के लिए डाँट भी रहे हैं और कभी उनकी शिकायत दूर करने के लिए अन्य लोगों से सम्पर्क का आश्वासन दे रहे हैं। मुख्य बात यह है कि यह बच्चों के साथ एक जीवन्त सम्पर्क होता था और इसमें उसी जीवन्तता के साथ एक शैक्षिक विमर्श को भी चलाना होता था। एक व्यक्ति के लिए यह सब ज़रा ज़्यादा ही साबित होता था।

इन परेशानियों को देखते हुए कई तरह के समाधान खोजने की कोशिशें होती रहीं। इनमें से एक कोशिश थी सवालीराम कार्यशालाएँ। हो.वि.शि.का. से जुड़े स्रोत व्यक्तियों के साथ-साथ महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के

अध्यापक व छात्र मिलकर तीन-चार दिनों में ढेर सारे पत्रों के जवाब लिख देते थे। बैकलॉग निपटाने में यह प्रक्रिया काफी सहायक रही। इस तरह की कई कार्यशालाएँ आयोजित की गई थीं जिनमें से एक का जिक्र यहाँ किया जा सकता है क्योंकि इसमें न सिर्फ सवालीराम को आई चिट्ठियों का बैकलॉग निपटाने का प्रयास हुआ था बल्कि एक व्यवस्था बनाने का भी प्रयास हुआ था।

विक्रम विश्वविद्यालय के पर्यावरण प्रबन्धन एवं पादप विज्ञान संस्थान में सन् 2000 में आयोजित इस तीन-दिवसीय कार्यशाला में विश्वविद्यालय के वनस्पति, रसायन व भौतिकी विभाग के अध्यापकों व छात्रों ने बड़ी संख्या में भाग लिया था। इस कार्यशाला में बच्चों के सवालों पर चर्चा के दौरान कई सारी बातें उभरकर आईं। इनमें से एक प्रमुख बात यह थी कि बच्चों के पर्यावरण से उठने वाले सवाल सरल नहीं होते – जैसे लोहा चुम्बक से क्यों चिपकता है, लकड़ी क्यों नहीं चिपकती। मज़ेदार बात थी कि वहाँ उपस्थित भौतिक शास्त्री स्वयं चकित थे कि इतने सरल से सवाल का जवाब हमारे पास नहीं है। उनका कहना था कि “आज हमारे पास चुम्बकत्व का जो मॉडल है वह बहुत पहले गलत साबित हो गया था। मगर हमारी पाठ्य पुस्तकों में वही बात बार-बार दोहराकर इसे सही साबित करने की कोशिश की जाती है।” इस प्रश्न पर अन्ततः यही समझ बनी कि “चुम्बकत्व की धारणा हम बच्चों को (शायद खुद को भी) नहीं समझा सकते और इसलिए हम बच्चे को यही जवाब देंगे कि लोहा चुम्बक से चिपकता है क्योंकि यह लोहे का गुण है। लकड़ी में यह गुण नहीं पाया जाता, इसलिए वह चुम्बक से नहीं चिपकती।”

इस प्रकार की बहसों कई प्रश्नों के बारे में हुईं और यह साफ उभरकर आया कि बच्चों की जिज्ञासाओं का जवाब देने में उच्च विज्ञान और अवधारणाओं की गहरी समझ की ज़रूरत है। यह भी समझ में आया कि हम प्रायः पारिभाषिक शब्दों को ही उत्तर मान बैठते हैं, जो ठीक नहीं है। कार्यशाला के दौरान करीब 80-85 सवालों के जवाब तैयार हुए और यह आश्वासन मिला कि सभी सहभागी नियमित रूप से इस कार्य में शरीक होने को तैयार हैं। अलबत्ता यह पहल काफी देर से हुई थी (2002 में तो कार्यक्रम बन्द ही

जश्न-ए-तालीम

कर दिया गया था) और व्यवस्थित समन्वय के अभाव में ज़्यादा आगे नहीं बढ़ी।

इस तरह के कई प्रयास सवालीराम को एक जीवन्त संस्था बनाने की दिशा में किए गए थे। कई मर्तबा बच्चों के सवाल अन्य स्रोत व्यक्तियों को भेजे भी जाते थे। यहाँ एक समस्या यह आती थी कि जो उत्तर ये लोग लिखकर भेजते थे वे प्रायः बच्चों के स्तर पर नहीं होते थे और उनमें काफी सम्पादन की ज़रूरत होती थी।

कुल मिलाकर अनुभव यह रहा कि सवालीराम एक उपयोगी मंच बना मगर इस पर कभी इतना समय न लगाया जा सका कि इसकी पूरी गुंजाइश का लाभ मिल सके।

सवालीराम को प्राप्त प्रश्नों का विभाजन

बच्चे की कक्षा	मौलिक सवाल	बाल वैज्ञानिक से सवाल	सवालीराम के चित्र से सवाल
6	67%	8%	25%
7	60%	16%	24%
8	79%	12%	9%

नवाचार और शिक्षकों की भागीदारी की तैयारी

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षकों की भूमिका केन्द्रीय रही है। बच्चों द्वारा खोज पर आधारित शिक्षण पद्धति में यह अपेक्षित भी है। कारण यह है कि इस तरह के शिक्षण में काफी खुलापन होता है और हरेक कक्षा में वही अध्याय काफी अलग-अलग रूप ले सकता है। पूरी प्रक्रिया और बच्चों के हर सवाल का पूर्वानुमान भी नहीं किया जा सकता। हर कदम पर शिक्षक की एक सक्रिय भूमिका दरकार होती है ताकि बच्चों के प्रश्नों को शिक्षण प्रक्रिया का अंग बनाया जा सके और यह प्रक्रिया पटरी से भी न उतरे।

आम स्कूली शिक्षा में शिक्षक की भूमिका काफी सीमित होती है। उसे अधिक से अधिक इतना करना होता है कि पाठ्य पुस्तक में लिखी बातें बच्चों को समझा दे। बहुत हुआ तो शिक्षक इसके लिए कुछ उदाहरणों व रूपकों का उपयोग कर लेते हैं। अन्यथा सामान्य तौर पर तो शिक्षक कक्षा में पाठ्य पुस्तक के वाचन को ही अध्यापन मान लेते हैं। अध्याय के अन्त में प्रश्नों के उत्तर लिखवा देना ही अध्यापन की मंज़िल होती है।

मगर जब बात होती है कि बच्चे स्वयं प्रयोग करेंगे, प्रयोग के अवलोकनों पर विचार-विमर्श करेंगे, निष्कर्ष निकालेंगे, निष्कर्षों की सामूहिक छानबीन होगी और अन्त में बच्चों को अपने शब्दों में इन बातों को लिखना होगा, तो ज़ाहिर है कि यह ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो एक लीक पर चले। यदि सब कुछ ठीक-ठाक चला तो भी बच्चों को स्वयं निष्कर्ष तक पहुँचने में मदद

जश्न-ए-तालीम

करना काफी कुशलता की माँग करता है। यह कुशलता सिर्फ पढ़ाई जा रही विषय-वस्तु में ही नहीं बल्कि कई अन्य बातों में भी होनी चाहिए।

इसके अलावा बच्चों को निष्कर्षों तक खुद पहुँचने देने में काफी धैर्य की भी ज़रूरत होती है। अधीर होकर जवाब बता देने से पूरी प्रक्रिया नाकाम हो जाएगी हालाँकि वह सरल मार्ग होगा। इसी प्रकार से इस प्रक्रिया को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए शिक्षक में बच्चों की क्षमता को लेकर काफी भरोसा भी होना चाहिए। आम तौर पर हमारी शिक्षा व्यवस्था बच्चों पर तो क्या शिक्षकों पर भी भरोसा नहीं करती। इस अविश्वास के चलते जो पाठ्य पुस्तकें तैयार होती हैं उनमें कोई चीज़ शिक्षक के भरोसे नहीं छोड़ी जाती। देखा यह भी गया है कि शिक्षकों का अपनी क्षमता पर भी बहुत कम भरोसा होता है। दरअसल मुख्यधारा में शिक्षा एक उत्पाद के रूप में देखी जाती है जबकि हो.वि.शि.का. में शिक्षा एक प्रक्रिया है।

शिक्षकों ने कई बार एक शिकायत की है कि हो.वि.शि.का. में बच्चों के अनुपस्थित रहने के कारण बहुत समस्या आती है। दरअसल यह बच्चों की सक्रियता पर आधारित खोज पद्धति की खूबी है कि इसमें बच्चे को भाग लेना पड़ता है, जबकि अन्य कार्यक्रमों में मात्र पाठ्य पुस्तक को पढ़कर (रटकर) काम चलाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो छात्र “स्वाध्यायी छात्र” के रूप में अध्ययन करते होंगे उनकी क्या स्थिति होती होगी।

खोज पद्धति बाल-केन्द्रित भी है। पारम्परिक कक्षा पाठ्य पुस्तक केन्द्रित होती है। इसमें प्रायः इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि अलग-अलग बच्चे क्या करते हैं या क्या सोचते हैं। हाँ, ऐसी कक्षा में बच्चे आगे-पीछे हो सकते हैं (वैसे आम कक्षा संचालन में तो इस बात का भी ध्यान नहीं रखा जाता है), मगर वे अलग-अलग रास्तों पर नहीं चल सकते। किन्तु बाल-केन्द्रित पद्धति का एक प्रमुख आयाम यह होता है कि एक ही अनुभव से बच्चे अलग-अलग सवाल तक पहुँचते हैं, अलग-अलग उत्तरों तक पहुँचते हैं। इतना तो प्रायः होता है कि कई बच्चे एक ही उत्तर तक अलग-अलग ढंगों से पहुँचते हैं।

इसलिए हो.वि.शि.का. में शिक्षक से कई अपेक्षाएँ हैं: उसे विषय-वस्तु का

ज्ञान होना चाहिए, उसे खोज प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान होना चाहिए और उन पर भरोसा होना चाहिए, उसे बच्चों पर भरोसा होना चाहिए कि वे खुद खोज कर पाएँगे, गलत-सही का निर्णय कर पाएँगे। उसे इस बात का भी भान होना चाहिए कि स्वयं उसके समेत कोई भी सर्वज्ञाता नहीं है और बच्चों के सामने यह कहने में कोई अपमान की बात नहीं है कि मुझे नहीं आता, आओ पता करें। शिक्षक में यह समझ भी होनी चाहिए कि पाठ्य पुस्तक ज्ञान का एकमात्र या अन्तिम स्रोत नहीं है। उसके पास पाठ्य पुस्तक में दी गई गतिविधियाँ करवाने के अलावा नई-नई गतिविधियाँ व प्रयोग डिज़ाइन करने की क्षमता भी होनी चाहिए। (कई बार देखा गया है कि शिक्षकों को स्वयं अवधारणाएँ इतनी स्पष्ट नहीं होतीं कि वे उन्हें नई परिस्थिति में लागू कर सकें।) और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह कक्षा में विविधता के प्रति संवेदनशील हो।

हो.वि.शि.का. के पाठ्यक्रम को यथासम्भव पर्यावरण आधारित बनाने का प्रयास किया गया है। इसके कारण शिक्षक पर यह भी अतिरिक्त ज़िम्मेदारी आ जाती है कि वह कक्षा में सीखी जा रही बातों को बच्चों के परिवेश से जोड़ता चले।

इस सबका अर्थ यह है कि इस कार्यक्रम के लिए शिक्षकों को तैयार करने में विषय-वस्तु का प्रशिक्षण तो आवश्यक होता ही है, इसके अलावा खोज पद्धति व उससे सम्बन्धित विविध पहलुओं के लिए भी उन्हें तैयार करना ज़रूरी होता है। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का शिक्षक प्रशिक्षण इन दोनों चीज़ों को ध्यान में रखकर विकसित किया गया था। इसके अलावा चार अन्य बातों का ध्यान रखना ज़रूरी था।

पहली बात यह है कि शिक्षा की कोई भी प्रक्रिया मात्र एक विषय का अध्यापन करने का नाम नहीं है। यह एक समूची विश्वदृष्टि से अन्तर्क्रिया का नाम है। यह एक सांस्कृतिक पक्ष है जिस पर ध्यान दिए बगैर शिक्षण कारोबार को चलाते रहने से हम उस समस्या से दो-चार होते हैं जो रोज़ प्रकट होती है। शिक्षक व बच्चे दो तरह के ज्ञान के साथ जीना सीख लेते हैं। एक किताबी या स्कूली ज्ञान और दूसरा रोज़मर्रा का व्यावहारिक ज्ञान। मुख्यधारा की शिक्षा लोगों के सांस्कृतिक मूल्यों व पारम्परिक धारणाओं के

जश्न-ए-तालीम

साथ संवाद की ज़रूरत को स्वीकार करना तो दूर, उनके अस्तित्व को ही नकारती है। तब किताब में पृथ्वी घूमती रहती है, जीवन में वह नहीं घूमती।

दूसरी बात यह है कि आम तौर पर यह माना जाता है कि एक बार प्रशिक्षण हो गया तो शिक्षक हमेशा के लिए तैयार हो गया। यह धारणा गलत है। कक्षा में बच्चों के साथ वास्तविक शिक्षण करते हुए शिक्षक के सामने कई सवाल आते हैं, कई समस्याएँ आती हैं। इनके सन्दर्भ में विचार-विमर्श का कोई मंच उपलब्ध नहीं होता और शिक्षक बढ़ते क्रम में पाठ्य पुस्तक की सुरक्षित जिल्द में कैद होता जाता है। मूलतः पाठ्य पुस्तक आधारित शिक्षण में यह करना सम्भव है, हालाँकि यह वाँछनीय नहीं है। मगर एक खोज-आधारित पद्धति में तो यह सर्वथा हानिकारक होगा।

तीसरी बात यह है कि जब कक्षा में नए ढंग से कुछ करने का प्रयास किया जाएगा तो शिक्षक को लगातार समर्थन की, विचार-विमर्श की ज़रूरत होगी। अन्यथा उसके अलग-थलग पड़ जाने का, अकेले पड़ जाने का खतरा बना रहेगा। आम तौर पर शिक्षक इस अकेलेपने से ग्रस्त रहते हैं और इसके कारण कुछ भी नया आजमाने के उनके उत्साह पर प्रतिकूल असर पड़ता है। 1972 के प्रस्ताव में जो यह कहा गया था कि प्रत्येक स्कूल से दो शिक्षकों को शामिल किया जाएगा, उसके पीछे समझ यही थी कि अकेले शिक्षक के हताश होने का जोखिम बहुत अधिक होता है।

चौथी और अन्तिम बात यह है कि आम तौर पर प्रशिक्षण, और खासकर किसी विषय विशेष के प्रशिक्षण की प्रक्रिया में शिक्षकों के साथ इस सम्बन्ध में कोई वार्तालाप नहीं होता कि वे किन परिस्थितियों में काम करते हैं। स्कूल इमारत की हालत क्या है, कितने बच्चे हैं, सामान रखने के लिए अलमारी है कि नहीं, प्रयोग सामग्री की क्या स्थिति है, प्रशिक्षण में रहने की व्यवस्था कैसी है, प्रशिक्षण में आने या विभिन्न शैक्षणिक कामों में शरीक होने के लिए यात्रा भत्ता व दैनिक भत्ता मिला या नहीं वगैरह कभी प्रशिक्षण के अंग नहीं बनते, हालाँकि इन सबका गहरा असर शिक्षण पर होता है।

पता नहीं यह सब इसी रूप में शुरू से ही सोचा गया था या नहीं, मगर इतना साफ है कि पहले प्रशिक्षण शिविर से ही ये सारे तत्व मौजूद थे।

हो.वि.शि.का. में शिक्षक प्रशिक्षण वास्तव में शिक्षकों के साथ खुले संवाद की प्रक्रिया थी जिसमें उक्त सारे मुद्दों पर दो-तरफा विनिमय होता था। इस लिहाज़ से पूरे उद्यम को प्रशिक्षण न कहकर शिक्षकों के साथ अन्तर्क्रिया कहना उपयुक्त होगा। पूरी अन्तर्क्रिया शिक्षकों को कार्यक्रम के हर पहलू में भागीदार बनाने का उद्यम रही।

हो.वि.शि.का. में शुरू से ही शिक्षकों की भागीदारी कक्षा संचालन तक सीमित नहीं मानी गई थी। सोच तो यह रहा कि शिक्षक इस कार्यक्रम के हर पहलू के विकास में सहभागी होंगे। इनमें पाठ्य सामग्री का निर्माण और बच्चों के मूल्यांकन की प्रणाली का विकास वगैरह शामिल हैं। परन्तु पाठ्यक्रम व पाठ्य सामग्री के निर्माण में शिक्षकों की भागीदारी एक पेचीदा मसला है। इस काम में शिक्षकों की भागीदारी का मतलब मात्र यह नहीं हो सकता कि एक-दो शिक्षकों को पाठ्य पुस्तक लेखन दल में शामिल कर लिया जाए। सबसे पहले यह स्वीकार करना होगा कि वर्तमान परिस्थिति में अधिकांश शिक्षक पाठ्य सामग्री निर्माण में सम्भवतः कोई योगदान नहीं दे पाएँगे। अनुभव बताता है कि यदि उन्हें अपने भरोसे छोड़ दिया जाए, तो फिलहाल अधिकांश शिक्षक उसी तरह की सामग्री (या उसके थोड़े घटिया संस्करण) का निर्माण करेंगे जो प्रचलन में है। इसलिए हो.वि.शि.का. में शिक्षकों को पाठ्य सामग्री के निर्माण में सहभागी बनाना भी उनके लिए सीखने के और सीखकर कुछ सृजन करने के अवसर के रूप में सोचा व क्रियान्वित किया गया था।

शिक्षक प्रशिक्षण: पहला शिविर (1972)

22 मई 1972 के दिन होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का पहला शिविर मित्र मण्डल केन्द्र, रसूलिया के परिसर में शुरू हुआ था। यह पहला शिविर इस मायने में निर्णायक महत्व रखता है कि इसने हो.वि.शि.का. समूह के सामने ग्रामीण क्षेत्र में विज्ञान शिक्षा के सारे प्रमुख मुद्दों को खोलकर रख दिया था।

इस शिविर में किसी पाठ्य या कार्य पुस्तक का उपयोग नहीं किया गया था (“लाल वैज्ञानिक” का प्रकाशन तो सितम्बर 1972 में हुआ था)।

जश्न-ए-तालीम

भौतिकी अध्ययन दल द्वारा तैयार की गई पुस्तक के कुछ अध्याय व प्रयोग और जीव विज्ञान के कुछ प्रयोग व अवधारणाएँ लेकर इस शिविर का संचालन किया गया था। इस मायने में यह सचमुच खुला शिविर था। दरअसल इस शिविर में पहली बार इस सामग्री का परीक्षण हुआ था और आगे सामग्री निर्माण की दिशाएँ स्पष्ट हुई थीं।

हो.वि.शि.का. समूह द्वारा 1977 के एक लेख (*साइंस टुडे*, दिसम्बर 1977) में इस प्रक्रिया के कई उदाहरण दिए गए हैं:

एक सत्र में एक शिक्षक ने सवाल उठाया, “क्या सजीवों में विविधता होती है?” एक जीव वैज्ञानिक ने शिक्षकों को चुनौती दी कि वे दो एक जैसी पत्तियाँ ले आएँ। खोज शुरू हो गई। कई बार शिक्षकों को लगता था कि उन्हें एक-सी पत्तियाँ मिल गई हैं मगर जल्दी ही समझ में आ जाता था कि बारीक अवलोकन करने पर उनमें अन्तर है। उँगलियों की तुलना ने इस बात की पुष्टि कर दी कि विविधता चारों तरफ है। स्रोत दल उत्साहित था। उसके पास एक नए अध्याय का मसाला था। इस अध्याय का नामकरण शिक्षकों ने ही किया – *जीवजगत में विविधता*।

...शिक्षकों का भाग्य में बहुत भरोसा दिखता था। यह तार्किक विश्लेषण में बाधक था और यह बच्चों पर भी असर डालता था। जब दो एक-से दिखने वाले खेतों में अलग-अलग उपज की बात प्रस्तुत की गई तो उन्होंने इसका श्रेय खेत के मालिकों के भाग्य को दे दिया। मिट्टी की किस्म, बीज बोने की दर, उर्वरकों का उपयोग जैसे कारकों की पूरी तरह उपेक्षा कर दी गई। तार्किकता का यह अभाव चर्चा को सम्हालने की उनकी क्षमता पर गम्भीर असर डालता था। लिहाज़ा, एक भौतिक शास्त्री ने संयोग और सम्भाविता का एक अनोखा अध्याय तैयार किया।

...खोज पद्धति के बुनियादी मुद्दे जल्दी ही उभरने लगे। उदाहरण के लिए, वनस्पतियों के जीवन पर एक सत्र के दौरान किसी शिक्षक ने पूछा, “उर्वरक मिट्टी से पत्तियों तक कैसे पहुँच जाते हैं?” फौरन एक प्रयोग तैयार किया गया। एक टहनी काटकर लाल स्याही के घोल में रख दी गई। आधे घण्टे बाद पत्ती की शिराएँ लाल हो चुकी थीं। निष्कर्ष साफ था। मगर एक शिक्षक ने शंका ज़ाहिर की, “हम पक्का कैसे कह सकते हैं? हो सकता है कि शिराएँ

इसलिए लाल हो गई हैं क्योंकि हमने टहनी को काट दिया है। मैंने देखा है कि काटने पर सेब कथई हो जाते हैं।”

हालाँकि हमें यह सवाल काफी मामूली लगा मगर इसे अनदेखा भी नहीं किया जा सकता था। ऐसे सवाल ही तो खोज पद्धति की रीढ़ हैं जिनसे आगे प्रयोग करने के लिए कड़ियाँ बनती हैं। गर्मागरम बहस शुरू हो गई। तय किया गया कि इस प्रयोग में एक और टहनी होनी चाहिए जिसे सादे पानी में रखा जाए। “तुलना के प्रावधान” यानी experimental control की अवधारणा का जन्म हो चुका था।

फिर सवाल आया, “यदि हम नीली स्याही का उपयोग करें, तो क्या होगा?” सारी आँखें स्रोत दल के जीव वैज्ञानिक पर जम गईं। उन्होंने कन्धे उचका दिए, “मुझे नहीं मालूम।” शिक्षक हैरान रह गए। उन्होंने अविश्वास से पूछा, “यदि आपको इतनी सरल सी बात नहीं मालूम तो आपको डॉक्टर की डिग्री कैसे मिल गई?” इस बात ने उनके [शिक्षकों के] मूल्यों को झकझोर दिया था। उनके लिए डॉक्टरेट सारे ज्ञान का अन्तिम बिन्दु था। और स्रोत दल के लिए यह एक अवसर था खोज पद्धति के खुलेपन को प्रदर्शित करने का। प्रयोग को अलग-अलग स्याहियों के साथ दोहराया गया। पौधों द्वारा अलग-अलग रसायनों का चुनिन्दा अवशोषण स्पष्ट रूप से सामने आया। इसके साथ ही खोज पद्धति के पूरे निहितार्थ शिक्षकों ने पहचाने। उन्हें यह भी समझ में आया कि उन्हें भी कई मर्तबा ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ेगा जहाँ उन्हें स्वीकार करना होगा कि “मैं नहीं जानता, आओ पता करें।” यह शिक्षक की पारम्परिक सर्वज्ञाता छवि के एकदम विपरीत था।

इसी तरह होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के पहले शिक्षक उन्मुखीकरण शिविर की एक रिपोर्ट में दून स्कूल के चंद्रकांत दीक्षित¹ उस माहौल को बखूबी पकड़ते हैं जो बाद में इन शिविरों की प्रकृति बना। दीक्षित इसी तरह अपनी रिपोर्ट में कहते हैं, “जब स्रोत दल के सदस्य और सहभागी शिक्षक साथ-साथ काम करते, तर्क-वितर्क करते, साथ बैठकर भोजन करते और साथ-साथ विश्राम करते तो लगता था जैसे इस शिविर में शहरी व ग्रामीण

1 चंद्रकांत दीक्षित, “टुडे’ज़ एजुकेशन फॉर दी नीड्स ऑफ टुमारो”, फिज़िक्स स्टडी ग्रुप, दिसम्बर 1872। चंद्रकांत दीक्षित दून स्कूल के उन शिक्षकों में से एक थे जिन्होंने फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स तैयार की थी।

जश्न-ए-तालीम

विचारधाराओं का एक अनोखा संगम हो रहा था। हम सबका साझा मकसद यह था कि ग्रामीण बच्चों के लिए विज्ञान शिक्षा की प्रयोग आधारित, खुले जवाबों वाली (open-ended) पद्धति की व्यावहारिकता की खोजबीन करें।

“काम कठिन था। एक ओर तो भीषण गर्मी और पानी का संकट तथा दूसरी ओर सारी प्रशासनिक, मनोवैज्ञानिक व सांस्कृतिक बाधाओं को पार करना ताकि फलदायी संवाद स्थापित हो सके। हकीकत यह है कि शिविर शुरू होने से पहले हमें अन्दाज़ तक नहीं था कि हमें किन समस्याओं का सामना करना पड़ेगा और किन मिथकों से जूझना पड़ेगा। ग्रामीण स्कूलों में शिक्षक जिन खराब हालात में काम करते हैं, उसने कुछ भी नया करने के उनके उत्साह पर पानी फेर दिया है। एक कारण यह भी है कि कोई भी नया सिलेबस आजमाने के लिए खुद की क्षमता पर उन्हें यकीन नहीं है। वे स्कूल में उपकरण वगैरह रखने में हिचकते हैं क्योंकि कक्षाओं में दरवाज़े ही नहीं हैं जहाँ चीज़ों को सुरक्षित रखा जा सके। समस्या यह भी है कि बारिश के दिनों में नदी-नाले पूर आ जाते हैं, बच्चे स्कूल पहुँच नहीं पाते, तो पाठ्यक्रम कैसे पूरा करें। उन्हें यह भी डर था कि विज्ञान पढ़ाने में अपारम्परिक तरीका अपनाया गया तो उसमें समस्याएँ आना स्वाभाविक है। तब अधिकारी उन्हें यहाँ-वहाँ फेंकते रहेंगे।

“शिविर में काम और गतिविधियों की योजना इस तरह बनाई गई थी कि शिक्षकों को स्रोत दल के साथ विचारों के उन्मुक्त आदान-प्रदान का पर्याप्त अवसर मिले। शुरू में स्रोत दल और शिक्षकों के रवैयों में स्पष्ट अन्तर था। ये रवैये विज्ञान, धार्मिक व सांस्कृतिक रीति-रिवाज़ों और तर्क को लेकर उनके अलग-अलग नज़रियों पर टिके थे। इसकी वजह से कई मुद्दों पर खूब बहस हुई, ऐसे मतभेद हर शैक्षणिक सत्र में उभर ही आते थे।

“पहले प्रायोगिक सत्र के शुरू में वी.जी. कुलकर्णी² को प्रायोगिक प्रमाण के महत्व को रेखांकित करना ज़रूरी लगा। उन्होंने मीमांसा दर्शन से उद्धरण

2 वी.जी. कुलकर्णी टी.आई.एफ.आर. में वैज्ञानिक थे और मुम्बई नगर निगम के कार्यक्रम के सक्रिय स्रोत व्यक्ति थे। आगे चलकर वे होमी भाभा सेंटर फॉर साइंस एजुकेशन के निदेशक रहे।

देकर स्पष्ट किया कि प्रत्यक्ष से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं है। उन्होंने बताया कि प्रत्यक्ष प्रमाण की अनुपस्थिति में हम तर्क और अनुमान का सहारा लेते हैं। श्रुति प्रमाण सबसे अन्त में आता है। प्रयोग निजी अनुभव प्रदान करते हैं क्योंकि ये प्रत्यक्ष अवलोकन पर आधारित होते हैं। षट् दर्शन के इस उल्लेख के ज़रिए कुलकर्णी ने विज्ञान की खोज पद्धति के पक्ष में पहला तर्क दिया। कई अन्य मामलों में सांस्कृतिक व धार्मिक परम्पराओं ने वैज्ञानिक व्याख्या और प्रेक्षित तथ्यों को समझने में मदद की।

“ग्रामीण पर्यावरण का सन्दर्भ लेकर भी कई वैज्ञानिक अवधारणाएँ स्पष्ट करने में मदद मिली। जैसे बम्बई में ध्रुवीय निर्देशांकों की बात करने में बी. जी. पित्रे³ ने क्रिकेट का उदाहरण लिया था – बल्लेबाज़ को मूल बिन्दु मानकर और पिच को सन्दर्भ रेखा मानकर खिलाड़ियों की स्थिति बताना काफी आसान था। मगर रसूलिया में उन्हें लगा कि यह उदाहरण काम नहीं करेगा। तो उन्होंने गोफन का उदाहरण लेकर बात समझाई। यह उदाहरण सहभागियों को बहुत भाया। बाद में जब उन्होंने कार्तीय निर्देशांकों की बात की तो सहभागियों ने इसे खेतों में फैली छोटी-बड़ी नहरों के ताने-बाने से जोड़ लिया।

“खुले आकाश के नीचे देर रात के एक सत्र में यशपाल⁴ ने सूरज का ज़िक्र काफी साधारण ढंग से किया तो एक शिक्षक ने साहस जुटाकर पूछा कि क्या आप सूरज को भगवान नहीं मानते? यशपाल ने स्पष्ट किया कि हम सूरज के बहुत ऋणी हैं। करोड़ों वर्षों से जो प्रकाश और गर्मी हमें सूरज से मिल रही है उसने धरती पर जीवन का निर्वाह किया है। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि जीवन के इस स्रोत के प्रति इस आभार की अभिव्यक्ति सूर्य पूजा के रूप में होती है। इस तरह से धर्म में अपनी आस्था के प्रति थोड़े आश्वस्त होकर गुरुजी थोड़े नरम पड़े और विज्ञान के प्रति उनका नज़रिया ज़्यादा सकारात्मक हो गया। यशपाल ने आरम्भिक खगोल शास्त्र पर अपना व्याख्यान जारी रखा।

3 बी. जी. पित्रे दून स्कूल के उन शिक्षकों में से एक थे जिन्होंने *फिज़िक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* तैयार की थी।

4 यशपाल उस समय टी.आई.एफ.आर. में वैज्ञानिक थे और मुम्बई नगर निगम के कार्यक्रम के सक्रिय स्रोत व्यक्ति थे।

जश्न-ए-तालीम

“एक मौके पर अनिल सद्गोपाल सजीव जगत को जन्म के आधार पर दो मुख्य समूहों में बाँटने का प्रयास कर रहे थे – अण्डज (अण्डे से पैदा होने वाले) और पिण्डज (शरीर से पैदा होने वाले)। कुछ सहभागियों ने जोड़ा कि पुराणों में एक तीसरे समूह स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले) का भी उल्लेख है। इस समूह में जूँ और पिस्सू को रखते हैं। एक शिक्षक ने खड़े होकर एक दोहा सुनाया जिसमें धरती के सारे जीवों को चार समूहों में बाँटा गया है, अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज। पहले तीन समूह जन्तुओं के हैं और अन्तिम समूह में पौधे आते हैं। अनिल सद्गोपाल को यह बात समझाने के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ी थी कि पसीना जीव की उत्पत्ति के लिए अनुकूल पर्यावरण तो उपलब्ध करा सकता है मगर यह इन जीवों का स्रोत नहीं है।

“सुबह के एक सत्र में जब आवर्त सारणी के तत्त्वों के लिए शब्द ‘तत्त्व’ का उपयोग हुआ तो एक सहभागी शिक्षक को यह जानकर बहुत हैरत हुई कि तत्त्व तो सैकड़ों में हैं। उनको लगता था कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, ये पंच तत्त्व हैं। इन्हीं से पूरा ब्रह्माण्ड बना है। मैंने [दीक्षित ने] सांख्य दर्शन के अपने ज्ञान का उपयोग किया जिसके मुताबिक बाह्य विश्व से अन्तर्क्रिया से हमें जो उद्दीपन मिलते हैं उन्हें हम पाँच इन्द्रियों से महसूस करते हैं। जल तत्त्व उन सब चीज़ों में होता है जो हमारी जीभ पर असर डालते हैं। इसी प्रकार से जो वस्तुएँ हमारी घ्राण अनुभूति को उकसाती हैं उनमें पृथ्वी तत्त्व होता है। इस विचार-विमर्श के बाद ही आवर्त सारणी के तत्त्वों के लिए ‘तत्त्व’ शब्द का उपयोग स्वीकार हुआ।

“शिविर की समाप्ति तक यह स्पष्ट था कि शिक्षकों के मन में तार्किक दृष्टिकोण का बीज पड़ गया है।”

पहले शिविर के सबक

यशपाल ने इस शिविर के बारे में अपने एक आलेख में कई बातों की ओर ध्यान दिलाया है:

1. सामग्री तैयार करने के लिए स्कूली शिक्षकों और विश्वविद्यालयों व शोध संस्थानों के लोगों को मिलकर काम करना होगा।

2. यदि हम चाहते हैं कि विज्ञान उस धरती में जड़ें जमाए जिसमें आस्थाओं, मिथकों और अनुभवों के बीज पड़े हैं, तो खोज पद्धति को ही अपनाना होगा क्योंकि विज्ञान शिक्षा के पारम्परिक तरीकों में इन चीज़ों का उपयोग करने की बात तो दूर, इन्हें स्पर्श तक नहीं किया जाता।
3. हमने यह भी देखा कि पाठ्य सामग्री का निर्माण करते वक्त यह सोच घातक साबित होगा कि शहरी बच्चे और शिक्षक, उपकरणों व टेक्नॉलॉजी से ज़्यादा सम्पर्क के चलते, ज़्यादा उच्च स्तर का विज्ञान समझ सकते हैं। इसके विपरीत, ग्रामीण शिक्षकों व बच्चों का अनुभव कहीं अधिक समृद्ध है। फर्क सिर्फ इतना है कि पारम्परिक पाठ्यक्रम इस अनुभव का लाभ ही नहीं उठाता। इसलिए सामग्री उस पर्यावरण से उपजनी चाहिए जहाँ इसका उपयोग किया जाना है।
4. हमने देखा कि नए तरीके से विज्ञान पढ़ाने में नैतिक व सामाजिक मूल्यों के साथ निरन्तर टकराव की स्थिति होती है। इस मायने में, भारत जैसे देश में विज्ञान शिक्षा को बेहतर बनाने का राष्ट्रीय प्रयास मात्र विज्ञान शिक्षण से अधिक व्यापक होगा। यह लोगों के जीवन में एक बड़ी क्रान्ति होगी। एक उद्देश्य यह होना चाहिए कि यह बात स्वीकार हो पाए कि विज्ञान की दुनिया लोगों के दैनिक जीवन और विश्वासों से बाहर नहीं है। इसके लिए यह ज़रूरी नहीं है कि लोगों के “अवैज्ञानिक” विश्वासों को गलत साबित किया जाए, बल्कि यह दर्शाना होगा कि ये विश्वास बने कैसे होंगे। आप उन सवालों को अनसुना नहीं कर सकते जो छात्र व शिक्षक पूछते हैं।
5. हम इस काम की विशालता से हतप्रभ हैं मगर यह भी लगता है कि यदि सारे प्रयास केन्द्रीकृत न हों तो समस्या अगम्य भी नहीं है।
6. अन्य कई कार्यक्रमों की तरह हमें भी लगता है कि पारम्परिक तौर-तरीकों में फिसलने से बचने के लिए शिक्षकों व स्कूलों के साथ सतत अन्तर्क्रिया ज़रूरी है। एक समस्या यह है कि उनका अपना ज्ञान का भण्डार और दैनिक जीवन इस कार्यक्रम की खुली प्रकृति का निर्वाह करने के लिए पर्याप्त उत्साह प्रदान नहीं करते।

कुछ शब्दों का स्पष्टीकरण

स्रोत दल: कार्यक्रम को दिशा देने वाला समूह, जिसके सदस्य किशोर भारती, मित्र मण्डल केन्द्र, विभिन्न विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों और शोध संस्थानों से आते थे। ज़िला स्तरीय प्रसार से पहले प्रशिक्षण की ज़िम्मेदारी इसी समूह की थी।

अनुवर्तन दल या कार्यकारी दल: उच्च व उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तथा माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों का समूह जो इस कार्यक्रम में सतत अनुवर्तन के लिए ज़िम्मेदार था। इस दल का गठन ज़िला स्तरीय प्रसार के समय कार्यक्रम की ज़रूरतों को देखते हुए किया गया था।

स्रोत शिक्षक: ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद कार्यक्रम लगभग 250 शालाओं में लागू हुआ। इस पैमाने पर प्रशिक्षण करना स्रोत दल के लिए असम्भव ही था। इसलिए प्रशिक्षित शिक्षकों में से उन शिक्षकों को चुना गया जो इस कार्यक्रम की मूल भावना को समझते थे और अब अन्य लोगों के साथ प्रशिक्षण व उन्मुखीकरण की ज़िम्मेदारी उठा सकते थे। इन्हें स्रोत शिक्षक कहा गया। शुरुआत में यह 20-25 शिक्षकों का समूह था जो आगे चलकर 200 से ज़्यादा शिक्षकों का दल बना। बाद में स्रोत शिक्षकों ने अन्य प्रदेशों में भी शिक्षक प्रशिक्षण का संचालन किया और कार्यक्रम में कई तरह से भागीदारी निभाई।

शिक्षकों के साथ काम का ढाँचा

हो.वि.शि.का. में शिक्षकों के साथ काम को शिक्षक प्रशिक्षण का नाम देकर सीमित बनाना अनुचित होगा। जैसा कि पिपरिया क्षेत्र के शिक्षकों के साथ एक बैठक में एक शिक्षक आर. एन. शर्मा ने कहा, “मेरे अनुभव में ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं चला है जिसमें पाठ्यक्रम निर्माण से लेकर परीक्षा प्रणाली के निर्माण तक में शिक्षकों की इतनी भागीदारी रही हो। इस कार्यक्रम में शिक्षक को एक गरिमा प्राप्त हुई।” दरअसल हो.वि.शि.का. में शिक्षक बराबर के भागीदार रहे।

हो.वि.शि.का. समूह की प्रमुख कोशिश यह रही कि शिक्षकों को कक्षा व अन्यत्र अपनी इस नई भूमिका के लिए तैयार करने में कोई कसर न छोड़े।

चाहे कक्षा संचालन हो, बच्चों का मूल्यांकन हो, स्कूलों में अनुवर्तन हो, साथी शिक्षकों की मदद करना हो, पाठ्य पुस्तक व अन्य पाठ्य सामग्री विकसित करना हो, किट सामग्री का विकास हो, हर पहलू में शिक्षकों की भागीदारी रही और हर भागीदारी प्रशिक्षण व उन्मुखीकरण का साधन बनी। सुविधा की दृष्टि से शिक्षकों के विकास के प्रयासों को तीन हिस्सों में बाँट सकते हैं:

1. तीन वर्षों में 9 सप्ताह का सेवाकालीन प्रशिक्षण;
2. सतत अनुवर्तन तथा अनुवर्तन गोष्ठियाँ (मासिक गोष्ठियाँ), शिक्षक निर्देशिकाएँ, होशंगाबाद विज्ञान बुलेटिन का प्रकाशन; तथा
3. कार्यक्रम के अन्य पहलुओं में भागीदारी।

सेवाकालीन प्रशिक्षण

जैसा कि ऊपर कहा गया है स्रोत दल का एक प्रमुख कार्य शिक्षकों को कक्षा में उनकी नई भूमिका के लिए तैयार करना था। जब कार्यक्रम शुरू हुआ था तब अधिकांश शिक्षक विज्ञान पृष्ठभूमि के नहीं थे। ज़्यादातर दसवीं-बारहवीं उत्तीर्ण थे। बमुश्किल एक-दो स्नातक रहे होंगे। पाठ्य पुस्तक वाचन पद्धति से शिक्षण में यह कोई बड़ी बाधा शायद न बनती हो, मगर नई पद्धति की माँग थी कि शिक्षक विषय-वस्तु से न सिर्फ परिचित हों बल्कि उसे भलीभाँति समझते भी हों।

नई पद्धति का एक बड़ा हिस्सा यह था कि बच्चे स्वयं प्रयोग करेंगे। इसलिए यह भी ज़रूरी था कि शिक्षक स्वयं इन प्रयोगों को करने में दक्ष हों।

ऊपर हम यह भी कह चुके हैं कि कक्षा में शिक्षकों से यह अपेक्षा नहीं थी कि वे बच्चों के लिए अवलोकनों की व्याख्या कर देंगे। अपेक्षा तो यह थी कि वे बच्चों की मदद करें, स्वयं अपने अवलोकनों की व्याख्या करें और निष्कर्ष तक पहुँचें तथा गलत-सही के फैसले करें। इस प्रक्रिया को संचालित करने के लिए ज़रूरी था कि शिक्षक इसका अभ्यास कर चुके हों। उन्हें यह भी अन्दाज़ होना चाहिए कि पुस्तक में दिए गए प्रयोग किस तरह के

जश्न-ए-तालीम

अवलोकन दे सकते हैं, गलतियों के स्रोत कहाँ-कहाँ हैं, वैकल्पिक तरीके क्या हो सकते हैं, वगैरह। इसके अलावा उनमें प्रयोग व प्रयोग के उद्देश्य की इतनी समझ होनी चाहिए कि वे वैकल्पिक प्रयोग सोच सकें, दिए गए प्रयोग में फेरबदल कर सकें।

इस सबके लिए यह ज़रूरी था कि सम्बन्धित विषय की उनकी समझ भी पुख्ता हो क्योंकि प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों की जाँच-परख उनकी पृष्ठभूमि तथा अन्य चीज़ों से उसके सम्बन्धों के ज्ञान के बिना नहीं हो सकती।

यह भी आवश्यक था कि शिक्षकों का परिचय एक प्रजातांत्रिक कक्षा से हो ताकि वे यह देख व महसूस कर सकें कि सीखने वालों की भागीदारी पर आधारित तथा ज्ञान की किसी निरंकुश व अन्तिम सत्ता से मुक्त कक्षा कैसी होती है, जहाँ निर्णय तर्क व प्रमाण के आधार पर लिए जाते हैं। यह एक मुश्किल काम था क्योंकि कक्षा में खोज पद्धति एक शैक्षणिक विधि के रूप में अपनाई जा रही थी। ऐसी कक्षाओं में निष्कर्ष शिक्षक को पहले से पता होते हैं मगर ये निष्कर्ष बच्चों पर थोपना नहीं होते हैं। अपेक्षा यह होती है कि शिक्षक बच्चों को ऐसे अनुभव दे पाएँगे और तर्कों की ऐसी ज़ुखला निर्मित कर पाएँगे जिनसे ये निष्कर्ष उभरते जाएँ।

यानी प्रशिक्षण की योजना इस तरह बनाई जाना थी कि उसमें शिक्षकों को प्रायोगिक हुनर हासिल करने का अवसर मिले और विषय की समझ बनाने में मदद मिले। साथ ही, नई शिक्षण पद्धति के लिए आवश्यक हुनर विकसित भी हों और उन पर विश्वास भी बने।

पता नहीं यह सोचा-समझा फैसला था या सहज तर्क से यही मॉडल निकला कि शिक्षक उन्मुखीकरण का तरीका मूलतः रोल प्ले पर आधारित होगा। अर्थात् प्रशिक्षण सत्रों में शिक्षकों से ठीक वैसी ही अन्तर्क्रिया की जाएगी जैसी कक्षा में उनसे अपेक्षित है। इस तरह हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षण में शुरू से ही सोचा गया कि शिक्षकों को स्वयं इस प्रक्रिया में से गुज़रना चाहिए। वे अपने हाथों से प्रयोग करें, अवलोकन लें, उन्हें चित्र के माध्यम से प्रस्तुत करें, अवलोकनों की व्याख्या करें, चर्चा करें व सिद्धान्तों तक पहुँचें। इस दौरान स्रोत दल के सदस्यों के व्यवहार से उन्हें यह भी एहसास मिलता था कि शिक्षक की भूमिका एक उद्देश्य की है, मददगार

की है और कि पद्धति व विषय-वस्तु के सारे सवाल इस ठोस सन्दर्भ में से निकलते हैं। इस मायने में यह प्रशिक्षण विषय-वस्तु की समझ को पुख्ता करने व पद्धति की बानगी प्रस्तुत करने का मिला-जुला प्रयास था।

प्रत्येक शिक्षक को तीन साल तक प्रशिक्षण में भागीदारी करनी होती थी। लगभग हर साल गर्मियों में प्रशिक्षण शिविर आयोजित किए जाते थे। प्रत्येक शिक्षक क्रमशः पहले साल कक्षा 6, दूसरे साल कक्षा 7 और तीसरे साल कक्षा 8 की विषय-वस्तु से सम्बन्धित प्रशिक्षण प्राप्त करता था। हर प्रशिक्षण सत्र लगभग तीन सप्ताह का होता था, यानी प्रत्येक शिक्षक को करीब नौ सप्ताह का प्रशिक्षण दिया जाता था। ये शिविर आवासीय होते थे। एक अनुमान के मुताबिक इन तीन-तीन सप्ताह के सेवाकालीन प्रशिक्षण शिविरों में कुल मिलाकर करीब 3000 शिक्षकों ने भाग लिया था।

प्रशिक्षण के लिए शिक्षकों का कोई चयन नहीं होता था। स्कूल स्वयं तय करते थे कि वे किन शिक्षकों को प्रशिक्षण के लिए भेजेंगे। नियम सिर्फ इस बात को लेकर थे कि किसी स्कूल में छात्र संख्या के आधार पर कितने प्रशिक्षित शिक्षक होने चाहिए।

प्रशिक्षण शिविर में पहले ही दिन शिक्षकों को उनकी कक्षा के अनुसार किसी न किसी वर्ग में पंजीकृत करके 4-4 की टोलियों में बाँट दिया जाता था। पूरे शिविर के दौरान उन्हें इन्हीं टोलियों में काम करना होता था। गौरतलब है कि उनसे भी अपेक्षा थी कि वे स्कूल में छात्रों की टोलियाँ बनवाएँगे। प्रत्येक वर्ग में करीब 40 शिक्षक होते थे।

प्रतिदिन शिक्षकों को पाँच घण्टे कक्षा में बिताने होते थे। यानी एक प्रशिक्षण शिविर में 90 घण्टे का औपचारिक शिक्षण होता था। इस दौरान उनके साथ *बाल वैज्ञानिक* के विभिन्न अध्याय किए जाते थे। इसके अलावा कार्यक्रम के अन्य पहलुओं पर भी काम होता था, जैसे मूल्यांकन व परीक्षा, किट का रख-रखाव, अनुवर्तन वगैरह।

शिविर दर शिविर

1972 में कार्यक्रम शुरू होने से लेकर मात्र एक साल छोड़कर हर साल

जश्न-ए-तालीम

प्रशिक्षण शिविर आयोजित होते रहे। 1983 के बाद जब कार्यक्रम अन्य 13 ज़िलों के एक-एक शाला संकुल में फैला तो प्रति वर्ष दो शिविर भी आयोजित किए गए। ये शाला संकुल काफी बड़े भौगोलिक क्षेत्र में फैले हुए थे।

इतने बड़े पैमाने पर लगातार साल दर साल प्रशिक्षण की ज़रूरत कई कारणों से पड़ती थी। कार्यक्रम के फैलाव के कारण, नए स्कूल खुलने के कारण और शिक्षकों के रिटायर होने या पदोन्नति होने या तबादला होने के कारण प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी लगातार बनी रहती थी। निजी स्कूल भी तेज़ी से फैलने लगे थे। निजी स्कूलों के प्रसार ने होशंगाबाद में कुछ नई समस्याएँ खड़ी कीं। उदाहरण के लिए, आम तौर पर निजी स्कूल अपने शिक्षकों के सेवाकालीन प्रशिक्षण पर निवेश करने को उत्सुक नहीं होते। अधिकांश ऐसे शिक्षकों को यह प्रशिक्षण अपने खर्च पर पूरा करना होता है। इसी से जुड़ी हुई समस्या यह है कि निजी स्कूलों में प्रायः गर्मी की छुट्टियों में कोई शिक्षक नियुक्त नहीं होते। अतः उनके सामने सवाल यह भी होता है कि ग्रीष्मकालीन शिविर में भेजें तो किसे भेजें। इस समस्या से निपटने के लिए प्रशिक्षण के आयोजन में दो प्रमुख बदलाव करने पड़े थे।

पहला परिवर्तन यह किया गया कि सम्भाग स्तर पर एक बड़ा प्रशिक्षण शिविर आयोजित करने की बजाय कई सारे छोटे-छोटे शिविर आयोजित किए जाने लगे। ये शिविर दो-तीन विकास खण्डों (करीब 150 स्कूल) के शिक्षकों के लिए होते थे। इसका फायदा यह था कि शिविर रिहायशी नहीं होते थे। अधिकांश शिक्षक घर रहकर ही प्रशिक्षण में सहभागी हो जाते थे। इसके कई नुकसान भी हुए। जैसे सम्भाग स्तर के शिविर में अधिकांश शिक्षक प्रशिक्षण स्थल पर ही रहते थे और उनके साथ औपचारिक कक्षा के अलावा भी काफी अन्तर्क्रिया के मौके होते थे। प्रशिक्षण के नए विकेंद्रित मॉडल में यह सम्भावना गुम हो गई। एक और नुकसान यह था कि शिविरों की संख्या बढ़ जाने के कारण स्रोत दल काफी बँट जाता था। सम्भाग स्तरीय शिविर में स्रोत दल एक जगह उपस्थित होता था और इसका अपना एक असर होता था। शैक्षणिक क्रियाकलाप एक उच्चतर स्तर पर हो पाते थे और सबसे बड़ी बात यह थी कि कार्यक्रम के कई पहलुओं पर स्रोत

प्रशिक्षण के दौरान जो माहौल होता था उसमें लगातार विचार-विमर्श चलता ही रहता था। नए-नए प्रयोगों का विकास तथा पुराने प्रयोगों में संशोधन वगैरह के लिए यह उपयुक्त जगह होती थी। एक फायदा यह था कि कोई भी नई चीज़ बने तो शिक्षकों के साथ उसे तुरन्त आजमाया जा सकता था। किशोर पंवार ने *शैक्षणिक सन्दर्भ* पत्रिका में अपने एक लेख में इस प्रक्रिया की एक बानगी पेश की है।

समस्या यह थी कि सूखे बीज सजीव हैं या निर्जीव। इसका समाधान यही हो सकता था कि आप यह दिखा सकें कि सूखे बीज श्वसन करते हैं। श्वसन प्रक्रिया के अवलोकन का आम तरीका यह है कि इसके दौरान उत्पन्न कार्बन डाईऑक्साइड का परीक्षण किया जाए। 1988 के प्रशिक्षण शिविर में यही करने की कोशिश की गई। चार-पाँच तरह के बीज लेकर उन्हें अलग-अलग परखनलियों में डाला गया और उनमें फिनोंपथेलीन का गुलाबी सूचक घोल डाल दिया गया। एक परखनली में सिर्फ सूचक घोल रखा गया और एक अन्य परखनली में सूचक घोल में कुछ कंचे डाल दिए गए। थोड़ी देर बाद जिन परखनलियों में बीज डाले गए थे उनमें सूचक घोल का रंग उड़ने लगा। तो किसी ने कहा, चलो साबित हो गया कि बीज श्वसन करते हैं।

मगर एक शिक्षक ने एक और परखनली ली और उसमें सूचक घोल लेकर कुछ सूखी पत्तियाँ और छाल डाल दी। थोड़ी देर में यहाँ भी रंग उड़ गया। तो क्या सूखी पत्तियाँ और छाल भी श्वसन करते हैं? दिक्कत यह थी कि फिनोंपथेलीन अम्लीयता का सूचक है। सूखी पत्तियाँ और छाल वगैरह भी अम्लीयता बढ़ाते हैं और सूचक का रंग उड़ जाता है।

एक समस्या यह भी थी कि सूचक घोल में डालने पर बीज भीग जाते हैं, तब कैसे कहें कि सूखे बीज श्वसन करते हैं या नहीं। इन दोनों समस्याओं का समाधान गुजरात में कार्यक्रम शुरू होने के बाद एक प्रशिक्षण शिविर में हुआ था। यहाँ किए गए एक प्रयोग में परखनलियों में सूचक घोल भरने के बाद रूई का एक फाहा इस तरह रखा गया कि वह घोल से न छुए। उसके ऊपर बीज, सूखी पत्तियाँ, छाल वगैरह रखकर प्रयोग किए गए और स्पष्ट हुआ कि सूखे बीज भी श्वसन करते हैं।

जश्न-ए-तालीम

दल, नए आए वालंटियर्स और स्रोत शिक्षकों के बीच विचार-विमर्श हो पाता था। शिक्षकों को भी स्रोत दल से गहन अन्तर्क्रिया के भरपूर अवसर मिलते थे। नई-नई चीजें आजमाने के लिए भी यह अच्छा अवसर होता था।

दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि शिविरों का आयोजन स्कूल सत्र के दौरान किया जाने लगा। इसका असर यह हुआ कि इतने दिन सम्बन्धित शिक्षक स्कूलों से अनुपस्थित रहते थे और अध्यापन के काम पर ज़रूर असर पड़ता होगा। इससे जुड़ी एक समस्या यह भी थी कि यही वे दिन होते थे जब विश्वविद्यालय, महाविद्यालय वगैरह भी चालू होते थे। इसलिए इन संस्थाओं से स्रोत व्यक्तियों का आना भी मुश्किल हो जाता था।

इस तरह इन “विकेन्द्रित शिविरों” ने व्यवस्था और प्रबन्धन की कुछ समस्याएँ तो हल कर दीं, पर कई नई समस्याएँ भी पैदा कीं। स्रोत व्यक्तियों के काफी पेचीदा कार्यक्रम बनते थे और उनकी उपस्थिति के आधार पर शिविरों की कार्य योजना बनाना खासा मुश्किल काम हो जाता था। यदि हर शिविर स्थल के आसपास के महाविद्यालयों से स्रोत व्यक्ति उपलब्ध हो पाते तो शायद यह समस्या सुलझ जाती, मगर ऐसा सम्भव नहीं हो पाता था। फिर होता यह था कि किसी भी विषय से सम्बन्धित अध्यायों को स्रोत व्यक्तियों की उपलब्धता के आधार पर रखा जाता था। इसके कारण कई बार तार्किक कड़ियाँ नहीं बन पाती थीं। चूँकि प्रशिक्षण शिविरों का माहौल काफी खुला होता है, इसलिए शिक्षकों के सवाल किसी योजना के मोहताज नहीं होते। मगर समस्या यह होती थी कि छोटे-छोटे शिविरों में इन सवालों पर खुली चर्चा या प्रयोग करने की गुंजाइश नहीं होती थी।

व्यवस्था का एक पक्ष यह भी था कि हर शिविर स्थल पर किट सामग्री का इन्तज़ाम करना होता था। एक या दो सम्भाग-स्तरीय शिविरों में ही इस काम में काफी मेहनत हो जाती थी। परन्तु यदि 5-6 शिविर एक साथ करना होते थे तो काम और भी कठिन हो जाता था।

इन समस्याओं को विस्तार में बताने का एक मकसद है। यह समझने की ज़रूरत है कि क्रियान्वयन में शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण व सतत समर्थन के मज़बूत ढाँचे बनाना ज़रूरी होता है, और इन ढाँचों में जान फूँकने के लिए उत्कृष्ट गुणवत्ता के संसाधनों व स्रोत व्यक्तियों की भी ज़रूरत होती है।

प्रशिक्षण के सन्दर्भ में यह एक सीमा के रूप में उभरता है कि प्रक्रिया का कितना विकेन्द्रीकरण हो सकता है। इस सवाल का जवाब कई बातों पर निर्भर करता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों को जोड़ने के प्रयास किस हद तक सफल होते हैं। एक प्रमुख मुद्दा यह भी है कि उच्चतर विद्यालयों के शिक्षकों को जोड़कर उन्हें इस भूमिका के लिए तैयार करने में कितनी सफलता मिलती है। इन दोनों बातों के साथ जुड़ा मुद्दा समय भी है। इस तरह की विकेन्द्रित प्रक्रिया को स्थापित करने में समय लगता है। यह रातों-रात ट्रेनरों व स्रोत व्यक्तियों की ज़खला खड़ी करके नहीं होता। खास तौर से नवाचार के प्रसार के सन्दर्भ में यह सवाल महत्वपूर्ण है।

मगर इन विकास खण्ड स्तरीय शिविरों से शिक्षकों, खासकर निजी स्कूलों के शिक्षकों की संख्या पर सकारात्मक असर हुआ। अलबत्ता हो.वि.शि.का. समूह में यह बात लगातार होती रहती थी कि “बड़े शिविर” का माहौल बहुत महत्व रखता है। इसका अर्थ शायद यही लगाया जा सकता है कि प्रशिक्षण शिविर के दौरान कक्षा में बैठकर शिक्षकों को “पढ़ाने” के अलावा जो गतिविधियाँ होती थीं वे कार्यक्रम की दृष्टि से महत्वपूर्ण थीं। ऐसी गतिविधियों में शाम के समय शिक्षकों द्वारा विभिन्न चीज़ें सीखना, पुस्तकालय में या दीवार पत्रिका पर काम करना तथा विभिन्न विषयों पर फिल्म शो और व्याख्यान आदि शामिल थे।

स्वयं स्रोत दल के लिहाज़ से देखें तो इन “बड़े” शिविरों में तैयारी, फीडबैक, अध्यायों पर चर्चा, अवधारणाओं पर चर्चा वगैरह औपचारिक-अनौपचारिक दोनों स्तरों पर चलते थे। छोटे शिविरों में स्रोत दल का “क्रिटिकल मास” कभी इतना नहीं हो पाता था कि ये चीज़ें सम्भव हो पाएँ। फिर शिविर में मौजूद लोगों को वरिष्ठ स्रोत दल से कार्यक्रम के अन्य पहलुओं को समझने का मौका मिलता था। कई बार वरिष्ठ स्रोत दल सदस्यों की आपसी बहस में कार्यक्रम सम्बन्धी कई पहलुओं पर स्पष्टता आती थी। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि पूरी प्रक्रिया में एक गहनता के लिए भी यह समागम ज़रूरी लगता था।

इसलिए विकेन्द्रित मॉडल अपना लेने के बाद भी बीच-बीच में ज़िला या

जश्न-ए-तालीम

सम्भाग स्तर पर एक बड़ा प्रशिक्षण शिविर आयोजित करना जारी रखा गया था।

जो भी हो, प्रशिक्षण शिविर और उसकी तैयारी का वर्णन अपने आप में रोचक होगा क्योंकि इससे इस बात का अन्दाज़ मिलेगा कि इस समूह ने शिक्षक प्रशिक्षण पर कितना ध्यान दिया था।

प्रशिक्षण का मॉडल

हो.वि.शि.का. में शिक्षक प्रशिक्षण का मॉडल मूलतः इस बात पर आधारित था कि यदि शिक्षक स्वयं सीखने की प्रक्रिया में संलग्न हैं तो वे बच्चों को भी इस प्रक्रिया में सार्थक ढंग से जोड़ पाएँगे। दूसरे शब्दों में, जिन व्यक्तियों की अपनी सीखने की प्रक्रिया बाधित हो चुकी है वे विद्यार्थियों को सीखने के लिए प्रेरित नहीं कर सकते।

यह बहुत सन्तोष की बात है कि हो.वि.शि.का. में सहभागी शिक्षकों में यह बात सहजता से स्वीकार हुई थी। कार्यक्रम बन्द हो जाने के बाद पिपरिया क्षेत्र के शिक्षकों के साथ एक बैठक (20 अगस्त 2006) में यह साफ उभरा कि शिक्षक स्वयं के सीखने की प्रक्रिया और बच्चों के सीखने की प्रक्रिया को जोड़कर देखते हैं। जब पूछा गया कि आपके ख्याल से इस कार्यक्रम में बच्चे क्या सीखते थे तो बच्चों की बात बताते-बताते शिक्षक सहजता से खुद की बात भी करने लगते थे। कई बार तो यह समझ पाना भी मुश्किल होता था कि वे अपनी कक्षा की बात बता रहे हैं या प्रशिक्षण की। इस सन्दर्भ में, अब सेवा-निवृत्त हो चुकीं एक शिक्षिका शशिकला सोनी की बात सुनिए: “प्रजनन अध्याय [वे शायद ‘जन्तुओं का जीवन चक्र’ अध्याय की बात कर रही थीं] में मैंने किशोर भारती के पास दूधी नदी से, नालों से मेंढक के बच्चे [टैडपोल] इकट्ठे किए, उन्हें पानी में रखा, मेंढक बने। जैसे मक्खी वाला प्रयोग कराते थे और मक्खी उसमें से निकलती थी तो बच्चे चीख मारते थे।”

यह एक सकारात्मक रवैया माना जाना चाहिए कि शिक्षक बच्चों के विकास और अपने विकास को परस्पर सम्बन्धित प्रक्रिया मानते हैं। और यहाँ यह

उल्लेख करना ज़रूरी है कि स्वयं स्रोत दल के सदस्य भी इसमें से काफी-कुछ सीखते थे। बल्कि यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा कि स्रोत दल में इतने विविध संस्थानों से व्यक्तियों की लगातार सहभागिता का प्रमुख कारण ही यह था कि हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षण में उन्हें कुछ न कुछ शैक्षणिक उत्साह मिलता था। जैसे कार्यक्रम से जुड़े स्रोत व्यक्ति भरत पूरे (उस समय वे एक महाविद्यालय में प्राध्यापक थे) ने बताया, “प्रशिक्षण कार्यक्रम की समाप्ति पर जब घर लौटते, तो एक सुखद एहसास साथ होता कि इस बार क्या-क्या सीखने को मिला।...विषय से सम्बन्धित जानकारी का मुझमें कितना अभाव है, इसका एहसास यहीं मिला क्योंकि जब शिक्षक सामान्य-से लगने वाले प्रश्न पूछते और जब हम उत्तर देने में असहज महसूस करते, तब पता चलता कि अभी विषय में कितना और पढ़ना चाहिए। किसी भी विषय-वस्तु में अज्ञानता को स्वीकारने का साहस भी इन्हीं शिक्षकों से मिला...।”

कुल मिलाकर देखा जाए तो कार्यक्रम से जुड़ा हर व्यक्ति इस प्रक्रिया में सीखने और सिखाने में एक साथ शामिल था। इसी वजह से यह एक जश्न था – जश्न-ए-तालीम।

दूसरी समझ यह थी कि एक शिक्षक के लिए यह ज़रूरी है कि उसे विषय-वस्तु का गहरा ज्ञान हो। गहरे ज्ञान से तात्पर्य ढेर सारे शब्द, परिभाषाएँ, सूत्र याद होने से नहीं है। उसे उस विषय के तार्किक क्रम का, विभिन्न विषयों के साथ उसके सम्बन्ध का, उस विषय में ज्ञान हासिल करने व समझने की विधियों का अन्दाज़ होना चाहिए।

तीसरी समझ यह थी कि शिक्षक को अपने आप में और बच्चों की क्षमताओं में विश्वास होना चाहिए।

प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों को इस पद्धति के विभिन्न पहलुओं व क्रियान्वयन की समझ भी हासिल होनी चाहिए। खास तौर से हो.वि.शि.का. की कक्षा में शिक्षक की एक नई भूमिका और शिक्षण प्रक्रिया के खुलेपन, खोज के रोमांच जैसी चीज़ों में उन्मुखीकरण ज़रूरी था।

और यह तो था ही कि शिक्षक को कक्षा में जो कुछ कराना है, उसका अच्छा अभ्यास होना चाहिए।

जश्न-ए-तालीम

प्रशिक्षण का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष एक माहौल था जिसमें धीरे-धीरे शिक्षकों को यह महसूस होता था कि “नहीं आता” कहने से शर्मिन्दा नहीं होना पड़ेगा, बल्कि यह सीखने की दिशा में एक कदम होगा। शिक्षकों को यह भी विश्वास होने लगता था कि यहाँ गलती करना कोई अपराध नहीं है, गलती करने पर मखौल नहीं होगा, मदद मिलेगी। पिपरिया में शिक्षक गोष्ठी के दौरान शिक्षकों ने इस बात को इस रूप में कहा कि इससे शिक्षक की सर्वज्ञाता छवि को तोड़ने में काफी सफलता मिली थी और इसे वे एक सकारात्मक बात मानते थे। इसी कार्यक्रम ने उन्हें यह आत्मविश्वास दिया कि बच्चों के सामने कह सकें कि “मुझे पता नहीं है, करके देखते हैं, शायद पता चल जाए”। इसके अलावा यह भी सामने आया कि हो.वि.शि.का. प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों की आँखें खुल जाती थीं कि प्रयोगों के अवलोकन उनकी सैद्धान्तिक सोच या समझ के अनुसार नहीं आते।

हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षण में इन सारे मुद्दों को एक साथ सम्बोधित करने का प्रयास किया गया था।

एक सामान्य कक्षा का खाका खींचने से इसे समझने में मदद मिलेगी। मगर उससे पहले प्रतिदिन की तैयारी का एक चित्र प्रस्तुत करना ठीक होगा। शिक्षक प्रशिक्षण शुरू होने से तीन दिन पहले स्रोत दल प्रशिक्षण स्थल पर पहुँच जाता था और प्रशिक्षण की तैयारी शुरू हो जाती थी। इस तैयारी में कई काम होते थे और इनसे एक आभास मिलता है कि हो.वि.शि.का. स्रोत दल में श्रम विभाजन जैसी कोई चीज़ नहीं थी। प्रशिक्षण की तैयारी में स्रोत शिक्षकों व प्रशिक्षु शिक्षकों के आवास की व्यवस्था मुकम्मल करना, लाइट-पंखे लगवाना, पीने के पानी की व्यवस्था करवाना, भोजन व्यवस्था बनाना, कक्षा के लिए दरियों का इन्तज़ाम करवाना, किट सामग्री को व्यवस्थित जमाना, तीन सप्ताह का टाइम टेबल बनाना, स्रोत दल की टोलियाँ बनाकर उन्हें अध्याय आवंटित करना, स्रोत दल द्वारा अपने-अपने अध्यायों की तैयारी करना वगैरह काम शामिल थे। ये सारे काम स्रोत दल द्वारा मिल-जुलकर निपटाए जाते थे। दरअसल कई बार इनमें से वे काम ज़्यादा अहमियत अख्तियार कर लेते थे जिन्हें “प्रशासनिक” या “व्यवस्थागत” काम कहा जाता है।

अलबत्ता यहाँ हम शैक्षणिक तैयारी की ही बात करेंगे। शुरू के तीन दिनों के दौरान कोशिश यह होती थी कि स्रोत दल की टोली को मिले सारे अध्यायों का एक मोटा-मोटा खाका तैयार कर लिया जाए। इसी दौरान किट सामग्री की जाँच कर लेने का काम भी होता था। प्रत्येक अध्याय के लिए ज़रूरी किट सूची बनाना भी तैयारी का एक बड़ा काम था क्योंकि किट कक्ष को पता होना चाहिए था कि किस दिन किस कक्षा में किस अध्याय के लिए किट की आवश्यकता है। यदि टोली कोई नया प्रयोग सोचती तो इसकी सूचना भी किट कक्ष को होनी चाहिए थी। प्रशिक्षण के दौरान यह किट कक्ष एक क्लियरिंग हाउस जैसा बन जाता था।

इन्हीं तीन दिनों में उन प्रयोगों की व्यवस्था भी कर लेना होती थी जो लम्बी अवधि के हैं और जिनकी तैयारी काफी पहले से करनी होती है। जैसे, पौधों में प्रजनन में कृत्रिम परागण का प्रयोग करवाने के लिए स्रोत दल को पहले से किसी बाड़ी में जाकर मालिक से बात करके अनुमति ले लेना होती थी। इसी प्रकार से “परिवर्धन” अध्याय में एक प्रयोग था जिसमें अलग-अलग अवधि तक विकसित अपुडे एक ही दिन चाहिए होते थे। इनका इन्तज़ाम भी पहले से करना होता था। और भी कई प्रयोग थे जिनके बारे में कई दिन पहले से सोचना होता था। प्रशिक्षण के लिए इन प्रयोगों की एक चेक लिस्ट तैयार कर दी गई थी। इस पक्ष की एक कमज़ोरी यह कही जा सकती है कि इस तैयारी में प्रशिक्षु शिक्षक कभी शामिल नहीं हो पाए जबकि अपने स्कूल में उन्हें यह सारी तैयारी खुद करना होती थी।

इसके बाद एक-एक अध्याय की विस्तृत तैयारी का नम्बर आता था। स्रोत दल की प्रत्येक टोली से यह अपेक्षा होती थी कि वह उस अध्याय के सारे प्रयोग किट कक्ष में उपलब्ध सामग्री से करके देखे। यह अपेक्षा थोड़ी ज़्यादाती लग सकती है क्योंकि *बाल वैज्ञानिक* के सारे प्रयोग इतनी बार इतने लोग कर चुके थे कि उनकी “सफलता” पर कोई सन्देह नहीं था। मगर फिर भी यह आग्रह दो कारणों से ज़रूरी था। एक तो प्रत्येक टोली में हर बार नए सदस्य होते थे। उनके लिए ज़रूरी था कि वे प्रत्येक प्रयोग के विभिन्न आयामों के प्रति आश्वस्त हो जाएँ। दूसरी बात यह थी कि अनुभव से यह समझ बनी थी कि किट कक्ष द्वारा प्रदान की गई सामग्री

जश्न-ए-तालीम

या अन्य स्थानीय सामग्री से उस प्रयोग को करके देख लेना आवश्यक होता है क्योंकि परिस्थितियाँ बदलने पर कई बातें बदल जाती हैं।

तैयारी का एक पहलू यह भी होता था कि टोली को यह तय करना होता था कि कक्षा में वह अध्याय को किस तरह से प्रस्तुत करने जा रही है। इसमें अध्याय की भूमिका, नए प्रयोग, प्रश्नों की प्रकृति वगैरह बातों पर ध्यान दिया जाता था। तैयारी के ही दौरान यह भी तय करना होता था कि अध्याय हो जाने के बाद मूल्यांकन के लिए किस तरह के सवाल दिए जाएँगे।

तैयारी में एक पक्ष तब जुड़ा जब स्रोत शिक्षकों को प्रशिक्षण की प्रमुख भूमिका सौंपी गई। प्रत्येक टोली अपनी तैयारी करने के बाद एक खाका पूरे स्रोत समूह के सामने पेश करती थी और वहाँ चर्चा के आधार पर उसमें संशोधन वगैरह कर लेती थी।

इस तैयारी को लेकर स्रोत दल की टोली प्रतिदिन कक्षा में पहुँचती थी। किट कक्ष द्वारा दिया गया सामान साथ होता था।

प्रतिदिन पाँच घण्टे

प्रशिक्षण शिविर में एक आम कक्षा करीब 40-50 शिक्षकों की होती थी। पहले ही दिन 4-4 शिक्षकों की टोलियाँ बना दी जाती थीं। आगे का अधिकांश काम टोलियों में ही करना होता था। प्रत्येक शिक्षक को सम्बन्धित कक्षा की *बाल वैज्ञानिक* व अन्य ज़रूरी सामग्री दे दी जाती थी। पिछले दिन की कक्षा की गतिविधि का प्रतिवेदन रोज़ कक्षा में पढ़ना एक परम्परा-सी थी।

आम तौर पर प्रशिक्षण सत्र सुबह सात-साढ़े सात बजे शुरू होकर एक-डेढ़ बजे तक चलता था, बीच में आधे घण्टे की छुट्टी रहती थी।

जिस तरह से शिक्षकों की टोलियाँ होती थीं, उसी तरह से स्रोत दल भी टोलियों में कक्षा में पहुँचता था। स्रोत दल की एक टोली में 4-5 स्रोत व्यक्ति होते थे। इनमें से कोई एक कक्षा में नेतृत्व व संचालन की भूमिका निभाता था। यह सदस्य अध्याय का थोड़ा परिचय वगैरह देकर कार्यवाही शुरू करता था। यह परिचय अलग-अलग रूपों में होता था। जैसे कोई

टोली सीधे किसी धमाकेदार प्रयोग से शुरू करना चाहती थी, तो कोई अन्य टोली शिक्षकों के पास पहले से उपलब्ध समझ के आधार पर आगे बढ़ती थी। कभी-कभी स्रोत दल किसी ऐसे प्रश्न से भी शुरू करता था जो उस अध्याय का मूलभूत सवाल है। यहाँ सन्देश यह था कि शिक्षक अपनी कक्षा में भी परिस्थिति के अनुसार अध्याय में रद्दोबदल कर सकते हैं।

अब प्रयोगों का सिलसिला शुरू होता था। स्रोत दल के सदस्य शिक्षकों की विभिन्न टोलियों में बँटकर उन्हें प्रयोग करने में मदद करते थे क्योंकि कोशिश यह थी कि प्रत्येक शिक्षक प्रयोग करने की विधि भलीभाँति सीख जाए। प्रयोग करके अवलोकन लिख लेने के बाद पहले तो टोली में ही उन पर चर्चा होती थी और उसके बाद पूरी कक्षा में। इस चर्चा का एक आधार (शायद प्रमुख आधार) *बाल वैज्ञानिक* में उस प्रयोग से सम्बन्धित सवाल होते थे, मगर स्रोत दल की कोशिश होती थी कि चर्चा के दौरान अन्य सन्दर्भित सवाल भी जुड़ते जाएँ।

इस तरह काम करने में शुरुआत में काफी दिक्कत होती थी क्योंकि प्रायः शिक्षक यह मानकर चलते हैं कि उन्हें आता ही है या वे सिर्फ पढ़कर या सुनकर समझ सकते हैं। अन्य प्रशिक्षणों में यही होता भी है। शुरुआत में कई शिक्षक प्रयोग करने को लेकर झिझकते थे, टालमटोल करते थे। जैसे पहले ही शिविर (1972) में शिक्षकों से एक मेज़ की लम्बाई नापने को कहा गया, तो उनका जवाब था, “अरे यह तो बच्चों का खेल है। कोई गम्भीर काम बताइए।” जब यशपाल ने उन्हें ठेलते हुए कहा, “अरे यार करके तो देखो,” तब उन्होंने यह प्रयोग किया और भौंचक्के रह गए कि उन्हें नापना तक नहीं आता।

वैसे भी हाथ से काम करने, इसे सीखने का एक तरीका मानने में शिक्षकों को थोड़ी अड़चन होती है। पुस्तकों में संचित ज्ञान को ही वे आदर्श पढ़ाई मानकर चलते हैं। ज्ञान की खोज वगैरह में उनकी इतनी रुचि दिखाई नहीं पड़ती। यह बात औपचारिक रूप से विज्ञान पढ़ चुके (बी.एससी., एम.एससी.) शिक्षकों में तो और भी ज़्यादा नज़र आती है। वे इस प्रक्रिया से पूरी तरह अनभिज्ञ होते हैं और उनका इस तरह के खुले दायरे में ज्ञान अर्जित करने का कोई अनुभव नहीं होता। इसलिए प्रयोग करने, स्वयं सोचने, अपने

जश्न-ए-तालीम

अवलोकन पर ध्यान देकर उस पर विश्वास करने के लिए तैयार होने में उन्हें थोड़ा समय लगता है। उनको एक दिक्कत यह होती थी कि उन्हें लगता था कि अधिकांश प्रयोग इतने आसान हैं कि वे जानते हैं कि अवलोकन क्या होंगे। इसलिए इन्हें करना उन्हें समय की बरबादी लगती थी। उदाहरण के लिए, पानी का क्वथनांक ही लें। बच्चा-बच्चा जानता है कि पानी 100° सेल्सियस पर उबलता है। मगर करके तो देखिए। हो.वि.शि.का. के तीस सालों के इतिहास में एक बार भी पानी 100° सेल्सियस पर नहीं उबला। जब ना-नुकर करते हुए शिक्षक इसे कर लेते तो उत्साह देखते बनता था। क्योंकि इसके बाद यह समझने की बारी आती थी कि आखिर पानी “ठीक” तरह से व्यवहार क्यों नहीं कर रहा है। जब बात निकलती तो उन्हें याद आने लगता कि पानी के क्वथनांक के साथ कुछ शर्तें थीं - वह क्वथनांक “सामान्य दाब” पर था और “शुद्ध पानी” का था।

इसी प्रकार के अनुभव तब भी होते थे जब कोई ऐसा चुम्बक हाथ में आ जाता जिसके दोनों सिरों पर उत्तर ध्रुव होते।

वैसे देखा गया था कि प्रशिक्षण आगे बढ़ने के साथ अधिकांश शिक्षक प्रयोग करने लगते थे - अधिकांश रुचि से, कुछ ठेलने से। कई बार तो प्रयोग सामग्री हाथ में आने के बाद उन्हें रोकना मुश्किल हो जाता था। नए-नए विचार उभरने लगते थे, नए-नए प्रयोग होने लगते थे। उम्मीद तो यह होती थी कि वे अपनी कक्षा में भी इसकी गुंजाइश रखेंगे। मगर यह बताना भी जरूरी है कि अन्ततः पूरे माहौल के बावजूद कुछ शिक्षक प्रयोग किए बिना ही लौट जाते थे।

प्रयोग करने में रुचि के अलावा एक दिक्कत और होती थी। वह दिक्कत थी कौशल की। अधिकांश शिक्षकों ने या तो कभी प्रयोग किए ही नहीं होते थे या बहुत पहले कभी किए होते थे। और सम्भवतः उन्होंने अपनी पढ़ाई के दौरान जो प्रयोग किए होते थे वे बिलकुल अलग मकसद से किए होते थे। उनमें अपेक्षित उत्तर लाना ही प्रमुख लक्ष्य रहा होता था - वे प्रयोग सत्यापन के लिए किए गए होते थे (जैसे पानी का क्वथनांक 100° सेल्सियस निकालने के लिए)। अनुभव यह रहा कि बड़ी संख्या में शिक्षकों में अत्यन्त साधारण प्रयोग करने के हुनर का भी अभाव होता है। अतः

प्रशिक्षण में यह एक प्रमुख सरोकार होता था कि हर शिक्षक प्रयोग खुद करके देख ले।

प्रयोग कर लेने के बाद बारी आती थी अवलोकन रिकॉर्ड करने की। जो देखा उसे सीधे-सादे शब्दों में कहना और लिखना, तालिकाबद्ध करना, चित्र के माध्यम से दर्शाना वगैरह इस प्रक्रिया के प्रमुख अंग थे। खास तौर से चित्र बनाने में अधिकांश शिक्षकों को काफी मशक्कत करनी पड़ती थी। जो देखा है उसे चित्र रूप में उतारने की आदत ही नहीं होती थी। खास तौर से जीव विज्ञान वाले हिस्से में परेशानी का सामना करना पड़ता था। जैसे बीज का अध्ययन करते हुए चित्र बना रहे हैं, तो चित्र ठीक उतना बड़ा बनेगा जितना बड़ा बीज था और यदि बड़ा करके बनाया तो अनुपात गड़बड़ा जाएँगे। सूक्ष्मदर्शी तो कई तरह से एक विशेष अनुभव होता ही था। यहाँ प्रशिक्षण का एक प्रमुख पक्ष उभरता था। आम तौर पर हम सबकी आदत होती है कि जो देख रहे हैं उसे प्रस्तुत करते समय (चाहे चित्र के माध्यम से या शब्दों में) हम वह कहते या बनाते हैं जो हमारे मन में पहले से बैठा है – सामने पत्ती कोई भी हो, हम वही प्रारूपिक पत्ती बना देंगे। इस बात पर काफी ज़ोर देना पड़ता था कि अवलोकन रिकॉर्ड करने का मतलब क्या होता है।

इसके बाद का हिस्सा और भी समस्यामूलक होता था, यानी सामूहिक चर्चा के ज़रिए निष्कर्ष निकालना। इसमें प्रशिक्षक का काम आदर्श रूप में चर्चा सुनिश्चित करने वाले व्यक्ति यानी **facilitator** का होता था। शिक्षकों से अपेक्षा होती थी कि वे अपने अवलोकनों की व्याख्या करते हुए क्रमिक रूप से एक सामूहिक निष्कर्ष पर पहुँचें। सामूहिक चर्चा, एक-दूसरे की व्याख्या को सुनना व समझना, उसे तर्क व अवलोकन की कसौटी पर परखना, नए अवलोकनों व तर्कों के परिप्रेक्ष्य में खुद के मत की समीक्षा करना, उसमें संशोधन करना, निष्कर्ष निकल आने पर उसकी पुष्टि के तरीकों पर विचार करना आदि प्रक्रियाएँ काफी अजनबी-सी होती थीं और श्रमसाध्य भी। इसीलिए संचित ज्ञान का शॉर्टकट अपनाने को लगातार मन करता था। (यह कहना लाज़मी है कि कई स्रोत व्यक्तियों का भी यही मन करता था।) सामूहिक चर्चा की ज़िम्मेदारी आम तौर पर स्रोत दल टोली में से कोई एक

जश्न-ए-तालीम

व्यक्ति सम्हालता था। प्रयोग के अवलोकनों को बोर्ड पर क्रम से लिखना, सामान्य से अलग अवलोकनों को छॉटना, उन पर चर्चा करके असामान्यता के कारण ढूँढना, ज़रूरी हो तो प्रयोग को दोहराना इत्यादि पहले दौर के काम होते थे।

यह हो जाने के बाद अवलोकनों की व्याख्या बहुत आसान होती थी और साफ दिखाई भी पड़ती थी। कुछ मामलों में एक से ज़्यादा व्याख्याएँ सम्भव होती थीं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्याख्या की छानबीन की जाती थी। इन व्याख्याओं को किसी अन्य परिस्थिति में लागू करके सवाल पूछे जाते थे। जैसे यदि यह व्याख्या सही है तो अमुक परिस्थिति में क्या होगा? कई बार ये प्रश्न सैद्धान्तिक या मानसिक प्रयोग होते थे। मगर कभी-कभी ये ऐसे प्रयोग भी होते थे जिन्हें करके देखा जा सकता था। यह तरीका भी अपनाया जाता था कि प्रयोग करने के पहले ही पूछें कि प्रस्तावित व्याख्या के अनुसार क्या अवलोकन आएँगे और फिर प्रयोग करके उत्तर की जाँच करें। इस तरह वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न तत्त्वों में तैरते-उतराते, डगमगाते हुए कक्षा आगे बढ़ती थी।

यह हिस्सा काफी मुश्किलों से भरा होता था। प्रयोग कर लेने के बाद शिक्षक चाहते थे कि उन्हें निष्कर्ष लिखवा दिए जाएँ। यदि यह न हो सके तो कम से कम जब वे किसी निष्कर्ष पर पहुँचें तो तुरन्त बता दिया जाए कि वह सही है या नहीं। ये दोनों पद्धतियाँ नहीं अपनाई जातीं। स्रोत दल अड़ा रहता कि सही-गलत का निर्णय भी शिक्षकों को ही करना है। मगर शिक्षक आश्वस्त नहीं हो पाते। प्रशिक्षणों में कई बार शिक्षकों ने यह असन्तोष ज़ाहिर किया कि उनके सवालों के जवाब नहीं दिए जाते।

कक्षा की इस नई परिपाटी में कई बार एक कदम आगे, दो कदम पीछे चलना, विचलन होना, भटकना, बह जाना वगैरह चलता रहता। जो लोग (पाठ्य पुस्तक द्वारा निर्धारित) एक सरल रेखा में शिक्षण के आदी थे, उनको यह बहुत ऊबड़-खाबड़ लगता और समय की बरबादी भी लगता। परन्तु आश्चर्य की बात है कि अधिकांश शिक्षकों को इसमें मज़ा आने लगता था और खोज का आनन्द भी मिलता था। कई बार लगता था कि इतना

आसान-सा प्रयोग है, शिक्षकों को बिलकुल मज़ा नहीं आएगा, पर पता चलता कि वे तल्लीनता से उसे करने में लगे हैं।

मगर पूरी प्रक्रिया में एक सन्तुलन की ज़रूरत होती थी। स्रोत दल को निर्णय करना होता था कि शिक्षकों का कोई समूह किस हद तक “खोज प्रक्रिया” को आगे ले जा सकता है और किस मुकाम के बाद हताशा की स्थिति आ रही है। यह एक मुश्किल व परिस्थिति पर निर्भर फैसला है जो किसी भी शिक्षक को करना होता है। अपनी कक्षा में शिक्षकों को भी यह फैसला करना होता है। मगर “खोज” की परतों को खुलने का पूरा मौका दिया जाना चाहिए।

कुछ और प्रक्रियाएँ

प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों का समय-समय पर मूल्यांकन किया जाता था। यह मूल्यांकन करने का मकसद उन्हें प्रशिक्षण के अन्त में ग्रेड देना नहीं बल्कि यह होता था कि यह पता चल सके कि पाठ्यक्रम के कौन-से हिस्सों में उन्हें और मदद की ज़रूरत है। वैसे तो प्रतिदिन के अध्यापन के दौरान बीच-बीच में प्रश्नों के माध्यम से पता चलता रहता था कि बात कहाँ तक पहुँच रही है। मगर कुछ अवधारणाओं को लेकर विशेष तौर पर परीक्षण भी किया जाता था। इसके लिए समय-समय पर “लघु प्रश्न” दिए जाते थे जिनके बारे में शिक्षकों ने कई बार कहा कि वे “अति-दीर्घ प्रश्न” होते थे। ये प्रश्न इस तरह बनाए जाते थे कि उनमें किसी अध्याय की मूल बातों की जाँच हो जाए। इन प्रश्नों को जाँचने के बाद शिक्षकों से चर्चा के दौरान अध्याय के कुछ हिस्सों की पुनरावृत्ति की जाती थी।

प्रशिक्षण के अन्त में एक प्रायोगिक परीक्षा भी ली जाती थी। इसके दो मकसद थे। एक तो कुछ अन्दाज़ लगता था कि प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों की प्रायोगिक कुशलता का कितना विकास हो पाया है। दूसरा मकसद यह था कि शिक्षकों को प्रायोगिक परीक्षा का एक एहसास मिल जाए क्योंकि हो.वि.शि.का. में वार्षिक परीक्षा में 40 प्रतिशत अंक प्रायोगिक परीक्षा के लिए रखे गए थे।

जश्न-ए-तालीम

चूँकि प्रशिक्षण के दौरान कक्षाओं में काफी खुलापन होता था, इसलिए शिक्षकों की ओर से ऐसे कई सवाल उठते थे जो तत्काल विषय से सम्बन्धित नहीं होते थे या यह डर होता था कि उन पर चर्चा शुरू हुई तो कक्षा में उस समय चल रही प्रक्रिया पूरी तरह पटरी से उतर जाएगी। कभी-कभी कार्यक्रम या पद्धति वगैरह से सम्बन्धित सवाल भी होते थे। ऐसे सवालों को उस समय तो मुलतवी कर दिया जाता था, मगर हर सप्ताह के अन्त में इनके लिए समय रखा जाता था जिसे “शंका समाधान सत्र” कहते थे।

हो.वि.शि.का. में परीक्षा का मकसद व तरीका एकदम अलग था, इसलिए यह भी ज़रूरी समझा गया था कि प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों को परीक्षा के विभिन्न पहलुओं से भी परिचित करवाया जाना चाहिए। हो.वि.शि.का. की परीक्षा में पूछे जाने वाले सवालों की प्रकृति का कुछ अन्दाज़ तो उन्हें “लघु प्रश्नों” व प्रायोगिक परीक्षा से मिल जाता था, मगर प्रशिक्षण के दौरान कुछ सत्र खास तौर से प्रश्न पत्र बनाने के लिए भी रखे जाते थे। इन सत्रों में शिक्षकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे विभिन्न अध्यायों व अवधारणाओं, कुशलताओं वगैरह से सम्बन्धित ऐसे प्रश्न बनाएँ जो खुली किताब परीक्षा के लिए उपयुक्त हों तथा मात्र रटी हुई जानकारी को उगलवाने वाले न हों। हरेक टोली अलग-अलग प्रश्न बनाती थी और फिर उन पर पूरी कक्षा में खुली चर्चा होती थी। इसके अलावा परीक्षा के उद्देश्य, प्रश्न पत्र में सन्तुलन, अंकों के पुनर्निर्धारण वगैरह को लेकर चर्चा भी इन्हीं सत्रों में की जाती थी।

कक्षा का एक महत्वपूर्ण हिस्सा प्रतिदिन पिछले दिन का प्रतिवेदन पढ़ने का होता था। बारी-बारी से प्रत्येक शिक्षक टोली प्रतिवेदन लिखकर प्रस्तुत करती थी। उम्मीद यह की जाती थी कि यह परिपाटी पाँच घण्टे के प्रशिक्षण कार्य पर शिक्षकों के फीडबैक का माध्यम बनेगी। कुछ हद तक ऐसा हुआ भी था। कई बार प्रतिवेदनों में स्रोत दल के कक्षा संचालन पर टिप्पणियाँ की जाती थीं, अनुत्तरित सवाल लिखे जाते थे, साथी शिक्षकों पर टिप्पणियाँ भी होती थीं, कार्यक्रम के सम्बन्ध में राय व्यक्त की जाती थी। मगर अधिकांश शिक्षक पिछले दिन का विवरण देने और स्रोत शिक्षकों

के बारे में अच्छी-अच्छी बातें कहने से आगे नहीं जाते थे। यह सम्भव है कि वे सचमुच वही महसूस करते हों, मगर ज़्यादा सम्भव यह लगता है कि आलोचना या समीक्षा को निन्दा का पर्याय मानकर वे किसी भी तरह की समीक्षा से परहेज़ करते थे। वैसे प्रतिवेदन लिखने में शिक्षकों की साहित्यिक रचनात्मकता काफी कुलौंचें भरती थी। आपको पद्य में लिखे गए प्रतिवेदन मिल जाएँगे, उपमाओं और अलंकारों से भरपूर प्रतिवेदन मिल जाएँगे, किन्तु फीडबैक की एक स्वस्थ परम्परा के रूप में यह बखूबी विकसित नहीं हो पाया।

फीडबैक बैठक

हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षण में एक और स्वस्थ परिपाटी विकसित हुई थी। प्रतिदिन प्रशिक्षण सत्र के बाद स्रोत दल द्वारा उस दिन के क्रियाकलापों की सामूहिक समीक्षा करना प्रशिक्षण कार्यक्रम का अभिन्न अंग बन गया था। इसके लिए रोज़ दोपहर में फीडबैक बैठक आयोजित होती थी। कक्षाएँ दोपहर करीब 1 बजे समाप्त होती थीं। दोपहर 2 बजे तक भोजन वगैरह करके थोड़ी फुरसत मिल ही पाती थी कि फीडबैक बैठक की पुकार लग जाया करती थी। मई-जून में होशंगाबाद में दोपहर का तापमान 40° सेल्सियस से ऊपर ही होता है। ऐसे में 3 बजे फीडबैक बैठक एक त्रास के रूप में भी महसूस होती थी, मगर वह होती ज़रूर थी। प्रशिक्षु शिक्षक चाहते तो इस बैठक में आ सकते थे।

प्रत्येक कक्षा का फीडबैक प्रस्तुत करने के लिए एक व्यक्ति नियुक्त किया जाता था जो प्रायः कोई वालंटियर होता था। उससे उम्मीद होती थी कि वह कक्षा की सामान्य कार्यवाही के विवरण के अलावा उसकी एक समीक्षा प्रस्तुत करे। यह समीक्षा स्रोत दल की भूमिका को भी समेटती थी। इसके अलावा कक्षा में उठे प्रमुख सवाल भी सामने रखे जाते थे। इस फीडबैक रिपोर्ट के आधार पर सामूहिक चर्चा होती थी। यह चर्चा कई बार स्रोत दल बनाम फीडबैक रिपोर्टर का रूप ले लेती थी। मगर कुल मिलाकर यह पूरे प्रशिक्षण को समृद्ध करने का काम करती थी। इसके आधार पर स्रोत दल अपने आगे के नियोजन में सुधार करता था, कई अवधारणाओं की सफाई

जश्न-ए-तालीम

होती थी, कई नए विचार उभरते थे। दरअसल यह सुबह के प्रशिक्षण का ही विस्तार कहा जा सकता है जहाँ एक अर्थ में स्रोत दल स्वयं अपना प्रशिक्षण कर रहा होता था।

इस व्यवस्था के अनुभव काफी मिले-जुले रहे। इसका एक पक्ष तो मानवीय पक्ष है। जैसे ही कोई फीडबैक रिपोर्टर स्रोत दल की भूमिका पर सवाल खड़े करता, वैसे ही स्रोत दल की पूरी टोली अपना बचाव करने में जुट जाती। बात कभी-कभी व्यक्तिगत आक्षेप तक पहुँच जाती। कई बार ऐसा होता था कि एक ही कक्षा को लेकर काफी अलग-अलग एहसास होते थे, प्रक्रियाओं को लेकर अलग-अलग आकलन होते थे। दूसरी समस्या यह भी आती थी कि कई बार फीडबैक रिपोर्टर को बिलकुल अन्दाज़ नहीं होता था कि स्रोत दल क्या करने की कोशिश कर रहा था। चूँकि फीडबैक रिपोर्टर को उद्देश्य पता नहीं होता था इसलिए उसकी राय में स्रोत दल की भूमिका निरुद्देश्य हो जाती थी। स्रोत दल के बचाव की मुद्रा अख्तियार करने की बात तब ज़्यादा होने लगी जब स्रोत शिक्षकों ने कक्षा संचालन की प्रमुख ज़िम्मेदारी सम्हाली। इसका कारण उनके अपने आत्मविश्वास से जुड़ा होता था।

फीडबैक रिपोर्टिंग को लेकर एक समस्या बड़ी भारी थी। एक प्रशिक्षण शिविर में 6-7 से लेकर 8-10 कक्षाएँ होना आम बात थी। इसका मतलब होता था कि 3 बजे शुरू हुई बैठक चलती ही चली जाएगी। यदि आप एक कक्षा को आधे घण्टे का समय दे दें तो बैठक 3 से लेकर 5 घण्टे तक चलेगी। इसके बाद स्रोत दल को अगले दिन की तैयारी भी करनी होती थी। इस तरह ये अन्तहीन बैठकें एक समस्या बन गईं। फीडबैक रिपोर्टों को प्रशिक्षण देना एक काम बन गया – कैसे आप समझाएँगे कि किसी कक्षा की रिपोर्टिंग में किन बातों पर ध्यान केन्द्रित किया जाए, कौन-सी बातें छोड़ी जा सकती हैं वगैरह। और यह भी तब जब अधिकांश फीडबैक रिपोर्टर नए उत्साही वालंटियर होते थे। और उम्मीद यह होती थी कि वे अपनी रिपोर्ट लिखकर लाएँगे। यानी उन्हें दोपहर के भोजन और फीडबैक बैठक के बीच मिले एक घण्टे में बैठकर रिपोर्ट लिखना होती थी। इतनी लगन से लिखी गई रिपोर्ट की अधिकांश बातों को अनावश्यक कहा जाएगा तो दिल पर क्या गुज़रेगी।

इसलिए एक कोशिश यह शुरू हुई कि फीडबैक का थोड़ा मॉडरेशन किया जाए। फीडबैक बैठक से पहले सारे फीडबैक रिपोर्टर्स की एक बैठक होती थी जिसमें एक मॉडरेटर के साथ वे उन मुद्दों को चुन लेते थे जो मुख्य बैठक में प्रस्तुत किए जाएँगे। हालाँकि इससे फीडबैक बैठक में थोड़ी चुस्ती आई मगर अधिकांश लोगों को लगा कि “मज़ा” नहीं रहा। एक कोशिश और की गई थी। फीडबैक रिपोर्टर को स्रोत दल टोली का सदस्य बना दिया गया और उम्मीद की गई कि वे पहले अपनी एक बैठक कर लें और फिर आपस में चर्चा के आधार पर सामूहिक फीडबैक बैठक में अपनी बात कहें।

इन तरह-तरह की कोशिशों से एक बात स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया को बहुत महत्वपूर्ण माना गया था और पूरी कोशिश थी कि यह उद्देश्यपूर्ण ढंग से और सकारात्मक माहौल में चल पाए।

परिणाम यह था कि करीब 5-6 बजे तक फीडबैक बैठक पूरी करके स्रोत दल को अगले दिन की चिन्ता सताने लगती थी। इस तरह से 18 दिनों के प्रशिक्षण में स्रोत दल प्रतिदिन करीब 11-12 घण्टे काम करता था। कार्यक्रम से जुड़े शिक्षक गर्व से इस बात को याद करते हैं। शुरुआती वर्षों में तो रविवार अवकाश भी नहीं होता था।

फैलता कार्यक्रम, बदलता प्रशिक्षण

जब कार्यक्रम 16 स्कूलों में चलता था तब प्रशिक्षण में स्रोत व्यक्तियों के रूप में विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों के अध्यापक और विभिन्न प्रयोगशालाओं के वैज्ञानिक हुआ करते थे। इन दिनों प्रशिक्षणों की एक खूबी यह थी कि प्रशिक्षण सत्र के दौरान विषयों की परतें खुलती जाती थीं, प्रश्न-प्रतिप्रश्न होते रहते थे, नए-नए प्रयोग ऐन मौके पर ही डिज़ाइन हो जाते थे, और विषयों की आपसी कड़ियाँ भी बनती चलती थीं। ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद भी प्रशिक्षण की मुख्य ज़िम्मेदारी इसी समूह ने उठाई थी। साथ में कुछ उत्साही शिक्षकों को स्रोत शिक्षकों के रूप में शामिल किया गया था। मगर प्रशिक्षण के दौरान इनकी भूमिका कक्षा के संचालन में सहयोगी की ही थी। ये टोलियों को प्रयोग करवाने, उनमें उठ रहे प्रश्नों पर चर्चा करवाने या टोलियों द्वारा अपनी बात को सामूहिक चर्चा के दौरान

जश्न-ए-तालीम

प्रस्तुत करने में मदद करते थे। यह एक महत्वपूर्ण भूमिका थी, मगर कक्षा की बागडोर स्रोत व्यक्तियों के हाथ में ही रहती थी।

वैसे तो हो.वि.शि.का. में आगे बढ़ने के विषय में सोच-विचार एक निरन्तर प्रक्रिया थी, मगर एकलव्य के गठन के बाद 1982-83 में आगे बढ़ने का एक मॉडल उभरा था। इसके अन्तर्गत विचार यह था कि पहले इस कार्यक्रम को प्रदेश के तीन सम्भागों (होशंगाबाद, उज्जैन व इन्दौर) के समस्त जिलों के एक-एक शाला संकुल में रोपा जाए और फिर वहाँ विकसित संसाधनों की बुनियाद पर आगे बढ़ाया जाए। इसका मतलब यह होता कि कुछ ही वर्षों में यह कार्यक्रम 14 जिलों के सब स्कूलों में फैलाने की स्थिति आ जाती। आगे भी इसी तरह बढ़ने का प्रस्ताव था। इस योजना की व्यावहारिकता का एक मोटा-मोटा आकलन भी किया गया था। इस विचार-विमर्श में एक प्रमुख पक्ष शिक्षक प्रशिक्षण की ज़रूरत का था।

यह स्पष्ट था कि यदि इतने बड़े पैमाने पर कार्यक्रम को फैलाना है तो बड़ी संख्या में शिक्षकों का प्रशिक्षण छोटी-सी अवधि में करना ज़रूरी होगा। एक मोटे अनुमान के मुताबिक इन 14 जिलों में तीन वर्षों की अवधि में प्रति वर्ष करीब 20,000 शिक्षकों को प्रशिक्षित करने की ज़रूरत होती। यह काम तत्कालीन स्रोत दल के लिए कदापि सम्भव न होता। इसलिए यह सोचा गया था कि यह काम स्रोत शिक्षकों को सौंपा जाना चाहिए। शिक्षक प्रशिक्षण का यह मॉडल कितना कारगर होता, इस बारे में अटकलें ही लगाई जा सकती हैं। इस दृष्टि से देखें तो शिक्षक प्रशिक्षण किसी भी नवाचार के लिए एक चुनौती प्रस्तुत करता है।

बहरहाल, 1987 में इन्दौर में आयोजित एक शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान स्रोत शिक्षकों की तैयारी को परखने, उनकी सीमाओं का अन्दाज़ लगाने व इस मॉडल की सम्भावनाओं को टटोलने के लिए एक प्रयोग किया गया। इस प्रशिक्षण में पहली बार यह फैसला हुआ कि स्रोत शिक्षक कक्षा संचालन की बागडोर सम्हालें और “विशेषज्ञ स्रोत व्यक्ति” उनकी मदद करें। मदद का मतलब यह माना गया था कि प्रशिक्षण कक्षा की तैयारी करते समय स्रोत व्यक्ति गहन चर्चाएँ करवाएँगे, वैकल्पिक रणनीतियों पर विचार करेंगे और

कक्षा में उपस्थित रहेंगे ताकि कोई भी जटिल परिस्थिति निर्मित होने पर मदद कर सकें।

इस शिविर के दौरान व बाद में भी इस प्रक्रिया के अनुभवों का विश्लेषण इस दृष्टि से उचित होगा कि इसमें आगे बढ़ने की सम्भावनाओं के सूत्र छिपे हैं।

प्रशिक्षण कक्षाओं में स्रोत शिक्षकों के कामकाज में एक बात स्पष्ट थी। ये स्रोत शिक्षक *बाल वैज्ञानिक* को भलीभाँति आत्मसात कर चुके थे और किसी भी अध्याय को व्यवस्थित ढंग से पूरा करवाने में सक्षम थे। *बाल वैज्ञानिक* का एक-एक प्रयोग करने में और करवाने में भी वे बहुत निपुण थे। प्रयोगों में किस ढंग की सावधानियाँ रखनी होंगी, किस तरह के अवलोकन आने की उम्मीद की जानी चाहिए, गलतियों के स्रोत कहाँ-कहाँ हैं वगैरह बातें भी ये शिक्षक बखूबी जानते थे। यानी प्रशिक्षण के दौरान *बाल वैज्ञानिक* का प्रशिक्षण देना इनके लिए कठिन काम नहीं था।

मगर इसके साथ एक बात चिन्तित करने वाली थी। अधिकांश स्रोत शिक्षक *बाल वैज्ञानिक* को अत्यन्त यांत्रिक ढंग से पूरा करते थे। यानी वे एक लीक पर चलते थे – प्रयोग करवाए, किताब में दिए गए प्रश्नों पर सबके विचार लिए, सही उत्तर तक पहुँचे और फिर अगले प्रयोग पर चल दिए। वे भटकाव, विचलन व पगडण्डियों से बचकर चलते थे। इसके पीछे उनका तर्क यह होता था कि जो शिक्षक प्रशिक्षण में आए हैं उन्हें स्कूल में अपनी शिक्षकीय भूमिका निभाने के लिए ज़रूरी है कि वे सारे प्रयोग कर लें और *बाल वैज्ञानिक* में दिए गए सारे प्रश्नों के उत्तर जान जाएँ। बतौर शिक्षक यह उनके लिए ज़रूरी था। इसलिए “फालतू” की बातों में समय ज़ाया नहीं करना चाहिए। यानी कक्षा में जो कुछ करवाना है और शिक्षक प्रशिक्षण के बीच वे एक-एक की संगति बनाना चाहते थे। और उनका मानना था कि स्कूलों में *बाल वैज्ञानिक* करवाना (यानी उसके सारे प्रयोग करवा देना और सारे प्रश्नों के उत्तर “उभरवा” देना) ही प्रमुख काम है।

दूसरी बात यह थी कि कक्षा में जब भी ऐसे सवाल उठते जो उन्हें गैर ज़रूरी लगते, मगर सम्बन्धित शिक्षक जवाब पाने का आग्रह करते, तो वे

जश्न-ए-तालीम

विशेषज्ञ को आगे कर देते थे। इसका कक्षा के समीकरण पर एक विचित्र असर होता था। जल्दी ही शिक्षक यह बात ताड़ लेते थे कि स्रोत शिक्षक सिर्फ *बाल वैज्ञानिक* के दायरे में रहना चाहते हैं, इसलिए वे जानबूझकर ऐसे सवाल पूछा करते थे। मगर यह उतनी दिक्कत की बात नहीं थी। शिक्षक यह भी पकड़ लेते थे कि एक “विशेषज्ञ” वहाँ मौजूद है जो समय-समय पर हस्तक्षेप करेगा। लिहाज़ा होता यह था कि कोई भी विवाद होने पर शिक्षक विशेषज्ञ की ओर देखने लगते कि वह निपटारा करे। कई बार तो स्रोत शिक्षक स्वयं भी इसमें शामिल हो जाते थे। इस वजह से कक्षा में एक नए किस्म की अस्वस्थ सत्ता स्थापित हो जाती थी।

कई बार फीडबैक बैठकों में इस बात पर चर्चा होती थी कि स्रोत शिक्षक ने अच्छी-खासी चलती हुई चर्चा को रुकवा दिया, या वास्तव में प्रशिक्षु शिक्षक सही कह रहे थे मगर स्रोत शिक्षक ने उन्हें गलत ठहरा दिया, या चर्चा के दौरान सही उत्तर आते ही उन्होंने बातचीत को रोक दिया वगैरह। यह समस्या कुछ हद तक इस बात का परिणाम थी कि अधिकांश स्रोत शिक्षकों की “विज्ञान” विषय की पकड़ काफी कमज़ोर थी।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि हो.वि.शि.का. में शिक्षकों के प्रशिक्षण को एक सतत प्रक्रिया माना गया था। ठोस रूप में यह सातत्य तीन प्रमुख रूपों में सामने आता है – अनुवर्तन (फॉलो-अप), मासिक गोष्ठियाँ और *होशंगाबाद विज्ञान* नामक बुलेटिन।

अनुवर्तन

सबसे पहले तो स्कूलों में अनुवर्तन यानी फॉलो-अप की व्यवस्था की गई। अनुवर्तन की ज़रूरत दो कारणों से महसूस की गई थी। एक कारण यह था कि कक्षा में पढ़ाते समय शिक्षक को कई दिक्कतें आती हैं और उसे वहाँ मदद की ज़रूरत होती है। ये दिक्कतें कई तरह की हो सकती हैं। दूसरा कारण यह था कि कार्यक्रम के संचालन और सामग्री के बारे में फीडबैक एकत्रित करना काम का एक ज़रूरी हिस्सा माना गया। शुरुआत में कार्यक्रम से जुड़े स्रोत दल के सदस्य नियमित रूप से अनुवर्तन का काम करते थे। आगे चलकर उच्चतर माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों, शाला

निरीक्षकों व माध्यमिक शालाओं के प्रधानाध्यपकों को भी इस काम में जोड़ा गया था। इसे कार्यकारी दल (operational group) का नाम दिया गया था। बाद में माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों को भी अनुवर्तन की ज़िम्मेदारी सौंपी गई थी और धीरे-धीरे अधिकांश अनुवर्तन कार्य माध्यमिक शालाओं के शिक्षक ही करने लगे थे। 1977-78 में गठित इस कार्यकारी दल से कार्यक्रम में विभिन्न भूमिकाएँ निभाने की अपेक्षा थी। खास तौर से स्कूली अनुवर्तन तथा आगे चलकर शिक्षक प्रशिक्षण में इसकी प्रमुख भूमिका सोची गई थी। इस दल को कोई औपचारिक रूप नहीं दिया गया था। इसमें चुने जाने के लिए कोई स्पष्ट मापदण्ड भी नहीं थे। स्रोत दल के साथ विभिन्न अन्तर्क्रियाओं के दौरान देखा जाता था कि वे कौन से शिक्षक हैं जो कार्यक्रम की मूल भावना को पकड़ चुके हैं, हुनरमन्द हैं और उत्साहित हैं तथा अन्य शिक्षकों को प्रशिक्षण दे सकते हैं।

हो.वि.शि.का. में कार्यक्रम के संचालन के विभिन्न ढाँचे मूलतः कोठारी शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन से उभरे थे। इनमें एक प्रमुख विचार शाला संकुल व संगम केन्द्र का था। अनुवर्तन कार्य की योजना बनाना और उसे क्रियान्वित करना संगम केन्द्र की ज़िम्मेदारी थी। होशंगाबाद (व आगे चलकर हरदा) ज़िले में प्रत्येक विकास खण्ड में एक संगम केन्द्र होता था और इससे लगभग 50-60 शालाएँ सम्बद्ध होती थीं। अन्य ज़िलों में प्रत्येक संगम केन्द्र 7-8 स्कूलों की ज़िम्मेदारी उठाता था। शाला संकुल की कल्पना मात्र एक प्रशासनिक इकाई के रूप में नहीं की गई थी। यह भी सोचा गया था कि उच्चतर माध्यमिक शालाओं के शिक्षक माध्यमिक शालाओं में शैक्षणिक मार्गदर्शन का काम करेंगे। इसी सोच के तहत अनुवर्तन कार्य की ज़िम्मेदारी उन्हें सौंपी गई थी। शुरु में तो यह व्यवस्था थी कि ज़िला शिक्षा अधिकारी कार्यालय में स्थापित विज्ञान इकाई हर महीने अनुवर्तन रिपोर्टों का विश्लेषण करके मासिक गोष्ठी का एजेण्डा तय करेगी, मगर बाद में यह व्यवस्था अव्यावहारिक साबित हुई और यह काम भी संगम केन्द्र को सौंप दिया गया। मगर उच्च व उच्चतर माध्यमिक शालाओं में इस विचार को कभी भी दिल से नहीं अपनाया गया। महीने में दो बार किसी शिक्षक का अनुवर्तन कार्य पर जाना वहाँ एक व्यवधान के रूप में ही देखा गया। इस

जश्न-ए-तालीम

वजह से अनुवर्तन कार्य खटाई में पड़ता लगा। इससे जुड़ी दूसरी समस्या और भी अजीब थी।

हो.वि.शि.का. में अनुवर्तन को स्पष्ट रूप से निरीक्षण से अलग माना गया था। अनुवर्तन एक शैक्षणिक कार्य था और शिक्षक की मदद के लिए था और शैक्षणिक फीडबैक हासिल करने के लिए था। धीरे-धीरे कई शिक्षक यह शिकायत करने लगे थे कि उच्चतर माध्यमिक शालाओं से आने वाले अनुवर्तनकर्ता प्रायः हो.वि.शि.का. की कक्षा तथा पाठ्यक्रम की ज़रूरतों से अनभिज्ञ रहते हैं। लिहाज़ा वे कक्षा में उपस्थित होने वाली दिक्कतों के सन्दर्भ में कोई मदद नहीं कर पाते। इसी से सम्बन्धित दूसरी शिकायत यह थी कि इनमें से कुछ अनुवर्तनकर्ता अपने काम को निरीक्षण के रूप में लेते हैं और मददगार की बजाय अधिकारी के रूप में पेश आते हैं। इन दोनों कारणों से माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों को कार्यकारी दल में शामिल किया जाने लगा था। हालाँकि इसके अनुभव भी बहुत अच्छे नहीं कहे जा सकते। एक तो किसी शिक्षक के लिए यह बहुत मुश्किल होता था कि वह महीने में दो बार अपना स्कूल छोड़कर किसी अन्य स्कूल में मदद के लिए जाए। स्कूलों में शिक्षकों की कमी के चलते यह और भी मुश्किल होता था। इसलिए अनुवर्तन एक ऐसी व्यवस्था थी जो आवश्यक व उपयोगी लगते हुए भी सबसे पहले कमज़ोर पड़ी। इसके कमज़ोर पड़ने में स्कूलों में शिक्षकों की कमी के अलावा समय पर यात्रा भत्ता का भुगतान न हो पाना जैसी प्रशासनिक दिक्कतों की भी भूमिका थी।

अनुवर्तन के कमज़ोर पड़ने का एक कारण समझ की कमी भी रहा। हो.वि.शि.का. में पहली बार अनुवर्तन की व्यवस्था बनाई गई थी। प्रशासन को यह एक अनावश्यक व्यवस्था लगती थी। प्रशासन की एक शिकायत यह थी कि एक बार जब प्रशिक्षण हो चुका है तो हर महीने और मदद की क्या ज़रूरत है। इस तर्क को इस रूप में रखा जाता था कि अनुवर्तन करते रहने का मतलब है कि प्रशिक्षण में कोई कमी है। अभी हाल तक हालत यह थी कि शासकीय शिक्षक एक बार प्रशिक्षण कोर्स पूरा करके नियुक्त होते थे तो पीछे मुड़कर नहीं देखते थे। पाठ्यक्रम बदल जाए, पाठ्य पुस्तक बदल जाए, प्रशासन की बला से। (शिक्षकों की तैयारी के इस पक्ष की उपेक्षा सचमुच चिन्तनीय है। एक ओर तो “जानकारी के विस्फोट” के नाम पर

पाठ्य पुस्तकों में जानकारी ढूँढते जाना तथा दूसरी ओर शिक्षकों की तैयारी पर बिलकुल ध्यान न देना, इसे विडम्बना ही कहा जा सकता है। पाठ्यक्रम न बदले तो भी शिक्षकों को सतत मदद व समर्थन की ज़रूरत तो होती ही है। जैसा कि पहले भी कहा गया है, शिक्षक की खुद की सीखने की प्रक्रिया उसके उत्साह की दृष्टि से बहुत महत्व रखती है। इसके अभाव में शिक्षण कार्य के यांत्रिक होते जाने का खतरा बना रहता है।)

दूसरी ओर स्वयं अनुवर्तनकर्ता भी प्रायः यह नहीं समझ पाते थे कि उनसे अपेक्षा क्या है। अनुवर्तन कार्य का प्रशिक्षण देने के भी प्रयास हुए थे। कार्यकारी दल के सदस्यों को न सिर्फ *बाल वैज्ञानिक* का पूरा प्रशिक्षण दिया जाता था, बल्कि उन्हें अनुवर्तन की बारीकियों से अवगत कराने हेतु अलग से प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था थी। एक समय पर अनुवर्तन रिपोर्ट लिखने के लिए एक प्रपत्र भी तैयार किया गया था, मगर इससे भी बात नहीं बनी। यह भी कोशिश की गई थी कि अनुवर्तनकर्ताओं को कुछ स्पष्ट कार्य दिए जाएँ, जैसे बच्चों के साथ कुछ परीक्षण करना वगैरह। मगर कुल मिलाकर अनुवर्तन का मकसद सीमित रूप में ही पूरा हुआ।

मासिक गोष्ठियाँ

शिक्षकों के लिए सतत प्रशिक्षण व मदद के लिए दूसरा मंच मासिक गोष्ठियों का था। हर महीने हरेक संगम केन्द्र पर शिक्षकों की एक गोष्ठी आयोजित की जाती थी। इस गोष्ठी (जिसे शुरू में अनुवर्तन गोष्ठी कहते थे) में अनुवर्तनकर्ताओं की रिपोर्ट में से प्रमुख मुद्दे चुनकर उन पर विचार-विमर्श होता था। विचार यह था कि इन गोष्ठियों में वे मुद्दे उठेंगे जिनका निराकरण स्कूल अनुवर्तन के दौरान नहीं हो पाया होगा या जिनका निराकरण तो हो गया होगा मगर उनका सम्बन्ध मात्र एक स्कूल से नहीं है और उन पर सबके बीच चर्चा करना उपयोगी होगा। यह भी सोचा गया था कि यदि किसी स्कूल से किसी नए प्रयोग, नए विचार आदि की जानकारी मिलती है तो मासिक गोष्ठियाँ उसको प्रसारित करने का भी मंच बनेंगी। प्रत्येक गोष्ठी में सारे शिक्षक शामिल नहीं होते थे, बल्कि स्कूल की परिस्थिति के अनुसार 1-2 शिक्षक भाग लेते थे।

जश्न-ए-तालीम

हालाँकि समय के साथ इन गोष्ठियों के स्वरूप में काफी बदलाव आया, मगर अन्त तक ये शिक्षकों के बीच तथा शिक्षकों व स्रोत दल के बीच परस्पर वार्तालाप का जीवन्त मंच बनी रहीं। कार्यक्रम के ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद प्रति माह 11 गोष्ठियाँ तथा अन्य ज़िलों में प्रसार के बाद प्रति माह 23 गोष्ठियाँ नियमित रूप से होती रहीं। शिक्षकों को एक शैक्षणिक समूह के रूप में विकसित करने की दिशा में यह एक सशक्त कदम रहा।

ज़ाहिर है कि जब अनुवर्तन प्रक्रिया कमज़ोर पड़ी तो मासिक गोष्ठियों का मूल स्वरूप बाधित हुआ। अनुवर्तन से शैक्षणिक मुद्दे आना कम होता गया। एक दौर आया जब मासिक गोष्ठियों में या तो किट के अभाव की चर्चा होती थी या यात्रा भत्ता भुगतान की समस्याओं की। यह सही है कि ये मुद्दे भी महत्वपूर्ण थे और मासिक गोष्ठियों में इन पर चर्चा होना भी महत्व रखता था, मगर कक्षा के अनुभवों पर, बच्चों के सवालों पर, शैक्षणिक दिक्कतों पर या विषय सम्बन्धी चर्चा बिलकुल भी न होना चिन्ता का विषय बना। यह 1983-84 की बात है।

इस समय स्रोत दल में काफी चर्चाओं के बाद यह तय किया गया कि हर माह मासिक गोष्ठियाँ के एजेण्डा में अनुवर्तन रिपोर्टों से उभरे मुद्दों के अलावा कुछ मुद्दे स्रोत दल द्वारा भी निर्धारित किए जाएँगे। ये मुद्दे *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों की पुनरावृत्ति के भी होते थे और अध्यायों को ज़्यादा गहराई से समझने के भी होते थे। कभी-कभी शिक्षकों के साथ पाठ्यक्रम के विभिन्न पहलुओं को साझा करने के प्रयास भी किए गए। इस प्रयास के फलस्वरूप मासिक बैठकें एक बार फिर जीवन्त हो उठीं। मगर इस व्यवस्था में नियोजन काफी केन्द्रीकृत हो गया था और स्कूलों से उठे मुद्दे गौण होने लगे थे। इस समस्या को सम्बोधित करने के लिए एक और प्रयास किया गया।

इस प्रयास के तहत सारे संगम केन्द्रों के प्रभारी शिक्षकों और संगम केन्द्र के स्कूलों से जुड़े कार्यकारी दल के 1-2 शिक्षकों की एक तैयारी गोष्ठी करना शुरू किया गया। संगम केन्द्र पर होने वाली मासिक अनुवर्तन गोष्ठी से पहले पूरे ज़िले से कार्यकारी दल के करीब 30-35 शिक्षक बैठकर मासिक

गोष्ठी का एजेण्डा तय करते और उसकी तैयारी करते। फिर वे अपने-अपने संगम केन्द्र पर उसी के अनुसार मासिक गोष्ठियों का संचालन करते। अब स्रोत दल के लोगों का प्रमुख काम तैयारी गोष्ठी में अच्छी तरह तैयारी करवाना हो गया। अलबत्ता, इसके बाद भी स्रोत दल के व्यक्ति मासिक गोष्ठी में उपस्थित रहते थे और लगभग वही भूमिका निभाते थे जो वे शिक्षक प्रशिक्षण के नए स्वरूप में निभाने लगे थे। मासिक गोष्ठी के इस नए संस्करण का एक फायदा यह हुआ कि गोष्ठियों में शैक्षणिक विचार-विमर्श में वृद्धि हुई और साथ ही स्थानीय मुद्दों के लिए भी गुंजाइश बनी रही।

मासिक गोष्ठियों ने शिक्षकों के सतत प्रशिक्षण में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका तो निभाई ही, साथ ही शिक्षकों को कार्यक्रम के विभिन्न पहलुओं में जोड़ने में भी योगदान दिया। मासिक गोष्ठियों की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका शिक्षकों के बीच शैक्षणिक आदान-प्रदान के एक मंच के रूप में रही। ये गोष्ठियाँ वह मंच भी बनीं जहाँ वे अपनी समस्याएँ उठा सकते थे।

बुलेटिन

सतत प्रशिक्षण का तीसरा ठोस स्वरूप एक बुलेटिन के रूप में था जिसका नाम था *होशंगाबाद विज्ञान*। ज़िला स्तरीय प्रसार के साथ ही ऐसी एक पत्रिका की कल्पना की गई जो कार्यक्रम की आन्तरिक पत्रिका हो और कार्यक्रम सम्बन्धी विमर्श के लिए एक मंच प्रदान करे। ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद 1980 में इस पत्रिका का प्रकाशन शुरू हो गया था और कमोबेश लगातार होता रहा।

एक ओर तो यह बुलेटिन शिक्षकों तक कार्यक्रम सम्बन्धी जानकारियाँ व सूचनाएँ पहुँचाने का साधन थी, दूसरी ओर इसके माध्यम से शिक्षा व अन्य विषयों पर विमर्श भी सम्भव होता था। इसके अलावा यह शिक्षकों के लिए भी अभिव्यक्ति का एक माध्यम बनी। इसमें शिक्षक कार्यक्रम को लेकर अपने विचार बेबाक ढंग से प्रकट करते थे। इसे सम्भव बनाने के लिए हो.वि.शि.का. समूह को विशेष प्रयास करना पड़ा था। आम तौर पर सरकारी कर्मचारियों को अपने विचार (खास तौर से आलोचनात्मक विचार) प्रकट करने की आज्ञादी नहीं होती। इसलिए लोक शिक्षण आयुक्त को एक निर्देश प्रसारित



करना पड़ा कि होशंगाबाद विज्ञान में शिक्षक अपने विचार खुलकर व्यक्त करें, उन पर कोई कार्यवाही नहीं होगी।

स्रोत शिक्षकों का प्रशिक्षण

हो.वि.शि.का. जैसे बुनियादी नवाचार कार्यक्रम में शिक्षकों का उन्मुखीकरण एक प्रमुख चुनौती के रूप में उभरता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है पहले-पहल तो शिक्षकों के प्रशिक्षण व उन्मुखीकरण का काम विश्वविद्यालयों व शोध संस्थानों से आए स्रोत व्यक्तियों ने किया। इन लोगों के पास विषय की गहरी समझ और आत्मविश्वास था। ये प्रशिक्षण शिविरों और मासिक बैठकों में चर्चाओं को खुलेपन से करने में सक्षम थे। ये लोग ऐन मौके पर नई-नई गतिविधियाँ तैयार कर सकते थे और तर्क को आगे बढ़ा सकते थे। दरअसल 1972-77 के दौर में शिक्षक प्रशिक्षण का स्वरूप कुछ अलग था -

- इसमें न सिर्फ शिक्षकों को अध्यापन कार्य के लिए तैयार करने की कोशिश होती थी, बल्कि विषय-वस्तु व सामग्री का निर्माण भी होता था, परीक्षा पद्धति विकसित करने के प्रयास होते थे और कार्यक्रम सम्बन्धी विविध विचार-विमर्श भी होते थे। मगर जब कार्यक्रम का प्रसार हुआ तो यह विशेषज्ञ समूह काफी छोटा साबित होने लगा। इस समय शिक्षकों के कार्यकारी दल की कल्पना की गई।

यह सवाल कई बार पूछा गया है कि कार्यकारी दल में शिक्षकों का चयन किस तरह किया जाता था। इस प्रश्न का जवाब देना मुश्किल है क्योंकि इसकी कोई व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं थी। मोटे तौर पर तरीका यह था कि शिक्षक प्रशिक्षण और अनुवर्तन के दौरान अनुभव के आधार पर कुछ सक्रिय व रुचि रखने वाले शिक्षकों को चिन्हित किया जाता था। इसके बाद उन्हें विभिन्न मंचों पर जोड़ा जाता था, जैसे प्रश्न पत्र बनाना, प्रश्न पत्र की समीक्षा, प्रशिक्षण वगैरह। इनमें भागीदारी ही चयन का आधार होती थी।

मगर इस प्रक्रिया के एक आयाम पर ध्यान दिया जाना चाहिए। हो.वि.शि.का. में चाहे प्रशिक्षण हो रहा हो या प्रश्न पत्र का निर्माण, भागीदारी व सक्रियता का माहौल होता था जिसके चलते उनमें शामिल हरेक व्यक्ति बढ़िया से बढ़िया प्रदर्शन करने को प्रेरित होता था और साथ ही लगातार अपनी क्षमताओं में वृद्धि भी करता था। एक बात यह भी थी कि कार्यक्रम के हर पहलू में इतनी तरह की भूमिकाएँ थीं और हर भूमिका को इतना सम्मान दिया जाता था कि हर व्यक्ति को अपने सर्वोत्तम प्रदर्शन का अवसर मिलता था।

शिक्षक प्रशिक्षण की बातचीत के दौरान हमने देखा कि जब इस समूह को प्रशिक्षण में सहायक की भूमिका से प्रमुख भूमिका में रखा गया तो किस तरह की समस्याएँ उपस्थित हुईं। सबसे प्रमुख समस्या यह थी कि अधिकांश शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान *बाल वैज्ञानिक* को यांत्रिक ढंग से पूरा करते थे। इस समस्या का एक पहलू तो यह था कि इस तरह यांत्रिक ढंग से करने पर शिक्षकों की पूरी तैयारी नहीं हो पाती थी। और वे अपनी कक्षा में तो इसका और भी तनु स्वरूप लागू करते थे। मगर समस्या का दूसरा पहलू भी उतना ही महत्वपूर्ण था। प्रशिक्षण का एकमात्र मकसद शिक्षकों

जश्न-ए-तालीम

को *बाल वैज्ञानिक* पढ़ाने के लिए तैयार करना नहीं था। कोशिश यह होती थी कि प्रशिक्षण में भाग लेने वाले शिक्षक कार्यक्रम की मूल भावना से परिचित हों और उससे भी आगे बढ़कर वे विज्ञान करने का रोमांच व आनन्द महसूस कर पाएँ। यह भी कोशिश होती थी कि शिक्षक बच्चों के सीखने की प्रक्रिया पर विचार करने को तैयार हों। कुल मिलाकर वे नवाचार को एक उत्पाद मानने की बजाय एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करें जिसमें वे स्वयं शरीक हैं।

मशीनी ढंग से *बाल वैज्ञानिक* करवा देना इस व्यापक मकसद की पूर्ति नहीं करता था। इसलिए यह सोचा गया कि स्रोत शिक्षकों को इस नई भूमिका के लिए तैयार करना ज़रूरी है। इसी के साथ स्रोत दल प्रशिक्षण की बात उभरी। स्रोत दल प्रशिक्षण की योजना बनाते समय यह विचार करना आवश्यक था कि खामी कहाँ है। क्यों स्रोत शिक्षक अपनी भूमिका को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं निभा पा रहे हैं? इस सम्बन्ध में कुछ स्रोत शिक्षकों का मत था कि मुख्य समस्या यह है कि प्रशिक्षण के दौरान शिक्षक तरह-तरह के सवाल उठाते रहते हैं। स्रोत शिक्षकों को इन सवालों के जवाब नहीं मालूम होते, इसलिए वे कोशिश करते हैं कि चर्चा ज़्यादा “भटकने” न जाए। परिणाम यह होता है कि चर्चाओं में ज़्यादा खुलापन नहीं आ पाता। उनके मुताबिक इसका एक आसान सा समाधान था: पिछले प्रशिक्षणों के प्रतिवेदनों को देखकर यह पता कर लिया जाए कि किस अध्याय में किस तरह के सवाल उठते हैं और स्रोत शिक्षकों को इनके जवाब अच्छी तरह समझा दिए जाएँ। मगर दूसरा विचार यह था कि ऐसे सारे सवालों का पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता। हर बार नया सवाल उठने पर हम वहीं के वहीं रहेंगे। इसलिए बेहतर होगा कि जवाब पाने की प्रक्रिया पर ध्यान दिया जाए। इसी विचार में से यह विचार निकला कि प्रमुख समस्या यह है कि अधिकांश स्रोत शिक्षकों की विज्ञान की औपचारिक पढ़ाई बहुत कम हुई है और विषय-वस्तु के लिहाज़ से वे बहुत सम्पन्न नहीं हैं। इसलिए विज्ञान के कुछ चुनिन्दा विषयों पर उनका विधिवत अध्यापन होना चाहिए।

इस दूसरे विचार में से ही स्रोत दल प्रशिक्षण का एक मॉडल उभरा। मॉडल यह था कि विज्ञान की कुछ बुनियादी अवधारणाएँ चुनी जाएँ और उनको कोर्स का रूप दिया जाए। स्रोत शिक्षक प्रशिक्षण शिविर 1995 में शुरू हुए

और उसके बाद कई शिविर आयोजित किए गए। इनमें अणु व परमाणु, आयनीकरण, विद्युत व इलेक्ट्रॉनिक्स, बुनियादी जैविक प्रक्रियाएँ व तंत्र, कोशिका संरचना व आनुवंशिकी, बल, दबाव आदि कई विषयों पर कोर्स करवाए गए। इन शिविरों में लगभग 100 स्रोत शिक्षकों ने भाग लिया।

एक विचार यह भी था कि एक पत्राचार-नुमा कोर्स भी चलाया जाना चाहिए मगर यह विचार आगे नहीं बढ़ा।

गांगुली समिति ने हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षण को अत्यन्त कारगर निरूपित किया था। समिति का मत था कि प्रशिक्षण व अनुवर्तन और मासिक गोष्ठियों की प्रक्रिया सही सिद्धान्तों पर टिकी है और उसने इस मॉडल को पूरी तरह स्वीकार्य माना था। शिक्षकों से चर्चा के आधार पर समिति इस निष्कर्ष पर पहुँची थी कि हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षण कार्यक्रम से सबसे ज्यादा लाभ उन शिक्षकों को मिला है जिनके अपने शैक्षणिक कैरियर में विज्ञान विषय नहीं रहा और वे सबसे उत्साहित शिक्षक हैं। समिति ने शिक्षकों के लिए सतत प्रशिक्षण व समर्थन को भी आवश्यक माना था। समिति ने मत व्यक्त किया था कि भविष्य में कार्यक्रम की सफलता इसी बात पर निर्भर करेगी कि शिक्षकों के व्यावसायिक विकास की इस प्रक्रिया को वर्तमान स्तर पर बनाए रखा जा सके।

पिपरिया में शिक्षकों के साथ एक गोष्ठी में शिक्षक प्रशिक्षण को लेकर सबका मत था कि यह बहुत सफल था, हालाँकि इस बात पर अलग-अलग राय थी कि कितने शिक्षक वास्तव में कार्यक्रम की भावना को पकड़ पाए थे। कार्यक्रम से 1972 से जुड़े हल्केवीर पटेल के अनुसार 50-60 प्रतिशत और एक अन्य शिक्षक प्रेम शंकर भार्गव के अनुसार 40 प्रतिशत शिक्षक अच्छी तरह तैयार हुए थे।

नवाचार की चुनौतियाँ

दरअसल शिक्षकों को नवाचार के लिए तैयार करना किसी भी ऐसे कार्यक्रम के लिए एक प्रमुख चुनौती रहेगी। यहाँ हमने बात की कि हो.वि.शि.का. में इस पक्ष पर किस तरह के प्रयास किए गए। इस सन्दर्भ में यह बात बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है कि कार्यक्रम की भावना को बड़े पैमाने पर फैलाने

जश्न-ए-तालीम

के लिए किस ढंग की प्रक्रियाएँ व किस तरह के ढाँचे उपयोगी होंगे। हो.वि.शि.का. का अनुभव बताता है कि सबसे कारगर प्रक्रिया वह होती है जब विशेषज्ञों और शिक्षकों के बीच सीधा संवाद सम्भव होता है। इस संवाद से न सिर्फ शिक्षकों में नवाचार के प्रति विश्वास पैदा होता है बल्कि कार्यक्रम भी समृद्ध होता है। मगर यह प्रक्रिया किस स्तर तक सम्भव है यह एक विचारणीय प्रश्न है। फिलहाल मुख्यधारा की शिक्षक प्रशिक्षण प्रक्रिया में जिस मॉडल का उपयोग किया जा रहा है उसमें कार्यक्रम नियोजकों और शिक्षक के बीच चार मध्यस्थ होते हैं। हो.वि.शि.का. में शुरु में प्रत्यक्ष संवाद की स्थिति थी और उसके बाद कार्यकारी दल के रूप में एक अतिरिक्त कड़ी बनी, मगर इसके बाद भी स्रोत दल स्वयं अधिकांश प्रशिक्षणों में उपस्थित रहता था। इसलिए शिक्षक व कार्यक्रम के बीच लगभग प्रत्यक्ष संवाद बना रहा।

लेकिन शिक्षकों की तैयारी के एक पहलू पर हमने यहाँ बिलकुल बात नहीं की है। हमने बात की है नवाचार के उस पहलू पर जिसका सम्बन्ध विज्ञान की विषय-वस्तु व पद्धति से है। मगर एक नवाचार मात्र इतना ही नहीं होता। इसमें दो और प्रमुख बातें होती हैं। इनमें से पहली बात है विज्ञान की अपनी प्रकृति की और दूसरी है शिक्षा के सामान्य सन्दर्भ की। सम्भवतः ये दोनों बातें हो.वि.शि.का. के प्रशिक्षणों व अन्य अन्तर्क्रियाओं में गुँथी हुई थीं मगर प्रत्यक्ष रूप से इस पहलू पर कोई व्यवस्थित काम नहीं हुआ।

एक महत्वपूर्ण बात का सम्बन्ध कार्यक्रम में शरीक विभिन्न लोगों के परस्पर सम्बन्धों के विकास से है। अच्छी विज्ञान शिक्षा (या यों कहें कि अच्छी शिक्षा) का एक महत्वपूर्ण पहलू विभिन्न भागीदारों के बीच ज़्यादा प्रजातान्त्रिक व समानता के सम्बन्धों का विकास है। इस दृष्टि से देखें तो हो.वि.शि.का. में एक संस्कृति विकसित हुई थी (की गई थी कहना ठीक नहीं होगा) जिसमें बच्चों और शिक्षकों के बीच, शिक्षकों के बीच, शिक्षकों व स्रोत दल के बीच, स्रोत दल व प्रशासन के बीच तथा शिक्षकों व प्रशासन के बीच गैरबराबरी को कम करने के प्रयास निहित थे। एक तरह से देखें तो हो.वि.शि.का. समूह के लिए यह संस्कृति कार्यक्रम का अभिन्न अंग ही थी। हर अन्तर्क्रिया में यह संस्कृति झलकती थी। शिक्षकों ने इसे महसूस किया और अधिकांशतः सकारात्मक रूप से लिया। भरत पूरे ने इस बात को इन

शब्दों में व्यक्त किया है: “खुला वातावरण एवं प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण सहभागिता का अवसर। सहभागिता से तात्पर्य अपनी बात कहने के अवसर मिलना, आप जब कोई बात कहेंगे तो सभी लोग उस पर ध्यान देंगे, जीवन्त समूह चर्चा होना आदि।”

अन्ततः सवाल यह उठता है कि शिक्षकों की तैयारी व उन्मुखीकरण पर इतना निवेश करने के बाद उपलब्धियाँ क्या हैं। इस सन्दर्भ में कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं किए गए हैं। जो कुछ भी कहा जा सकता है वह एहसास और प्रत्यक्ष अवलोकनों व अनुभवों के आधार पर ही कहा जा सकता है। उपलब्धियों को कई नज़रियों से देखा जा सकता है।

यदि विषय-वस्तु और विज्ञान की समझ की बात करें तो कुछ सीमित अध्ययनों से पता चलता है कि विज्ञान की बुनियादी अवधारणाओं की समझ में हो.वि.शि.का. में शामिल शिक्षक बेहतर साबित होते थे। कहना न होगा कि प्रयोग करने की कुशलता तथा वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न तत्वों की समझ की दृष्टि से ये शिक्षक बेहतर स्थिति में थे ही।

जहाँ तक परस्पर सम्बन्धों की बात है तो मासिक गोष्ठियों में व अन्य मंचों पर शिक्षकों की बेझिझक भागीदारी व तर्क क्षमता स्पष्ट नज़र आती थी। स्रोत दल के सदस्य हों या प्रशासनिक अधिकारी, दोनों के साथ ही ये शिक्षक काफी बेधड़क बातचीत करने में सक्षम थे। कई बार तो यह आलोचना का बिन्दु बनता था कि हो.वि.शि.का. के शिक्षक मुँहफट हो गए हैं।

वैसे शुरुआत में जब माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों को प्रशिक्षण में स्रोत शिक्षक बनाया गया था, तब अन्य शिक्षकों की कुछ प्रतिक्रिया हुई थी। मगर उनकी दक्षता ने शिक्षकों को कायल कर दिया कि उनके समकक्ष लोग भी प्रशिक्षण में स्रोत व्यक्ति हो सकते हैं। कार्यक्रम से शुरु से जुड़े एक शिक्षक का इस सम्बन्ध में अनुभव था कि “शुरुआत में कार्यकारी दल में शामिल हायर सेकण्डरी व्याख्याता यह स्वीकार नहीं कर पाए कि मिडिल स्कूल का एल.डी.टी. (उस समय इस पद का नाम निम्न श्रेणी शिक्षक था, जिसे बाद में बदलकर सहायक शिक्षक कर दिया गया था) उनके बराबर हो जाए। खास तौर से प्रशिक्षण में जब एल.डी.टी. को कक्षा संचालन का ज़िम्मा

जश्न-ए-तालीम

दिया जाता था और व्याख्याता को उनके सहायक के रूप में काम करना पड़ता था तो व्याख्याता इस बात को पचा नहीं पाते थे।”

आगे चलकर तो हो.वि.शि.का. के कार्यकारी दल के शिक्षकों ने अन्य राज्यों में जाकर शिक्षक प्रशिक्षण की जिम्मेदारी सम्हाली।

वास्तव में हो.वि.शि.का. में शिक्षक प्रशिक्षण के जितने सघन प्रयास किए गए उनका सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह कहा जा सकता है कि शिक्षकों का एक शैक्षणिक पेशेवर समूह उभरा। इस बात को पिपरिया में हुई शिक्षक गोष्ठी (अगस्त 2006) में सुश्री शशिकला सोनी ने इन शब्दों में रखा और लगभग सभी शिक्षक उनसे सहमत थे: “हो.वि.शि.का. ने शिक्षकों के लिए एक मंच बनाया और उन्हें एक पहचान दी। आज भी जब हो.वि.शि.का. के शिक्षक मिलते हैं तो एक सूत्र उन्हें आपस में बाँधता है।”

ऐसे समूह का विकास आगे की सम्भावनाओं को लेकर आशा जगाता है।

कक्षा के अनुभव

हमने अभी तक यह बात की कि हो.वि.शि.का. में किस तरह के प्रयास किए गए – *बाल वैज्ञानिक* कार्य पुस्तक, शिक्षक प्रशिक्षण, किट, शिक्षक निर्देशिकाएँ, सवालीराम, अनुवर्तन, मासिक गोष्ठियाँ वगैरह। इनका अलग-अलग विश्लेषण भी हमने किया। मगर ये सारे प्रयास जिनके लिए किए गए थे उनकी बात अभी तक हमने नहीं की है, यानी बच्चे। यह शायद खटक भी रहा होगा। इस खण्ड में हम हो.वि.शि.का. की एक कक्षा का खाका खींचने की कोशिश करेंगे। आदर्श रूप में कक्षा किस तरह की होगी यह तो सम्भवतः स्पष्ट हो ही गया होगा।

टोलियाँ

मोटे तौर पर कहें तो कक्षा में सारे बच्चे टोलियों में काम करेंगे। सबसे पहले शिक्षक बच्चों के साथ चर्चा के माध्यम से कुछ भूमिका बनाएँगे। या वे चाहें तो किसी प्रयोग या किसी आम अनुभव को भी भूमिका के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रत्येक टोली स्वतंत्र रूप से प्रयोग करेगी और अपने अवलोकन रिकॉर्ड करती चलेगी। कोई दिक्कत होने पर शिक्षक उनकी मदद करेंगे। यह दिक्कत प्रयोग करने में भी हो सकती है और अवलोकन करने में भी। बेहतर तो यह होगा कि शिक्षक टोलियों में कुछ सवालों वगैरह के माध्यम से बच्चों के बीच सोच प्रक्रिया शुरू करवाने का काम भी करेंगे। जहाँ ज़रूरी होगा बच्चे शिक्षक के साथ परिभ्रमण पर जाएँगे और अध्ययन के लिए सामग्री इकट्ठी करने के अलावा वहाँ उन चीज़ों का प्राकृतिक स्थिति में अध्ययन भी करेंगे।

जश्न-ए-तालीम

कक्षा में प्रयोग हो जाने के बाद शिक्षक विभिन्न टोलियों के अवलोकन बोर्ड पर लिखेंगे। इसके बाद सामूहिक चर्चा के ज़रिए गलत अवलोकनों पर ध्यान दिया जाएगा और ज़रूरी होने पर प्रयोग को दोहराया जाएगा। जब शिक्षक आश्वस्त हो जाएँगे तब अवलोकनों की सामूहिक व्याख्या होगी। हर बच्चे को मौका मिलेगा कि वह अपनी व्याख्या प्रस्तुत कर सके और अन्य छात्रों द्वारा प्रस्तुत व्याख्या पर तर्क कर सके। धीरे-धीरे कक्षा किसी सामूहिक निष्कर्ष पर पहुँचेगी। उम्मीद की जाएगी कि बच्चे अपनी नोट बुक में इस निष्कर्ष को ही नहीं बल्कि चर्चा का सार भी लिखेंगे। यहाँ शिक्षक कोशिश यह करेंगे कि बच्चे उस निष्कर्ष को आम जीवन के या किसी अन्य अनुभव से जोड़कर देख पाएँ। इसी के आधार पर अगले प्रयोग की भूमिका भी बन जाएगी।

सवाल यह उठता है कि इस आदर्श के रूबरू हकीकत कहाँ बैठती है। मगर एक आदर्श या प्रारूपिक कक्षा से तुलना करके कक्षाओं को देखना थोड़ा समस्यामूलक है, क्योंकि हो.वि.शि.का. में कक्षा को एक जीवन्त मंच माना गया था जो पर्यावरण, पाठ्य पुस्तक, शिक्षक व बच्चों के मिले-जुले योगदान से संचालित होगी। इस सोच के तहत यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि क्या हो.वि.शि.का. की सफलता के लिए ज़रूरी है कि *बाल वैज्ञानिक* में दिए गए सारे प्रयोग किए ही जाएँ, सारे प्रश्नों के उत्तर सिलसिलेवार उभर ही आएँ। शायद नहीं। तो फिर कक्षा को किस दृष्टि से देखा जाए? क्या यह देखना ज़्यादा उपयोगी होगा कि हो.वि.शि.का. में सीखने के जो विभिन्न मानक रखे गए थे, वे किस हद तक हासिल हो पाए हैं? लेकिन स्वतंत्र सोच का विकास, प्रायोगिक कुशलता का विकास, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास, प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति, अन्य लोगों के मत सुनने की तैयारी, अमूर्त चिन्तन वगैरह चीज़ों को क्या आप इतनी आसानी से पहचान सकते हैं? क्या ये सभी चीज़ें व्यापक परिवेश पर निर्भर नहीं हैं? इन सवालों के चलते हो.वि.शि.का. की कक्षा का आकलन करना मुश्किल है।

नवाचार व संसाधन

हो.वि.शि.का. के तहत दो-तीन बार यह समझने की कोशिश हुई थी कि

वास्तविक कक्षा की स्थिति क्या है। इसे थोड़ा मात्रात्मक रूप भी दिया गया था। इस हकीकत के दो हिस्से हैं। पहला हिस्सा व्यवस्थाओं व संसाधनों की उपलब्धता का है और दूसरा हिस्सा कक्षा संचालन का है। जैसे, ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद के कुछ वर्षों में स्कूलों में किट सामग्री की उपलब्धता एक प्रमुख समस्या बन गई थी। खासकर 1982 के बाद से इसने विकराल रूप धारण कर लिया था। आगे चलकर स्थिति में कुछ सुधार हुआ। किट के रख-रखाव की समस्या भी गम्भीर थी क्योंकि कई वर्षों तक शासन ने किट रखने के लिए अलमारी की व्यवस्था नहीं की थी।

संसाधन सम्बन्धी दूसरी समस्या प्रशिक्षित शिक्षकों की रही। लगातार स्थानान्तरण, पदोन्नति वगैरह के कारण हर साल कुछ स्कूलों में प्रशिक्षित शिक्षकों का अभाव हो जाता था। इसकी पूर्ति के लिए हर वर्ष प्रशिक्षण करना एक मजबूरी थी।

एक समस्या कक्षाओं में जगह की कमी की भी रही। वैसे तो यह एक ऐसी समस्या थी जिसका प्रभाव सारे विषयों के अध्यापन पर पड़ता है, मगर हो.वि.शि.का. में यह समस्या कुछ ज़्यादा ही प्रभाव डालती थी क्योंकि यहाँ आप टोलियों में काम करने की, प्रयोग करने की बात कर रहे हैं। शिक्षकों ने प्रायः कक्षा में बच्चों की संख्या की समस्या भी उठाई। हालाँकि इस मामले में काफी विविधता थी। कुछ स्कूलों में प्रति कक्षा 80-90 तक बच्चे होते थे, जबकि कुछ स्कूलों में प्रति कक्षा 7-8 बच्चे ही होते थे।

हो.वि.शि.का. में यह व्यवस्था की गई थी कि सप्ताह में प्रतिदिन एक कालखण्ड न रखकर सप्ताह में तीन दिन दो कालखण्ड एक साथ रखे जाएँ। कारण यह था कि करीब 30-35 मिनट के एक कालखण्ड में प्रयोग सामग्री का वितरण करना, प्रयोग करवाना और चर्चा करके बात को सिरे तक पहुँचाना मुश्किल होता था। दो कालखण्ड एक साथ रखने के अलावा प्रधान अध्यापकों से यह भी अपेक्षा थी कि ये दो कालखण्ड आधी छुट्टी के तुरन्त पहले या बाद में रखे जाएँ ताकि सामग्री वितरण वगैरह के लिए थोड़ा अतिरिक्त समय मिल जाए।

यदि वास्तविकता देखें तो यह व्यवस्था एक-तिहाई से ज़्यादा स्कूलों में नहीं

जश्न-ए-तालीम

बन पाई थी। हर वर्ष इसके लिए कोशिश की जाती थी मगर यह हो नहीं पाया। प्रधान अध्यापकों का कहना था कि यदि विज्ञान को दो कालखण्ड एक साथ देंगे तो बाकी तीन दिन किसी अन्य विषय को भी दो कालखण्ड एक साथ देने होंगे। अधिकांश शिक्षक किसी अन्य विषय के लिए ऐसी व्यवस्था नहीं चाहते थे। इस व्यवस्था के न होने का असर हो.वि.शि.का. अध्यापन कार्य पर पड़ता था।

कक्षा संचालन

बहरहाल, अब हम आते हैं दूसरे पक्ष पर यानी कक्षा संचालन के मुद्दे पर। इस मामले में दो-तीन बार जो सर्वेक्षण किए गए उनका मोटे तौर पर निष्कर्ष यही निकला कि लगभग एक-तिहाई स्कूलों में लगभग सारे प्रयोग बच्चे स्वयं करते हैं। जहाँ तक सामूहिक चर्चा के माध्यम से निष्कर्ष निकालने की बात है तो यह और भी कम स्कूलों में हो पाता था। इससे भी कम सम्भावना इस बात की थी कि अन्त में बच्चे स्वयं उत्तर लिखेंगे।

विभिन्न कारणों से हो.वि.शि.का. की कक्षाओं में बहुत विविधता होती थी। शिक्षक तमाम किस्म की रणनीतियाँ अपनाते थे। यह इस मायने में एक आम कक्षा से अलग था। पारम्परिक कक्षा संचालन का मुख्य तरीका पाठ्य पुस्तक वाचन होता है। बहुत हुआ तो शिक्षक बीच-बीच में रोककर एकाध स्पष्टीकरण देकर आगे बढ़ जाते हैं। हो.वि.शि.का. कक्षाओं के बारे में जो सबसे अच्छा रिकॉर्ड हमारे पास उपलब्ध है वह अनुवर्तन रिपोर्टों के रूप में है। ये अनुवर्तन रिपोर्टें स्रोत व्यक्तियों द्वारा लिखी हुई भी हैं और अनुवर्तनकर्ता शिक्षकों द्वारा भी। इनमें वैसे तो कक्षा के विस्तृत या बारीक अवलोकन शामिल नहीं हैं, मगर इनसे एक मोटा-मोटा चित्र तो बन ही सकता है। अनुवर्तन रिपोर्टों की एक मुख्य खामी यह है कि ये मूलतः कार्यक्रम के क्रियान्वयन के पक्षों को सामने रखती हैं; इनमें कक्षा का समग्र चित्र, वहाँ चल रहे वार्तालाप वगैरह का विवरण प्रायः नहीं होता।

अनुवर्तन रिपोर्टों के अलावा कई शिक्षकों से अनुरोध किया गया था कि वे अपनी कक्षा के अनुभव लिखकर दें। कुछ शिक्षकों ने काफी विस्तार से अपने अनुभव लिखकर भिजवाए। कार्यक्रम के विभिन्न तत्वों की स्थिति और एक समग्र परिदृश्य देखने में ये विवरण बहुत मददगार हैं।

इसी सन्दर्भ में पिपरिया क्षेत्र के शिक्षकों के साथ एक गोष्ठी भी रखी गई थी। इसके अलावा कुछ शिक्षकों से व्यक्तिगत बातचीत से भी कई बातें स्पष्ट हुईं।

कार्यक्रम बन्द होने के बाद शिक्षकों, छात्रों, पूर्व छात्रों व पालकों के साथ एक अध्ययन की योजना बनाई गई थी। यह अध्ययन तो पूरा नहीं हो पाया, मगर इसकी तैयारी के लिए किए गए पायलट अध्ययन से हमें कई बातें पता चलती हैं। यह पायलट अध्ययन 2003 में किया गया था। इस अध्ययन में शिक्षक प्रशिक्षण, *बाल वैज्ञानिक*, सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं तथा परीक्षा आदि के सम्बन्ध में मात्रात्मक आँकड़े एकत्रित करने के अलावा विस्तृत साक्षात्कार भी किए गए थे।

इन सबसे जो चित्र उभरता है वह काफी मिला-जुला है। जैसे तो हो.वि.शि.का. में सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को टुकड़ों में बाँटना ठीक नहीं है, मगर धीरे-धीरे ऐसा होने लगा था – प्रयोग हुए या नहीं, बच्चे टोलियों में बैठे थे या नहीं, चर्चा हो रही थी या नहीं, प्रश्नों के उत्तर बच्चों ने स्वयं लिखे या नहीं, निष्कर्ष सही निकले या नहीं, परिभ्रमण हुए या नहीं, लम्बी अवधि के प्रयोग किए गए या नहीं वगैरह। यह स्पष्ट होना चाहिए कि ये सब कुछ मिलकर ही हो.वि.शि.का. की शिक्षण विधि बनी थी। यह आग्रह कदापि नहीं था कि हर बार जब 70 मिनट की कक्षा हो तो इनमें से प्रत्येक आयाम की झलक मिलनी ही चाहिए। आग्रह यह था कि बच्चे अपने पर्यावरण से अन्तर्क्रिया और प्रयोगों के ज़रिए खोज करें। इसलिए कक्षा का आकलन इस समग्र नज़रिए से किया जाना चाहिए न कि उपरोक्त घटकों के अनुपात के आधार पर।

उदाहरण के लिए, कई अनुवर्तन रिपोर्टों में नज़र आएगा कि प्रयोग टोलियों में नहीं हो रहे हैं, या छात्र स्वयं नहीं कर रहे हैं, वे शिक्षक द्वारा प्रदर्शित किए जा रहे हैं। यह प्रक्रिया नकारात्मक ही मानी जाए ऐसा ज़रूरी नहीं है। देखना तो यह होगा कि क्या ऐसा लगातार हो रहा है और क्या इसके कारण बच्चे विज्ञान के एक अहम हिस्से (यानी प्रयोग करने) से वंचित हो रहे हैं।

पिपरिया की गोष्ठी में इस पहलू पर काफी चर्चा हुई थी। अधिकांश शिक्षकों

जश्न-ए-तालीम

का मत था कि समय के साथ प्रयोग होने में ढिलाई होने लगी थी। इस बात को लेकर ज़रूर मतभेद थे कि इसका कारण क्या है और निर्णायक गिरावट कब आई, मगर सभी इस बात से सहमत थे कि खासकर 90 के दशक में हालत खराब थी। इस बात को लेकर भी मतभेद थे कि हालत कितनी पतली थी। एक शिक्षक (एम. एल. पटेल) ने बताया कि कोर्स पूरा करने के दबाव में वे दोनों तरह से अध्याय करवाते थे। कुछ अध्यायों में प्रयोग वगैरह छोड़कर सीधे प्रश्नों के उत्तर लिखवाने की विधि अपनाते थे। एक अन्य शिक्षक (हल्केवीर पटेल) ने तो यहाँ तक कहा कि वे यह काम 1973 से करते आ रहे हैं। एक मत यह भी था कि खासकर प्राइवेट स्कूलों में स्थिति गम्भीर थी।

ऐसा मत है कि जो अध्याय या प्रयोग शिक्षक को कठिन लगते थे उनमें वे प्रायः प्रयोग कराने से कतराते थे। जैसे एक शिक्षिका शोभा बाजपेई ने अपने विवरण में बताया है कि “शुरू-शुरू में भोज्य पदार्थों में प्रोटीन का टेस्ट भी नहीं करवा पाती थी क्योंकि कभी सामग्री नहीं होती थी तो कभी 2%-10% के घोल बनाने में दिक्कत होती थी।”

एकलव्य द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण (वर्ष 2000) से पता चला था कि ऐसी आदर्श स्थिति बहुत कम स्कूलों में दिखती थी कि लगभग सारे प्रयोग बच्चे स्वयं कर रहे हों, और प्रयोगों के अवलोकनों पर चर्चा करके निष्कर्ष तक पहुँच रहे हों।

लेकिन जिन स्कूलों में यह व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी, वहाँ इसका प्रभाव कई मायनों में महत्वपूर्ण होता था। उदाहरण के लिए, शोभा बाजपेई के अनुभव देखिए: “अध्याय पूर्णतः प्रयोग आधारित होते थे और प्रयोगों में विभिन्न प्रकार की सामग्री का उपयोग होता था। टोलियाँ अलग-अलग बैठतीं व प्रयोग के अवलोकन नोट करना आदि भी साथ-साथ करती रहती थीं। आम तौर पर मैं विज्ञान के कालखण्ड आखरी में रखना पसन्द करती थी। जब कभी ज़रूरत हो तो थोड़ा अतिरिक्त समय (स्कूल की छुट्टी के बाद भी) भी पठन-पाठन के लिए मिल जाता था। अन्य कक्षाओं की छुट्टी होने के बाद भी बच्चे मज़े से अपना काम करते रहते थे। प्रयोग सामग्री लाने व रखने के लिए एक छात्र प्रभारी होती या होता और हर टोली से

एक छात्र बारी-बारी से किट की अलमारी से सामान लाने और व्यवस्थित रखने की जिम्मेदारी लेता। घर से लाने वाली चीज़ें कभी-कभी हर टोली अपनी-अपनी ले आती थी तो कभी कोई बच्चा 1-2 चीज़ें लाता और उसे टोलियों में बाँटते। प्रयोग करते-करते बच्चे इतने दक्ष हो जाते थे कि सारे काम कुशलतापूर्वक कर लेते। इस तरह के माहौल में पढ़ने के बाद बच्चों से हमारा रिश्ता बड़ा सहज हो गया था। इन कक्षाओं के अनुभव और उनके उत्साह और प्रभाव को हम दूसरे विषयों और अन्य गतिविधियों में ट्रांसफर होते महसूस करते थे। बच्चे रुचिपूर्वक सीखने का प्रयास करते थे। ये सारी चीज़ें उनको भविष्य में भी काम आईं। इस व्यवस्था ने उन्हें इतना निपुण कर दिया कि अन्य अवसरों पर भी काम की पूर्व तैयारी, काम के दौरान व्यवस्था और समापन के बाद के दायित्वों को हमने उन्हें भलीभाँति निभाते देखा है।”

सोहागपुर तहसील की एक कस्बाई शाला की अनुवर्तन रिपोर्ट (फरवरी 1983) से पता चलता है कि न सिर्फ बच्चे व्यवस्थित ढंग से प्रयोग कर रहे थे, बल्कि आपसी चर्चा के माध्यम से बात को समझ भी रहे थे: “शिक्षक ने छठवीं कक्षा में ‘दूरी नापना’ अध्याय शुरू करवाया था। पहले उन्होंने 1 से 7 प्रश्न तक का काम (चर्चा व कुछ प्रयोग) करवाया। इसमें उन्होंने गिल्ली-डण्डे का खेल खिलवाया और डण्डे से दूरी नपवाई, रस्सी और मीटर से कुएँ की गहराई नपवाई। बच्चियाँ खूब मस्ती से यह सब कर रही थीं। शिक्षक जो आँकड़े ब्लैक-बोर्ड पर लिखते थे बच्चियाँ बिना कहे अपनी कॉपी में लिखती थीं। सीखने की यह प्रक्रिया बहुत सहज लगी।...

“कक्षा 8 में ‘समय और दोलक’ पर चर्चा चल रही थी। इस अध्याय को काफी ध्यान से किया गया है, यह साफ दिख रहा था। धागे की लम्बाई बदलते जाने से दोलन काल पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके निष्कर्ष को लेकर थोड़ा भ्रम पैदा हो गया था। एक लड़की ने बहुत आत्मविश्वास से उस प्रयोग को दोहराया और अपने परिणामों की पुष्टि की।”

इसी का एक और व्यवस्थित रूप हमें धार की एक शाला (फरवरी 1988) में देखने को मिलता है: “पृथक्करण वाला अध्याय चल रहा था। छात्राएँ

जश्न-ए-तालीम

समूह में बैठी थीं। प्रत्येक समूह में 1 बीकर, छन्ने कागज़ की पट्टी तथा तार दिए गए। प्रत्येक समूह की एक छात्रा ने आकर पट्टी पर स्याही की एक बूँद लगाई। एक छात्रा द्वारा हर समूह के बीकर में पानी डाला गया। फिर प्रयोग शुरू हुआ (यानी पट्टी को बीकर में लटका दिया गया)। मैडम ने बच्चियों से कहा कि जब पानी पट्टी पर चढ़ता हुआ तार पर पहुँचने लगे तो पट्टी को निकालकर सुखा लें।”

या धार की एक शहरी शाला (सितम्बर 1988) का नज़ारा देखिए: “अम्ल, क्षार और लवण का अध्याय था। प्रयोग हेतु सभी आवश्यक घोल शिक्षक की टेबल पर रखे थे। बोर्ड पर प्रयोग सम्बन्धी तालिका बनाई गई थी और छात्रों से भी बनाने को कहा गया था। अब प्रत्येक टोली से एक-एक छात्र को क्रम से बुलाया गया और प्रयोग करने को कहा गया। प्राप्त अवलोकन सभी छात्रों को बताए गए।...

“‘नक्शा बनाना सीखो’ – शिक्षक द्वारा कक्षा के फर्श पर एक आकृति बनाई गई और उसके बीच में एक कागज़ रखकर चाक से उसकी सीमारेखा खींची गई तथा चारों कोनों पर आलपिन गाड़ी गई। एक मूल बिन्दु चुना गया और वहाँ भी एक आलपिन गाड़ी गई। खींची गई आकृति की परिधि पर विभिन्न स्थानों पर बिन्दु क्र. 1 से 8 तक अंकित किए गए। अब छात्रों की सहायता से मूल बिन्दु से प्रत्येक बिन्दु की दूरी धागे और मीटर पैमाने से नापी गई और इनकी दिशाएँ कागज़ पर अंकित की गई।”

जब कक्षा में व्यवस्थित प्रयोग हों तो बच्चों में उत्साह बहुत होता है, जो सीखने की एक अहम शर्त है। जैसे पिपरिया गोष्ठी में शशिकला सोनी ने बताया था: “‘जन्तुओं का जीवन चक्र’ अध्याय में मक्खी के जीवन चक्र वाला प्रयोग कराते थे और मक्खी उसमें से निकलती थी तो बच्चे चीख मारते थे।”

या टिमरनी के एक शिक्षक उमेश चौहान का यह अनुभव: “मैंढक के टैडपोल के क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिए बच्चों ने मटके में पानी भरकर उसमें मैंढक के अण्डे और जलीय पौधे डाल रखे थे। करीब 23-24 दिन में अण्डों से टैडपोल और टैडपोल से मैंढक बनते देख बच्चों

का अनुभव जिज्ञासा से भरपूर था। जिस दिन पूँछवाले मेंढक मटके से निकलकर कक्षा के फर्श पर कूदने लगे, उस दिन बच्चे भी मेंढक के साथ उसी अन्दाज़ में उछलकूद कर रहे थे। इस प्रयोग में बच्चों ने अध्ययन कर कॉपी में क्रमबद्ध चित्र बनाए थे। मेंढक के टैडपोल का क्रमिक विकास मैंने भी पहली बार देखा था।”

प्रयोग को ठीक से करने के लिए भरसक प्रयत्न करना धार की एक शहरी शाला (जनवरी 1987) के अनुभव से ज़ाहिर होता है: “ध्वनि का पाठ चल रहा था। शिक्षक द्वारा एक छात्र से पाठ पढ़ने को कहा गया। प्रयोग 1 से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर विभिन्न छात्रों से पूछे गए। सभी छात्रों ने अपने अनुभव के आधार पर बताया कि घण्टे को हथोड़े से पीटा जाता है तो उसमें कम्पन पैदा होते हैं और हाथ से पकड़ने पर कम्पन समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रयोग को पीतल की एक तपेली [पतीली] को स्केल से बजाकर करवाया गया। कई छात्रों ने तपेली के किनारे को हाथ से छुआ और बताया कि झनझनाहट महसूस होती है। प्रयोग 2 के लिए तपेली में कुछ पानी लिया गया और उसके चारों ओर छात्रों को खड़ा किया गया। शिक्षक द्वारा पुनः तपेली के किनारे पर हल्के से चोट पहुँचाई गई। छात्रों को पानी की सतह के अवलोकन के लिए कहा गया। पानी की सतह पर बहुत हल्की लहरें उत्पन्न हो रही थीं जिसे छात्र स्पष्ट नहीं देख पा रहे थे। स्वयं शिक्षक भी इस प्रयोग से सन्तुष्ट नहीं थे। अतः एक छात्रा को घर से पीतल की थाली लाने को कहा गया, जिसका घर पास ही था। अब अवलोकन स्पष्ट हुए।”

और बच्चों का धैर्य भी देखते ही बनता था, जैसा कि शोभा बाजपेई के अनुभव से स्पष्ट है: “अध्याय ‘चीज़ें क्यों तैरती हैं’ में एक खास बात यह थी कि इसमें वस्तुओं और पानी को बार-बार तौलना होता था और इसके लिए पूर्व अध्याय ‘तराजू का सिद्धान्त’ में उन्होंने जो बाट और तराजू बनाए थे, उनका ही उपयोग किया जाता है। तारीफ़ की बात यह थी कि हाथ से बनाए इन उपकरणों की मदद से प्रयोग करने के बाद भी उनके परिणाम लगभग सही थे। आयतन निकालने के लिए अप्लावी बर्तन से पानी की आखरी बूँद के गिरने तक न सिर्फ़ उन्होंने खुद धैर्य रखा बल्कि

जश्न-ए-तालीम

मुझे भी प्रेरित किया कि ‘नहीं मैडम, अभी रुको, अभी पानी की एक बूँद और गिरने वाली है।’”

मगर इतनी सावधानी से किए गए प्रयोगों के बारे में आगे वे लिखती हैं: “इन प्रयोगों को करवाते समय हमने आपेक्षिक घनत्व की गणना वाला हिस्सा बाद में घर पर करने को दिया था। प्रयोग के दौरान आँकड़े नोट करते हुए बच्चों को देखा तो अनुमान लगाया था कि जो भी आपेक्षिक घनत्व आएगा उसमें त्रुटि बहुत कम होगी। ऐसा उनके द्वारा तराजू-बाट बनाने में दिखाए गए हुनर के अलावा उनके धैर्य से किए गए प्रयोगों को देखकर लगा था। लेकिन जब गणना सामने आई तो सिर चकरा गया। उनके उत्तर दहाई और सैकड़ा दर्शा रहे थे। विज्ञान में दक्ष हमारे बच्चे गणित में बहुत ही कमजोर रहे – चाहे स्तम्भालेख का औसत हो या औसत दोलन काल या अन्य कोई गणना, अंकों से हमारे बच्चे हार जाते थे।”

इसकी तुलना में इटारसी की एक शहरी शाला (जनवरी 1983) का विवरण देखिए। यहाँ प्रयोग बच्चे स्वयं तो नहीं कर रहे थे, मगर उनकी भागीदारी काफी थी: “छठवीं में विद्युत के चालक-कुचालक का प्रयोग चल रहा था। श्याम पट पर प्रयोग की तालिका बनी थी। प्रयोग शिक्षक स्वयं कर रहे थे – यानी टोली में नहीं हो रहे थे। करीब तीन-चौथाई बच्चे शिक्षक को घेरे खड़े थे। एक-एक पदार्थ के परीक्षण के बाद बच्चे भागकर अपनी सीटों पर जाते और तालिका में अवलोकन लिखते थे। केवल शिक्षक के प्रयोग करने के बावजूद कक्षा में जान बहुत थी। बच्चे बहुत अलग-अलग प्रकार की वस्तुएँ उठाकर परीक्षण के लिए देते थे, बल्ब का जलना या न जलना देखते थे और अवलोकन अपनी तालिका में लिखते थे।”

मगर तहसील बनखेड़ी की एक ग्रामीण शाला (1983 फरवरी) में बच्चे न तो खुद प्रयोग कर रहे थे, न ही उनमें से अधिकांश को (खासकर लड़कियों को) कुछ पता चल रहा था। यह एक छोटा स्कूल था। तीनों कक्षाओं में मिलाकर कुल 35 बच्चे थे: “शिक्षक ‘विद्युत-3’ [कक्षा 8] करवा रहे थे। कक्षा में पुस्तकें केवल तीन-चार थीं। वे दिक्सूचक पर विद्युत धारा [के प्रभाव का]

प्रयोग करा रहे थे। प्रयोग टोलियों में नहीं हो रहा था क्योंकि दिक्सूचक एक ही था। लड़के वहीं इसके आसपास घिरकर और लड़कियाँ थोड़ी दूर से प्रयोग देख रही थीं। एक-दो लड़के जो तेज़ थे वे प्रयोग अपने-आप करके देखते थे। बाकी सब दूर से ही देखते थे और उन्हें विद्युत धारा की दिशा का और सुई के घूमने का कुछ अन्दाज़ नहीं लगता था। मैंने एक बार सुझाव दिया कि खुद करके देखें। तब ज़्यादा लड़कों ने खुद किया। तार में विद्युत धारा की दिशा भी खुद सोचकर पता की। शिक्षक तालिका बनाकर अवलोकन श्याम पट पर लिख रहे थे। मैंने जब बहुत कहा तब विद्यार्थियों ने वे अवलोकन कॉपियों में लिखना शुरू किया। किसी तरह दाहिने हाथ के नियम तक पहुँचे।...”

इटारसी की एक शहरी शाला (जनवरी 1983) में स्थिति थोड़ी अजीब सी लगती है। प्रयोग शिक्षक करके दिखा रहे थे, कुछ बच्चों को नज़र आ रहा था, कुछ को नहीं। दो कक्षाएँ एक साथ लगी हुई थीं: “कक्षा 8 में शिक्षक हल्दी कागज़ [‘अम्ल, क्षार और लवण’ अध्याय के लिए] बनवाने का प्रयास कर रहे थे। कक्षा बाहर धूप में लगी थी। करीब 50 विद्यार्थी लाइनों में बैठे थे। सामने एक डेस्क पर एक परखनली स्टैंड और 2-3 परखनलियाँ रखी थीं। एक कागज़ व थोड़ी-सी हल्दी भी रखी थी। शिक्षक उसी समय दो बच्चों को भगाकर साबुन का घोल बनवाने के लिए साबुन मँगवा रहे थे। मैंने कक्षा में घूमकर विद्यार्थियों की स्थिति का जायज़ा लेना शुरू किया। लाइनों में पीछे बैठे हुए बच्चों के लिए सामने रखा हुआ डेस्क, उस पर रखा हुआ सामान बहुत दूर था। उनकी पुस्तकें आदि भी खुली हुई नहीं थीं। जिन विद्यार्थियों की पुस्तकें खुली थीं उनका कहना था कि अध्याय के पिछले सारे प्रयोग हो चुके हैं।

“कई घोलों का हल्दी कागज़ पर परीक्षण करना था। एक लड़के से शिक्षक ने हल्दी कागज़ बनाने की विधि पढ़वाई। वैसे उसकी आवाज़ आसपास बैठे तीन-चार बच्चों से अधिक दूर नहीं जा रही थी। एक अन्य बच्चा डेस्क के पास खड़ा होकर शिक्षक के बताए अनुसार हल्दी का लेप एक कागज़ पर बना रहा था। इतना करते-करते ही 35 मिनट का पीरियड खत्म हो गया। शायद मेरे कारण कक्षा को जारी रखा गया परन्तु आठवीं कक्षा का एक और

जश्न-ए-तालीम

सेक्शन भी वहाँ आकर बैठ गया। यानी 80-90 विद्यार्थी लाइनों में बैठे थे। आगे के 20-25 विद्यार्थियों के अलावा किसी को शायद कुछ समझ में भी नहीं आ रहा था कि डेस्क पर क्या हो रहा है। खैर लेप बन जाने के बाद शिक्षक ने एक चिकना कागज़ उठाया और कहा, 'हमारे पास छन्ना कागज़ नहीं है इसलिए इस कागज़ का उपयोग करेंगे।' हल्दी कागज़ पर उन्होंने साबुन का घोल डाला और दूर से बच्चों को दिखा दिया कि वह लाल हो गया है। बच्चों से अपनी तालिका में यह नोट करने को कहा। फिर उन्होंने एक अन्य घोल, जिसे उन्होंने अम्ल का घोल कहा, उसे कागज़ पर डाला और दिखा दिया कि उसका हल्दी कागज़ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर एक घोषणा जैसी कर दी कि अम्लीय घोलों का हल्दी कागज़ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और क्षारीय घोलों से कागज़ लाल हो जाता है।”

पिपरिया तहसील की एक ग्रामीण शाला (1983) के हाल देखकर लगता है कि कई शिक्षकों को प्रयोगों का मकसद भी समझ नहीं आया था। यहाँ खास अनुवर्तनकर्ता को दिखाने के लिए प्रयोग करवाए जा रहे हैं, मगर इस हड़बड़ी में रोचक व हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो गई: “कक्षा 8 में शिक्षक ‘अम्ल, क्षार और लवण’ करवा रहे थे। उनकी कोई तैयारी नहीं थी। कक्षा शुरू होने के बाद बच्चे भागे-भागे कभी स्टैंड लाते तो कभी परखनलियाँ लाते रहे। टेबल पर एक परखनली स्टैंड, दो-तीन परखनलियाँ, एक कोनिकल फ्लास्क में काफी पुराना सा चूने का पानी, एक बोतल में [फिनॉफथलीन] सूचक घोल, नीला और लाल लिटमस कागज़ रखे हुए थे।

“कक्षा में टोलियाँ-वोलियाँ नहीं थीं। बच्चे किताबें खोलकर बैठे थे परन्तु कोई सक्रियता या जोश नहीं था जैसे उन्हें आश्चर्य हो रहा हो कि आज शिक्षक को हो क्या गया है कि सामान-वामान लेकर कक्षा में आ गए हैं। शिक्षक लिटमस कागज़ पर सूचक घोल डालकर इसका प्रभाव बच्चों को दिखा रहे थे। बहुत फुर्ती से कक्षा में घूम भी रहे थे, न जाने क्या देख रहे थे [क्योंकि] न तो बच्चे प्रयोग कर रहे थे, न कुछ पढ़ रहे थे, न ही कॉपी पर कुछ लिख रहे थे।...[जब मेरे साथी शिक्षक ने गलती को पकड़कर] शिक्षक को समझाया तो एक बार फिर हलचल मच गई, कोई बच्चा अम्ल लेने को भागने लगा, तो कोई क्षार।”

लेकिन जिन शिक्षक को मकसद समझ में आता था वे भरसक प्रयत्न करते थे कि बात बच्चों को समझ में आए। जैसे उमेश चौहान ने वॉल्व की क्रियाविधि समझाने के अपने प्रयास का वर्णन इन शब्दों में किया है: “उस दिन मैं सातवीं कक्षा में ‘हवा’ का अध्याय पढ़ा रहा था। इस अध्याय में जल पम्प की क्रियाविधि समझाना था। मैंने बोर्ड पर पम्प का चित्र बनाकर नामांकित किया और क्रियाविधि समझाने के लिए पम्प की विभिन्न स्थितियों के चित्र बनाए, जिसमें वॉल्वों के खुलने, बन्द होने के क्रम चित्रित किए थे।

“मैंने चित्र का सहारा लेते हुए बच्चों को समझाने का प्रयास किया कि जब पम्प का हैण्डल नीचे दबाया तब वॉल्व-1 [ऊपरी] बन्द हो गया तथा लार्त्वि-2 खुल गया क्योंकि दोनों के बीच कम दबाव की स्थिति बन रही है। इस तरह चित्रों में मैंने क्रमशः वॉल्व खुलते-बन्द होते दिखाए तथा पानी का स्तर बढ़ाते हुए पम्प से पानी गिरते हुए दिखा दिया।

“यह प्रक्रिया मैंने दो बार बच्चों को समझाई और अन्त में बच्चों से पूछा – वॉल्व-1 कब बन्द होगा, वॉल्व-2 कब खुलेगा आदि। परन्तु बच्चों का चेहरा बता रहा था कि वे इस क्रियाविधि को समझ नहीं सके हैं।

“मैंने एक छात्र से पूछा कि तुम्हें वॉल्व की क्रियाविधि समझ में आई या नहीं। उसने साहस करके पूछा, ‘सर आप मारेंगे तो नहीं?’ मैंने उसे विश्वास दिलाया कि पिटाई नहीं होगी। तब उसने हिम्मत करके कहा कि क्रियाविधि तो वह नहीं समझा है मगर ‘जब आप वॉ बोलते थे तो आपका मुँह गोल खुला रहता था और जब आप ल्व बोलते थे तो आपका मुँह बन्द हो रहा था, इतना ही समझ में आया है।’ तब मुझे समझ में आया कि चित्र के माध्यम से क्रियाविधि समझाना मुश्किल है, इसका पारदर्शक मॉडल बनाया जाए। अगले दिन रविवार को मैं दिन भर स्कूल में माथापच्ची करता रहा, तब कहीं जाकर टूटी उफननली आदि से मैंने जल पम्प का क्रियाशील मॉडल बनाया जो अनेक प्रशिक्षण शिविरों में भी लोकप्रिय रहा है।”

इनके प्रयास से हैण्ड पम्प का जो मॉडल बना वह बाद में *बाल वैज्ञानिक* का हिस्सा बन गया।

जश्न-ए-तालीम

कई स्कूलों में एक नई प्रथा चल निकली थी – प्रयोग अलग से कराना और “पढ़ाई” अलग से कराना। कुछ शिक्षकों ने यह तरीका अपनाया था कि पहले “पाठ पूरा” कर देते थे और बाद में सारे प्रयोग करवा देते थे। इसी प्रकार से कुछ शिक्षक सारे प्रयोग करवाने के बाद एक दिन प्रश्न-उत्तर करवाते थे। यहाँ प्रयोगों का महत्व सीखने के एक अन्तरंग हिस्से के रूप में नहीं बल्कि प्रायोगिक परीक्षा की दृष्टि से था। या हो सकता है कि शिक्षकों ने *बाल वैज्ञानिक* के प्रयोगों को भी उसी रूप में लिया था जिस तरह से आगे की कक्षाओं में प्रयोग किए जाते हैं – प्रायोगिक पीरियड में। कुछ स्कूलों में तो प्रयोग के लिए एक अलग कमरा मुकर्रर था। जिस कक्षा को प्रयोग करवाने होते थे, उसे उस दिन उस “प्रयोग कक्ष” में बैठाया जाता था। शिक्षकों को लगता था कि यह काफी कार्यक्षम व्यवस्था है जिसमें किट सामग्री ढोना नहीं पड़ता।

जैसे धार की एक शहरी शाला (सितम्बर 1986) में “शिक्षक महोदय छात्रों से प्रश्नों के उत्तर हल करवा रहे थे। शिक्षक से चर्चा करने पर उन्होंने बताया कि प्रयोग कल करवा दिए गए थे तथा आज प्रश्नों के उत्तर करवाए जा रहे हैं।” और होशंगाबाद तहसील की एक शहरी शाला (जनवरी 1974) की अनुवर्तन रिपोर्ट से पता चलता है कि यह प्रथा काफी पहले शुरू हो चुकी थी: “कक्षा 6 में क्षेत्रफल चल रहा था। एक लड़की ने अपनी अभ्यास पुस्तिका में प्रश्न लिख रखे थे। उससे पूछा कि प्रश्नों के जवाब क्या हैं। जवाब मिला कि शिक्षिका ने अभी लिखवाए नहीं हैं।”

पिपरिया तहसील की एक ग्रामीण शाला (1983) की अनुवर्तन रिपोर्ट से इस अवलोकन की पुष्टि होती है कि कई शिक्षक प्रश्नों के उत्तर लिखवा देते थे: “हमने छठवीं, सातवीं व आठवीं कक्षाओं की कॉपियाँ बच्चों से लेकर देखीं। छठवीं की सभी कॉपियों में प्रश्न-उत्तर बहुत तरीके से लिखे हुए थे परन्तु साफ पता चल रहा था कि उत्तर लिखवाए हुए थे क्योंकि सबके उत्तरों की भाषा बिलकुल एक जैसी थी। प्रयोग और अपनी तरफ से चर्चा का प्रयास हुआ है ऐसा लगता था मगर मनगढ़न्त उत्तर भी लिखवाए गए हैं यह साफ था।”

इसके विपरीत केसला ब्लॉक की एक शाला (1983) में स्थिति हर तरह से खराब लगती है क्योंकि न तो प्रयोग वगैरह हुए हैं, न शिक्षक ने जवाब लिखवाए हैं, और न ही कॉपियाँ ठीक से जाँची हैं: “हमने कहा कि कुछ कॉपियाँ ही दिखा दीजिए। कॉपियाँ देखकर लगता नहीं था कि कुछ भी हुआ है। कुछ थोड़े-बहुत उत्तर ऊटपटाँग ढंग से लिखे हुए थे। शिक्षक ने उन कॉपियों पर अन्धाधुन्ध सही के निशान लगाए हुए थे।”

कई शिक्षकों ने बताया है कि प्रश्नों के उत्तर लिखने के मामले में काफी मिली-जुली हालत थी। पिपरिया गोष्ठी में अधिकांश शिक्षकों का अनुभव था कि बच्चे अवलोकन लिख लेते थे और चर्चा में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे। वैसे इस मामले में यह बात सामने आई कि तर्क आधारित अध्यायों में कठिनाई होती थी। एक शिक्षक महादेव प्रसाद तिवारी के मुताबिक करना यह होता था कि एक-एक बच्चे से तर्क करवाओ और फिर उनको इकट्ठा करो। यदि यह ठीक ढंग से हो गया तो ठीक वरना बण्टाढार। इसमें समय का सवाल भी आता था क्योंकि कोई चर्चा शुरू हुई और बीच में पीरियड हो गया तो किए-कराए पर पानी फिर जाता था। एक अन्य शिक्षक एच.पी. माधाता का अनुमान था कि यह सब कम हो पाता था, शायद 50 प्रतिशत।

धार की एक शहरी शाला (सितम्बर 1987) में यही समस्या उभरकर आती है। कई अध्यायों में ऐसा होता था कि प्रतिदिन उनका एक तार्किक हिस्सा पूरा नहीं हो पाता था। इसका असर सीखने की प्रक्रिया पर अवश्य पड़ता होगा। इस सम्बन्ध में कुछ शिक्षक यह ज़रूर कहते थे कि प्रयोग व चर्चा ऐसी होनी चाहिए जो एक दिन में पूरी हो जाए अन्यथा क्रम बनाना बहुत मुश्किल होता है: “कक्षा 7 में तराजू का पाठ चल रहा था। छात्राएँ तराजू बनाकर लाई थीं। उन्हें तराजू द्वारा बाट की मदद से पत्थर और कवेलू के टुकड़ों के बाट बनाने को कहा गया। इस कक्षा में बाट बनाने का ही काम चलता रहा।”

हल्केवीर पटेल ने दृढ़ता से बताया कि उन्होंने कभी उत्तर नहीं लिखवाए, अवलोकन करते हुए बच्चे स्वयं ही लिखते जाते थे। वैसे उन्होंने भी स्वीकार किया कि कई अध्यायों में अन्तिम निष्कर्ष तो वे ही बताते थे और

जश्न-ए-तालीम

लिखवाते भी थे। जैसे सूर्य, चन्द्रमा और तारों की गति देखने के बाद सवाल होता है कि ये सब चीज़ें घूमती हैं या पृथ्वी घूमती है। तब वे समझाते थे कि आप देखो कि चार लोगों का एक समान गति से चलना सम्भव नहीं है, सबका स्वभाव एक-सा नहीं होता। यानी यदि सब एक से चलते दिखते हैं तो हो सकता है कि हम चलायमान हों, वे सब स्थिर हों। यह बताना पड़ता था। महादेव प्रसाद तिवारी ने इसका समर्थन करते हुए बताया कि भाषा में कमज़ोर होने की वजह से बच्चे सही व्यक्त नहीं कर पाते। वे सारे जवाबों को मिलाकर एक जवाब बताकर सबका समर्थन लेने के बाद लिखवाते थे। इसी तरह की स्थिति शाजापुर ज़िले के आगर शाला संकुल में भी दिखती है: “प्रयोगों के बाद चर्चा में टोलीवार जो निर्णय आते उनके आधार पर निष्कर्ष निकलवाते और वे ही फायनल आन्सर होते। हम अपनी ओर से कोई परिभाषा या उत्तर नहीं लिखवाते।”

एम. एल. पटेल ने बताया कि बोर्ड पर सारे अवलोकन लिखकर विश्लेषण होता था और फिर बच्चों से कहते थे कि इसके आधार पर वे उत्तर लिख लें, बच्चे लिख लेते थे। अलबत्ता, कुछ अध्यायों में उत्तर लिखवाते थे। इस सबसे अलग प्रेमशंकर भार्गव का स्पष्ट मत था कि आप चाहे जितने प्रयोग करवा लो, चर्चा करवा लो, मगर प्रश्नों के उत्तर बच्चे नहीं लिख पाते थे, इसलिए शिक्षक लिखवाते थे। प्रदीप शर्मा का मत था कि कई स्कूलों में ठीक से चर्चा नहीं होती थी और बच्चे गलत-सलत लिख लेते थे। ऐसी स्थिति में उत्तर लिखवाना ही ठीक है।

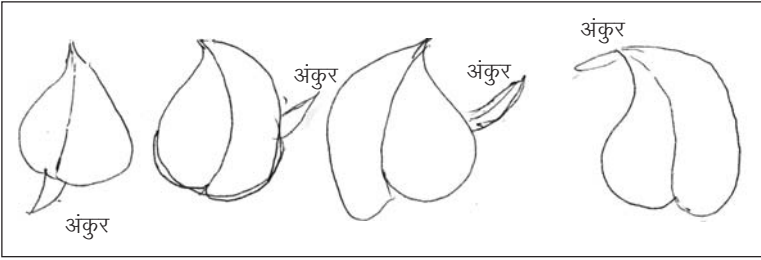
मगर यह भी ज़रूरी नहीं है कि यदि किसी स्कूल में प्रश्नों के उत्तर शिक्षक द्वारा लिखवाए गए हैं तो वहाँ शेष प्रक्रिया नहीं हुई होगी। जैसे धार शाला संकुल की एक शिक्षिका सुलभा जैकी ने बताया, “अवलोकन, निष्कर्ष आदि बातचीत, चर्चा सफल रहती थी किन्तु विद्यार्थियों से उत्तर लिखवाना, वह भी अपने शब्दों में, तो भई इसमें एक बड़े पहाड़ का सामना करना पड़ता था क्योंकि बच्चों को हिन्दी लिखना ही नहीं आती। मुझे मजबूरी में डिकटेट करवाना पड़ता था।”

पिपरिया गोष्ठी में यह बात भी उभरकर आई कि कुछ स्कूलों में उत्तर

लिखवाने के लिए बाल वैज्ञानिक की कुंजियों का उपयोग भी किया जाने लगा था।

बच्चों से एक संवाद बनाने के मामले में सोहागपुर ब्लॉक की एक शाला (फरवरी 1983) की एक कक्षा देखिए जिसमें प्रयोग बिलकुल नहीं हो रहे थे, फिर भी बच्चे एक गम्भीर तार्किक प्रक्रिया में शामिल थे: “सातवीं कक्षा में बीजों के अंकुरण को लेकर कुछ चर्चा हो रही थी। बोर्ड पर तीन चित्र बने थे और शिक्षक कह रहे थे कि उन्हें इस प्रकार अंकुरित चने के तीन बीज मिले।

“उन्होंने बच्चों से पूछा कि क्या उन्हें इस प्रकार से अंकुरित बीज मिले हैं। तब दो बच्चे उठे और उन्होंने नीचे जैसे चित्र बनाए।



“उन्होंने कहा उन्हें शिक्षक के चित्रों जैसे चने नहीं मिले। वैसे चने मिल ही नहीं सकते। फिर चर्चा होने लगी कि अंकुरण ऐसे क्यों नहीं हो सकता। वहाँ एक छेद होता है, मूलांकुर होता है, सब बच्चों ने बताया।

“इन्हीं शिक्षक ने अगली कक्षा आठवीं ली। वहाँ ‘सजीव और निर्जीव’ अध्याय करवा रहे थे। उन्होंने बच्चों से पूछ-पूछकर चीजों की एक लम्बी सूची बोर्ड पर बनाई – जानवर, पेड़-पौधे, बीज (गेहूँ, चना), चॉक, पत्थर, बाल, नाखून आदि चीजों के नाम थे। एक नाम था परछाई। इस सूची के नामों को सजीव और निर्जीव समूहों में बाँटना शुरू हुआ। उन्होंने यह काम भी बच्चों से करवाया। वे सजीवों के कुछ लक्षणों के आधार पर प्रश्न पूछते थे। जैसे, क्या पत्थर चलता है? क्या बीज साँस लेते हैं? आदि। बीज को लेकर उन्होंने काफी चर्चा करवाई। बीज साँस लेते हैं, इसके लिए गोदाम

जश्न-ए-तालीम

में रखे गेहूँ का उदाहरण लिया। घुने बीज, उबले बीज, पेड़ से लगी पत्ती, पेड़ से गिरी पत्ती आदि पर चर्चा हुई। अन्त में उन्होंने परछाई पर चर्चा करवाई। परछाई चलती-फिरती है, घटती-बढ़ती है, तो क्या वह सजीव कहलाएगी? बच्चों को इस पर काफी मज़ा आया कि परछाई चलती-फिरती है, घटती-बढ़ती है। उन्होंने कहा कि परछाई फिर भी निर्जीव है। सवाल हुआ क्यों? वह साँस नहीं लेती, पहले तो यह उत्तर आया मगर फिर शिक्षक ने पूछा कि क्या हम नहीं होंगे, कोई चीज़ नहीं होगी, तो परछाई होगी? तब परछाई के अस्तित्व की बात समझ में आने लगी। अँधेरा होगा तो भी परछाई नहीं होगी। शिक्षक ने फिर यह समझाने का प्रयास किया कि किस प्रकार परछाई पदार्थ नहीं है क्योंकि यह जगह नहीं घेरती, उसका भार नहीं वगैरह।”

सजीव और निर्जीव की अवधारणा पर रोचक चर्चाएँ शायद काफी आम थीं। लगता है कि खुलापन होने पर बच्चे काफी स्वतंत्र विचार करते हैं। धार की एक शहरी शाला (अगस्त 1985) में सजीव-निर्जीव सम्बन्धी चर्चा की बानगी देखिए: “शिक्षक ने पूछा कि सजीव वस्तुओं में कौन-कौन-से गुणधर्म होते हैं। छात्रों के द्वारा निम्नलिखित गुणधर्म बताए गए: 1. जान होती है, 2. वृद्धि, 3. चलती है, 4. बोलती है, 5. स्वयं कार्य करती है, 6. भोजन, 7. साँस, 8. सोचना। शिक्षक के द्वारा एक और गुणधर्म प्रजनन भी जोड़ा गया।”

यह स्पष्ट नहीं है कि आगे चर्चा कैसे चली। बस इतना पता चलता है कि जो गुणधर्म बताए गए वे किताबी तो बिलकुल नहीं थे। दरअसल *बाल वैज्ञानिक* के इस अध्याय की मूल भावना यही है।

मण्डलेश्वर की एक ग्रामीण शाला (सितम्बर 1989) के अनुभव से पता चलता है कि यदि शिक्षक चाहें और पाठ्यक्रम अनुमति दे, तो कक्षा के स्तर पर किस तरह के नवाचार सम्भव हैं: “शिक्षक शरीर के आन्तरिक अंगों का अध्यापन कर रहे थे।...पोलियो से पीड़ित छात्र नरेंद्र जायसवाल के पैर का अवलोकन किया गया एवं छात्रों से उसकी पेशियों के बारे में प्रश्न पूछे। जवाब था पेशियों की संख्या कम है एवं वे कमज़ोर हैं।”

हमें यह मानकर चलना चाहिए कि चर्चा पर्याप्त संवेदनशीलता से की गई होगी और सम्बन्धित छात्र ने असहज या आहत महसूस नहीं किया होगा।

लगभग यही स्थिति होशंगाबाद तहसील की एक ग्रामीण शाला (अगस्त 1973) में भी थी। अतिरिक्त बात यह थी कि बच्चे करते-करते कुछ नई चीज़ों पर गौर कर रहे हैं, “कक्षा 6 पहले अध्याय पर थे: पारदर्शी चीज़ों को लेकर रोचक चर्चा चल रही है (तार की जाली)। कक्षा 7 निर्देशांकों पर काम कर रही है। बच्चे यह सोचने में लगे हैं कि अपने द्वारा बनाए नक्शों में शहरों की सही स्थिति कैसे दर्शाएँ। कुछ बच्चों ने ध्यान दिया है कि ध्रुवीय निर्देशांक नक्शे के लिए चुने गए पैमाने से स्वतंत्र होते हैं। वे इस बात की पुष्टि करके हमें बताएँगे – बहुत दिलचस्प बात है।”

मण्डलेश्वर की एक शहरी शाला (जनवरी 1988) की अनुवर्तन रिपोर्ट में भी शिक्षक का प्रयास नज़र आता है: “‘दूरी नापना’ अध्याय चल रहा था। मैडम ने अन्त की बेंच पर बैठी एक लड़की को खड़ा किया तथा कहा कि उस छात्रा और मेरे बीच का अन्तर दूरी कहलाता है। इसे आप सामान्यतः क्या कहते हैं? टोली क्रमांक 2 ने बताया कि हम फासला कहते हैं। मैडम ने कहा इसे कैसे नापेंगे? इस पर उन्होंने कहा कि कदमों से नापेंगे। इस पर उन्होंने कद में छोटी एक लड़की से कहा कि इसे कदमों में नापो। उसने नापकर कहा कि 10 कदम आया। इसके बाद एक लम्बी लड़की से कहा कि अब तुम इसी दूरी को नापो, तो उसने नापकर बताया 6 कदम।”

बात शिक्षकों के उत्साह की चली है तो धार की एक शहरी शाला (जनवरी 1986) की रिपोर्ट में वर्णित यह प्रयास गौरतलब है। पिनहोल कैमरा के साथ इतने विस्तृत मात्रात्मक प्रयोग शायद हो.वि.शि.का. की कक्षा में ही सम्भव हैं: “दो डिब्बों की मदद से अध्यापक महोदय प्रयोग 4 कर रहे थे। मोमबत्ती के सामने दो डिब्बे एक-दूसरे के अन्दर रखे गए। पहले डिब्बे पर एक चौकोर छिद्र था, भीतर वाले डिब्बे में पर्दा था। दोनों डिब्बों के मध्य दूरी 2, 6, 10 से.मी. करते हुए क्रमशः उनके द्वारा पर्दे पर बने मोमबत्ती के आयतों का क्षेत्रफल खानों में निकाला गया। जो क्रमशः 1, 4, 6 खाने प्राप्त हुआ। इसी प्रकार छिद्र एवं पर्दे वाले डिब्बे की आपसी दूरी स्थिर

जश्न-ए-तालीम

रखकर मोमबत्ती से दूर करते हुए आयत देखा तो एक खाने के बराबर ही था। ये दूरियाँ क्रमशः 0, 10, 20, 30, 40, 50 से.मी. थीं। तीसरी बार डिब्बों को स्थिर कर मोमबत्ती को पीछे क्रमशः 1, 2, 3, 4 से.मी. हटाते हुए उसके आयतों में खानों की संख्या 6, 4, 2, 1 आँकी गई। इन समकों के आधार पर ग्राफ तैयार किए गए।”

इससे अलग सोहागपुर तहसील की एक कन्या शाला (फरवरी 83) की अनुवर्तन रिपोर्ट से पता चलता है कि पूरी तरह व्यवस्थित कक्षा संचालन के बाद भी “कुछ नया” नहीं हो रहा था, हालाँकि इस कक्षा में *बाल वैज्ञानिक* के कुछ तथाकथित मुश्किल प्रयोग भी हुए थे (जैसे “आकाश की ओर” में एक छड़ी की छाया और मुर्गी के अण्डे में विकास की अवस्थाओं का अध्ययन) और यहाँ सातवीं में अध्यापन के लिए आठवीं की छात्राओं की मदद लेना जैसी बातें भी शामिल थी: “सातवीं कक्षा में विकास का अध्याय चल रहा था। शिक्षिका ने पहले शुरू के प्रश्नों पर चर्चा करवाई। लड़कियाँ संकुचित थीं यह साफ था। प्रश्न-उत्तरों में शिक्षिका कुछ नयापन नहीं जोड़ पा रही थी यानी पुस्तक के प्रश्न एक के बाद एक उत्तरित हो रहे थे। छड़ी की घड़ी [अध्याय ‘आकाश की ओर’] का ग्राफ व तराजू के सिद्धान्त का पट्टी चित्र बाकायदा चिपके थे। उस दिन कक्षा में 0-दिन व 5-दिन के अण्डे [चूज़े का विकास देखने के लिए विभिन्न दिनों तक विकसित अण्डे] के प्रयोग होना था। 3-दिन का अण्डा वे पहले देख चुकी थीं। उस दिन शिक्षिका स्कूल नहीं आई थीं इसलिए वह अण्डा उन्हें कक्षा 8 की लड़कियों ने दिखाया था।”

शिक्षिका सुनीला मसीह ने बताया कि उस शाला में मुर्गी के विकास का अवलोकन करने का यही तरीका अपनाया जाता था: “मुर्गी के अण्डों में से चूज़े का निकलना तीन सालों में एक बार करवाते थे। इस प्रयोग को पूरी शाला यानी कक्षा 6, 7 व 8 एक साथ देख लेती थीं। चूज़े का दिल किस तरह धड़कता है यह एक रोमांचक अनुभव ही तो है।”

बाल वैज्ञानिक के तथाकथित मुश्किल हिस्सों में लम्बी अवधि के प्रयोग भी

गिनाए जाते थे। इसके विवरण हमें बहुत कम मिलते हैं। मगर जैसा कि धार की एक शहरी शाला की रिपोर्ट से पता चलता है कई शिक्षक कोशिश करके ये प्रयोग करवाते थे: “कक्षा 7 में ‘वृद्धि’ एवं ‘ग्राफ बनाना सीखो’ अध्याय चल रहे थे। सभी छात्राओं ने धागों की मदद से अपने गमलों में लगाए पौधों की लम्बाई नापी और तालिका में लिखी।”

धार की एक कन्या शाला की शिक्षिका मालती महोदय ने जन्तुओं के जीवन चक्र के अध्ययन का यह विवरण दिया है: “सबसे पहले अध्याय [‘जन्तुओं का जीवन चक्र’] कक्षा में पढ़वाया। एक लड़की ने पूछा, ‘मैडम, उत्तर कैसे देंगे? अण्डे तो हैं ही नहीं।’ मैंने कहा, ‘कल अपन परिभ्रमण पर चलेंगे, किन्तु तुम उसके लिए सब तैयारी कर लो। फिट में रखी हुई इंजेक्शन की शीशियाँ हर टोली में चार-चार देना है।’ मैंने कक्षा में मॉनीटर बना रखी थीं जो फिट की अलमारी से सामान निकालकर रख देती थीं। ‘प्रत्येक टोली को जब चार-चार शीशियाँ मिल जाएँ तो उन पर लेबल लगा लो। चित्र में दिख रहे लार्वा, प्यूपा को ध्यान से देखो। इंजेक्शन की शीशियों में से एक पर डबरे का पानी, दूसरी पर मच्छर के लार्वा, तीसरी पर प्यूपा और चौथी पर नल का पानी लिख लो।’ फिर दो-दो डिब्बे पान पराग के हर टोली में दिए और उन पर ‘क’ व ‘ख’ लेबल लगाने को कहा। एक चौड़े मुँह की प्लास्टिक बोतल, हैण्ड लेंस, प्लास्टिक की पारदर्शक पन्नी, आलपिन, स्लाइड साथ में रखने को कहा।

“फिर हर प्रयोग के बारे में समझाया कि कैसे करना है। कॉपी में पहले तालिका बनवा दी, जिसमें रोज़ अवलोकन लिखेंगे।

“अगले दिन यानी 28-07-01 को परिभ्रमण पर गए। सीमा को 2-3 दिन पुराना गोबर दिखा। वह बोली, ‘मैडम गोबर की इल्ली।’ मैंने कहा, ‘यह गोबर की इल्ली नहीं है, इसे रख लो एक डिब्बे में, देखेंगे यह किसकी इल्ली है।’ थोड़ी दूर पर गाय-भैंस चरती दिखाई दीं। मैंने कहा, ‘वहाँ चलकर देखते हैं शायद अण्डे दिखाई दें। मक्खी हमेशा ताज़े गोबर पर अण्डे देती है।’

जश्न-ए-तालीम

“थोड़ी दूर जाने पर एक जगह गुच्छे में 20-25 अण्डे दिखाई दिए। मैंने श्वेता से कहा कि तुम अण्डों को ‘ख’ डिब्बे में रख लो और प्लास्टिक की पन्नी उसके मुँह पर कसकर बाँध दो और उसमें आलपिन से छोटे-छोटे छेद कर दो। ‘क’ डिब्बे में बिना अण्डे वाला गोबर रखकर वैसे ही पैक कर दो।

“फिर थोड़ा आगे बढ़े तो एक टंकी बनी थी जिसमें बहुत दिन का पानी भरा था, काई आदि जम रही थी। उसमें मुझे मच्छर के लार्वा-प्यूपा दिखाई दिए। मैंने सब लड़कियों को बुलाया और लार्वा-प्यूपा पहचानकर शीशियों में रखने को कहा। फिर उनके मुँह पर भी प्लास्टिक की पारदर्शक पन्नी बाँधकर छोटे-छोटे छेद करने को कहा। जब लार्वा-प्यूपा रख लिए तो वहाँ का पानी भी एक शीशी में रखने को कहा। एक शीशी में अपना पीने का पानी भी रख लिया।

“ये दो प्रयोग सेट होने के बाद मेंढक के अण्डे ढूँढने निकल पड़े। थोड़ी दूर जाकर एक बड़ा-सा डबरा पानी से भरा मिला। जब हम वहाँ पहुँचे तो खुशी का ठिकाना न रहा – हमें साबुन जैसे झाग में साबूदाने जैसे मेंढक के अण्डे तैरते मिल गए। बड़ी कठिनाई से हमने वे अण्डे प्लास्टिक की बरनी में भरे और लौट पड़े।

“स्कूल आकर मेंढक के अण्डों को पानी सहित एक टूटे मटके में डाल दिया। एक अण्डा रोज़ निकालकर उसकी लम्बाई नापकर लिखने को कहा। दूसरे दिन अण्डे में से बच्चे निकले। लड़कियाँ कहने लगीं कि मैडम, ये तो मछली के बच्चे हैं। मैंने कहा कि अपन देखेंगे कि ये बच्चे मछली के हैं या मेंढक के।

“कक्षा में निम्न प्रश्नों पर चर्चा हुई:

1. मेंढक के अण्डे कहाँ से आए?
2. मक्खी गोबर पर ही अण्डे क्यों देती है?
3. मच्छर के अण्डे क्यों नहीं दिखाई दिए?
4. मक्खी 10 दिन के अन्दर बन जाती है। मच्छर तो 4-5 दिन में ही बन गया। मेंढक बनने में पूरे 40 दिन लग गए, ऐसा क्यों?

“मैंने कहा कि सबका जीवन चक्र अलग-अलग है। बाद में लड़कियाँ रेशम के कीड़ों के अण्डे, छिपकली के अण्डे ले आईं। खटमल के अण्डे ले आईं। उन्हें भी हमने शीशी में रखकर अवलोकन लिए।”

खास तौर से मेंढक के जीवन चक्र में काफी मुश्किलें आती थीं। जैसा कि आगर के एक शिक्षक किशोरीलाल सोनी ने बताया: “मेंढक के जीवन चक्र के सन्दर्भ में बताए अनुसार ग्रामीण छात्र अण्डों के गुच्छे लाते थे और उन्हें एक मटके में उसी स्थान का पानी भरकर डाल देते। कुछ घास-फूस भी डाल देते थे। टैडपोल हर बार बनते, अगले पैर भी आते, मगर पिछले पैर आते-आते और पूँछ खिरते-खिरते कई टैडपोल मर जाते। मेंढक बनने की सफलता 1985 से 2002 के बीच केवल दो बार ही मिल पाई। इस प्रयोग में कहाँ क्या कमी रह जाती थी, इस बारे में एकलव्य के स्रोत व्यक्ति से बात करने पर पता चला कि किसी तत्व (शायद आयोडीन) की कमी के कारण ऐसा होता है।”

इसी तरह के एक प्रयोग का विवरण टिमरनी के उमेश चौहान ने भी दिया है। खास बात यह है कि उस स्कूल के बच्चों को यह लम्बी अवधि का प्रयोग करते हुए सामाजिक धारणाओं के साथ संवाद बनाने का अवसर अनायास ही मिल गया था, जिसका उन्होंने भरपूर फायदा भी उठाया: “उस वर्ष कक्षा 8 में ‘पौधों में प्रजनन’ अध्याय पढ़ा रहा था। मैंने परागण क्रिया का प्रयोग कराने के लिए बच्चों से पूछा, ‘किसकी बाड़ी में गिलकी की बेल है? कल पूछकर आना कि वहाँ गिलकी के फूलों पर कुछ थैलियाँ बाँधकर प्रयोग करने देंगे क्या?’ एक छात्र ने कहा, ‘सर मेरी बाड़ी स्कूल के पास ही है, मेरे पिताजी मना नहीं करेंगे।’ अगले दिन हम पूरी तैयारी के साथ परागण क्रिया कराने बाड़ी में पहुँचे।

“हमने गिलकी के नर तथा मादा फूलों पर धागे बाँधे, परागित व अपरागित कलियों पर पोलिथिन की थैलियाँ बाँधी और परागण की तारीख, टोली का नाम आदि की पर्ची भी डाल दी। तब ही माली दादा ने आकर पूछा, ‘गुरुजी, ये कद्दू के फूल खूब झड़ रहे हैं, क्या उँगली बताने से फूल झड़ जाते हैं?’

जश्न-ए-तालीम

“हमें इन फूलों पर प्रयोग करने और अन्धविश्वास मिटाने का अच्छा मौका मिल गया। छात्रों ने सावधानी से, पौधों को नुकसान न पहुँचाते हुए कद्दू के मादा फूल ढूँढे। फूलों का अवलोकन करते हुए मैंने यह देखा कि कद्दू के फूल घण्टीनुमा होते हैं जिनमें बरसात के दिनों में पानी भर जाता है। इस कारण फूल का स्त्रीकेसर गल जाता है। हमने उन फूलों का विच्छेदन किया तो पाया कि उनके अण्डाशय और वर्तिका गल चुके हैं। फूल में एक बात और देखी कि उनमें अन्दर की ओर चिपचिपा पदार्थ (सम्भवतः मकरन्द) बहुत अधिक होता है जिसके कारण जो कीड़े परागण क्रिया में मददगार होते हैं, वे वहीं चिपककर मर जाते हैं। अतः शायद इस कारण भी परागण क्रिया कम हो रही है।

“खैर, हमारे प्रयोग वाले दिन मौसम खुला था। हमने 9 मादा कलियों को चुनकर उन्हें परागित किया। पहचान के लिए उन पर धागे बाँधे एवं बड़ी-बड़ी थैलियाँ बाँध दीं। बच्चों से कहा कि इन परागित फूलों को खूब तर्जनी बताओ। सबने मजे लेने के लिए दोनों हाथों से तर्जनी बताई। कुछ दिन बाद जब हम दोबारा उस बाड़ी में पहुँचे तो माली व हमारी कक्षा के बच्चे आश्चर्यचकित थे। सभी 9 परागित फूलों की जगह बड़े-बड़े कद्दू लगे हुए थे।

“माली दादा और उनका नाती (मेरा छात्र) बहुत खुश थे। हमने उन्हें परागण की क्रिया भी सिखाई। अब पूरी कक्षा और माली दादा का अन्धविश्वास दूर हो चुका था कि कद्दू तर्जनी दिखाने से गल जाता है। वे समझ चुके थे कि परागण न हो या फूल में पानी भर जाए तो गलकर गिर जाता है।”

पर्यावरण आधारित पाठ्यक्रम के सामाजिक पक्ष का एक और उदाहरण धार शाला संकुल की एक शिक्षिका मालती महोदय ने बताया: “उस समय पत्तियों पर सर्प की आकृति उभरने की चर्चा दूर-दूर तक फैली हुई थी। लोगों ने पत्तेदार सब्जियाँ खाना छोड़ दिया था। यहाँ तक कि विधान सभा में प्रश्न भी उठा था कि वैज्ञानिक लोग क्या कर रहे हैं। तब मेरी एक विद्यार्थी ने टमाटर के पत्ते पर बनी सर्प की आकृति से एक सूक्ष्म पीले रंग का कीड़ा निकाल लिया था जो पत्ती का क्लोरोफिल खा जाता है और पत्ती में अन्दर ही अन्दर आगे बढ़ता जाता है। इसे लीफ माइनर कहते हैं।”

मगर कई स्थितियाँ ऐसी भी थीं जहाँ प्रयोग तो होते थे मगर शायद निरुद्देश्य रह जाते थे, आगे की प्रक्रिया नदारद रहती थी। उदाहरण के लिए, सिवनी मालवा तहसील की एक कन्या शाला (1983) का हाल देखें: “यहाँ एक गम्भीर शिक्षक हैं। मैंने लड़कियों से बात की। उनसे ‘समय और दोलक’ (कक्षा 8) के बारे में पूछा। उन्होंने कहा अध्याय किया है: ‘दोलन काल निकालने वाला प्रयोग किया है?’ ‘दोलन क्या होता है?’ सब एक-दूसरे का मुँह देखती हैं। बहुत बात करने पर पता चलता है कि दोलक बनाया है, हिलाया-डुलाया है और शायद एक मिनट में कितने दोलन करता है, यह निकाला है।...

“मैंने पूछा और कौन-सा अध्याय किया है तो बताया मिट्टी। ‘क्या किया था इस अध्याय में?’ ‘मिट्टी तोलकर प्रयोग किया था, नपनाघट से पानी नापा था।’ ‘कौन-सी मिट्टी सबसे ज़्यादा पानी सोखती है?’ फिर चुप्पी।

“इस अध्याय में भी उन्होंने सिर्फ [मिट्टी द्वारा] पानी सोखने का प्रयोग किया था। उससे भी क्या निष्कर्ष निकला कुछ मालूम नहीं था।”

हरदा तहसील की एक शाला की अनुवर्तन रिपोर्ट से यह बात और भी तल्खी से सामने आती है: “दूर से देखा कि कक्षा 8 में दोलन काल नापने का प्रयोग हो रहा था। शिक्षक बच्चों की मदद कर रहे थे। क्लास में कुल आठ छात्र हैं। बाद में इस कक्षा से बातचीत की। कक्षा में एक ही बालिका थी जो प्रयोग के दौरान भी काफी पीछे से देख रही थी। बातचीत होने पर पता चला कि कक्षा गोल है। एक छात्र ही बोल रहा था, जो पता चला कि पिछले साल का फेलुअर है। बाकी छात्र प्रयोग में क्या हुआ, क्या देखा भी नहीं बता पा रहे थे। यह बात समझ नहीं आई क्योंकि सबने कहा प्रयोग किया गया है और आठ बच्चों की क्लास में तो डिमॉन्स्ट्रेशन भी काफी साफ दिख सकता है। स्कूल में काम होता है, प्रयोग होते हैं, शिक्षक मेहनती हैं पर छात्र बिलकुल गोल हैं। समझ नहीं आया।”

यही स्थिति मेघनगर की एक ग्रामीण शाला (अगस्त 1988) में दिखाई दी। इस कक्षा की विशेषता यह रही कि प्रयोग काफी व्यवस्थित ढंग से और विस्तार में किया गया था मगर अन्त में सब गुड़-गोबर हो गया: “द्रव का

जश्न-ए-तालीम

आपेक्षिक घनत्व ज्ञात करने का प्रयोग स्वयं शिक्षक द्वारा किया गया। एक छात्र को बुलाकर तुला के द्वारा एक खाली शीशी का भार ज्ञात किया गया। शीशी का भार 17 ग्राम आया बताया गया। फिर दूसरे छात्र को बुलाकर उसे द्रव भरने को शीशी दी गई। द्रव सहित तोला तो उसका वज़न 25 ग्राम आया।

“दूसरा द्रव शिक्षक ने [एक अन्य] शीशी में भरा और [बच्चों से] पूछने लगे कि कितना और भरें। अगर शिक्षक पहले भरी हुई शीशी के पास ही इस शीशी को रखते तो ठीक रहता।

“इस काम में शिक्षक सक्रिय व छात्र निष्क्रिय रहे।

“शिक्षक ने सभी [खाली] शीशियों का भार 17 ग्राम ही मान लिया कि शीशियाँ सब एक ही आकार की हैं।

“प्रयोग के बाद श्याम पट पर तालिका बनाई गई:

द्रव का नाम	खाली शीशी का भार (क)	द्रव से भरी शीशी का भार (ख)	द्रव का वज़न (ख-क)	आ.घ.
पानी	17	25	25-17	8
सरसों का तेल	17	25	25-17	8
मिट्टी का तेल	17	23	23-17	6
मीठा तेल	17	24	24-17	7

“एक प्रश्न यह पूछा कि घी पानी में घुलनशील है या नहीं। तो छात्रों ने उत्तर दिया कि नहीं घुलेगा। शिक्षक ने और स्पष्ट करते हुए बताया कि वस्तुएँ पानी से हल्की होने से नहीं घुलतीं।”

परन्तु केसला ब्लॉक की एक शाला (जनवरी 1983) से आशा जगती है कि कई शिक्षकों ने विज्ञान शिक्षा के मकसद को आत्मसात किया था: “यहाँ

पढ़ा रहे शिक्षक स्वयं कभी विज्ञान पढ़े नहीं हैं। मैंने उनकी सातवीं कक्षा देखी। वहाँ वे साइकिल पम्प और जल पम्प के विषय में पढ़ा रहे थे। एक साइकिल पम्प वहाँ मौजूद था। प्रयोग कुछ नहीं था अध्याय के उस हिस्से में। पहले साइकिल पम्प दिखाकर उसके विभिन्न हिस्सों के बारे में पूछा और बताया। हवा आने-जाने की प्रक्रिया भी साथ-साथ। फिर चित्र बनाकर जल पम्प के बारे में समझाने लगे। समझाने की प्रक्रिया में वे बच्चों से काफी सवाल-जवाब उनकी अपनी समझ निकलवाने के लिए करते थे यानी यह एकतरफा समझाना नहीं होता था।... इसके बाद मैंने बच्चों से जड़ और पत्ती के बारे में प्रश्न किए। नाड़ी विन्यास, बीज, जड़ तीनों में क्या सम्बन्ध है यह भी बच्चों ने बताया। मैंने एक प्रश्न पूछा कि पौधा छोटा होने पर उसकी जड़ झकड़ा हो और बड़ा होने पर मूसला हो जाए, ऐसा क्या सम्भव है। ऐसा एक स्कूल के विद्यार्थी ने लिखा है, उसने क्या गलती की होगी? बच्चों ने बताया कि छोटे पौधों में मुख्य जड़ पहचानना आसान नहीं होता, इसलिए यह भ्रम पैदा हुआ होगा।”

दो-तीन रिपोर्टों से एक बात उभरती है कि जब कक्षा व्यवस्थित रूप से नहीं चलती थी (यानी प्रयोग टोलियों में नहीं होते थे या शिक्षक द्वारा करके दिखाए जाते) तो इसमें सबसे ज्यादा नुकसान लड़कियों का होता था (सह-शिक्षा स्कूलों में)। जैसे होशंगाबाद तहसील की एक शहरी शाला (मार्च 1982) में “शिक्षक पढ़ाते तो हैं, बच्चे कुछ प्रयोग करते हैं मगर अधिकांशतः डिमॉन्स्ट्रेशन ही होते हैं या एक ही उपकरण से बारी-बारी किए जाते हैं। हम हवा के अध्याय के दौरान कक्षा में बैठे थे। लड़कियाँ प्रायः अलग-थलग ही रहीं।”

यह स्थिति कुछ अन्य स्कूलों में भी देखी गई। जैसे हरदा की एक शाला की बात ऊपर की गई थी।

होशंगाबाद की एक शहरी शाला (जनवरी 1983) में सामग्री की कमी के कारण कक्षा में बच्चों की भागीदारी बाधित थी। मगर मौका मिलने पर बच्चे काफी जुगाड़ कर लेते थे बल्कि इस कक्षा में तो यह अभाव ही एक अवसर बन गया था। बच्चों को एक लीक पर न धकेलने का महत्व स्पष्ट है: “आठवीं में ‘विद्युत-3’ अध्याय शुरू कराया गया था। करीब 40-45 विद्यार्थी

जश्न-ए-तालीम

थे। कक्षा में केवल दो दिक्सूचक थे और पूरी कक्षा को दो बराबर भागों (लगभग 20-22 विद्यार्थी प्रति टोली) में बाँटकर प्रयोग हो रहा था। स्वाभाविक था कि इन बड़ी टोलियों में 7-7, 8-8 बच्चे सक्रिय थे और बाकी अपनी किताबें खोलकर इधर-उधर की बातें कर रहे थे। प्रयोग में दिक्सूचक के ऊपर रखे तार में विद्युत धारा प्रवाहित करने पर दिक्सूचक की सुई पर असर देखना था। जो बच्चे प्रयोग कर रहे थे वे काम में काफी तन्मय थे। प्रयोग में स्विच के उपयोग में काफी दिक्कत आ रही थी, इसलिए कुछ बार प्रयास करके विद्यार्थियों ने स्विच हटाकर सीधे कनेक्शन करके प्रयोग किया। प्रयोग न करने वाले विद्यार्थियों को जब काफी उत्साहित किया गया तभी उन्होंने आगे बढ़कर प्रयोग किया। यह प्रयोग 4-6 मीटर लम्बे इनेमल्ड तार से किया जाता है, जिसके कारण बच्चों को विद्युत धारा की दिशा ढूँढने में काफी दिक्कत हो रही थी। वे अपनी कॉपियों में भी नहीं लिख रहे थे। मैं एक टोली में बहुत देर तक बैठकर यह देखने का प्रयत्न कर रही थी कि विद्युत धारा प्रवाहित होने पर भी दिक्सूचक की सुई घूम क्यों नहीं रही थी। लड़कों ने बल्ब, सेल वगैरह सब चेक किए। सब ठीक थे। काफी देर बाद एक लड़के ने ही ढूँढा कि वह इनेमल चढ़ा तार कहीं से टूट गया था और उसे इनेमल घिसे बिना जोड़कर परिपथ में उपयोग किया जा रहा था। तुरन्त तार का छोटा वाला टुकड़ा निकालकर अलग किया गया और बड़े टुकड़े का सिरा घिसकर प्रयोग किया गया। उन बच्चों ने स्वयं देखा कि अब दिक्सूचक की सुई घूम रही थी। यह काम छुट्टी हो जाने के बाद भी उस टोली के 5-6 सक्रिय बच्चों ने किया था।”

जुगाड़ की यही बात होशंगाबाद तहसील की एक ग्रामीण शाला (जनवरी 1974) में भी नज़र आती है। दरअसल हो.वि.शि.का. का खुलापन शिक्षकों और बच्चों दोनों के लिए ऐसे पर्याप्त मौके उपलब्ध कराता रहा था: “हवा का अध्याय चल रहा था। छात्रों ने हवा नापने के उपकरण में सुधार किया था। मूलतः हवा फूँको और विस्थापित पानी को इकट्ठा कर लो। ठीक ही लगता है। प्रयोग का प्रदर्शन करते समय बोतल खाली हो गई। एक लड़की ने सुझाव दिया कि तीन छेद वाला कॉर्क लिया जाए। तीसरे छेद से फिर

से पानी भरा जा सकेगा। मैंने सुझाया कि कॉर्क में दो छेद ही रखें और एक Y नली का उपयोग करें।

“हवा नापने का प्रयोग किया गया। दोनों तरह से किया – कार्ड में दी गई विधि से और संशोधित विधि से भी। कार्ड की विधि से आयतन ज़्यादा निकलता है (करीब तीन-साढ़े तीन गुना ज़्यादा)। संशोधित विधि में आयतन कम शायद इसलिए निकलता है कि आप एक दबाव के विरुद्ध काम कर रहे हैं।”

(दरअसल अनुवर्तनकर्ता ने इतने संक्षेप में ही यह बात बताई है। साथ में उन्होंने चित्र भी दिया है। इससे लगता है कि एक बोटल लेकर उसमें पानी भर लेते हैं और दो नलियाँ लगा देते हैं। चित्र से लगता है कि दोनों नलियाँ पानी में डूबी होती हैं। एक नली में हवा फूँकते हैं तो पानी दूसरी नली में से निकलता है जिसे इकट्ठा करके नाप सकते हैं। तीसरी नली का क्या उपयोग होगा यह साफ नहीं है।)

कुछ शिक्षकों ने जो विवरण दिए हैं उनसे एक और रोचक व महत्वपूर्ण बात उभरती है। वह यह कि प्रयोग करते-करते बच्चे प्रयोग के डिज़ाइन को समझने के प्रयास भी करते थे। जैसे सुलभा जैकी ने बताया: “हाँ, क्रोमेटोग्राफी से स्याही का पृथक्करण करते समय एक छात्रा ने पूछा कि विशेष कागज़ की पट्टी [सोख्ता कागज़] का ही उपयोग क्यों करते हैं, कॉपी का कागज़ क्यों नहीं?” या जैसे किशोरीलाल सोनी आगर शाला संकुल की एक शाला के बारे में बताते हैं: “एक बार एक छात्र ने मक्खी के जीवन चक्र वाले प्रयोग के बारे में पूछा कि ‘सर आपने तो यह प्रयोग गोबर पर करवाया मगर क्या यह किसी और आधार पर भी हो सकता है?’”

ये उदाहरण शायद मामूली लगें मगर इनसे पता चलता है कि बच्चे ये प्रयोग सोच-समझकर कर रहे थे, और ज़रूरत पड़ने पर विकल्प भी सोच पाते थे।

जैसा कि सुलभा जैकी बताती हैं, यह भी देखने में आता था कि प्रयोग करते-करते बच्चे चीज़ों के बीच सम्बन्धों पर ध्यान देते थे: “जब बच्चे चुम्बक की मदद से मिश्रण में से आलपिन अलग कर रहे थे, तब रेत में से

जश्न-ए-तालीम

कुछ कण भी चिपक गए जिन्हें लेकर एक टोली की लड़कियाँ आईं। तब मैंने उन्हें बताया कि रेत में लोहे के कण भी पाए जाते हैं। स्कूल के पास बालू का ढेर पड़ा था। उस ढेर में चुम्बक घुमाने पर लड़कियों को बोटल भर लोहे के कण मिल गए। इसमें बहुत आनन्द आया और बच्चों को उस चरवाहे की याद आ गई जिसने चुम्बक की खोज की थी।”

मगर जहाँ प्रयोग किए ही नहीं जाते थे, वहाँ क्या हश्र होता होगा? होशंगाबाद तहसील की एक ग्रामीण शाला (नवम्बर 1973) में यही हालत थी: “कक्षा 7 चल रही है। शिक्षक श्रेणी व समान्तर क्रम में स्प्रिंग वाले प्रयोग पर चर्चा करने का प्रयास कर रहे हैं। सारे छात्रों की रीडिंग एक-सी हैं - शिक्षक ने बोर्ड पर लिखी हैं, उन्हें उतार लिया है। नतीजा यह है कि आधे से ज़्यादा बच्चों को यह पता नहीं है कि स्प्रिंगों को श्रेणी क्रम में जोड़ने पर वे एक अकेली स्प्रिंग से ज़्यादा खींचती हैं या कम।...आम तौर पर बच्चों को बोलने या खुद पता करने को प्रेरित नहीं किया जाता है।”

इसी तरह मेघनगर की एक ग्रामीण शाला (अक्टूबर 1989) में भी ऐसी ही हालत थी जहाँ प्रयोग के बारे में बताकर बात समाप्त हो रही है: “आज का अध्याय ‘पोषण-1’ था। शिक्षक द्वारा बताया गया कि यदि किसी खाद्य पदार्थ को कागज़ पर रगड़ा जाए और यदि कागज़ पारदर्शी हो जाए तो उस पदार्थ में वसा है।...इसके बाद भोजन में प्रोटीन परीक्षण के बारे में बताया गया।...इसी प्रकार बताया गया कि पदार्थ पर आयोडीन का घोल डालने पर यदि गहरा नीला या काला रंग प्राप्त हो, तो उस पदार्थ में स्टार्च है।”

परिभ्रमण

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, हो.वि.शि.का. में परिभ्रमण एक समस्यामूलक घटक रहा है। परिभ्रमणों के बारे में एक बात गौरतलब है। बढ़ते क्रम में शिक्षक परिभ्रमण करवाने में असमर्थता व्यक्त करने लगे थे। इनमें से एक समूह तो शहरी शिक्षकों का था, जिनका कहना था कि शहर में बच्चों को ये अध्याय करवाने में बहुत मुश्किल होती है क्योंकि ऐसी जगहें

ही नहीं हैं जहाँ बच्चों को ले जाएँ और अध्ययन हेतु सामग्री मिल जाए। कई शिक्षक (खासकर कन्या शालाओं में पदस्थ पुरुष शिक्षक) यह कहते थे कि लड़कियों को परिभ्रमण पर ले जाना बहुत अव्यावहारिक होता है। फिर ग्रामीण शालाओं के कुछ शिक्षक कहते थे कि खेत, नदी-नालों के पास बच्चों को ले जाने में खतरा रहता है (कभी कोई साँप वगैरह काट ले तो?)। कुछ शिक्षकों का कहना होता था कि इसमें समय बहुत लगता है और उनके प्रधान अध्यापक उन्हें इजाज़त नहीं देते। एक शिकायत यह भी थी कि परिभ्रमण के दौरान अनुशासन बनाना मुश्किल हो जाता है।

इन बातों के मद्देनज़र शिक्षकों ने अपने-अपने ढंग से नवाचार भी किए थे। जैसे कुछ शिक्षक एक बार में ही एक से अधिक कक्षाओं को परिभ्रमण पर ले जाते थे और उस समय एक से अधिक शिक्षक बच्चों के साथ रहते थे। कई शिक्षकों ने मैदानी अध्ययन को तिलांजलि देकर परिभ्रमण को मात्र सामग्री जुटाने का एक साधन मान लिया था। अतः वे बच्चों से कह देते थे कि घर से स्कूल आते समय फलों-फलों सामग्री लेते आओ। कुछ स्कूलों में यह भी होता था कि कक्षा शुरू होने के बाद कुछ बच्चों से कह दिया जाता था कि वे भागकर जाएँ और फूल तोड़ लाएँ या पत्तियाँ ले आएँ। इसका परिणाम यह होता था कि वास्तविक परिवेश में जिस ढंग के सवाल बच्चे पूछ सकते थे, वे रह जाते थे। कई ऐसे अवलोकन भी नहीं हो पाते थे जो वास्तविक चीज़ को देखकर होने चाहिए – जैसे पत्तियों की जमावट या जन्तुओं का प्राकृतवास।

कुछ शिक्षकों ने इसका एक नायाब विकल्प खोज निकाला था। दरअसल यह उनके उत्साह का नतीजा था जो बाद में एक बाधा-सा बन गया। इन शिक्षकों ने बच्चों से हर्बेरियम बनवाए थे, कीड़े-मकोड़ों के संग्रह तैयार करवाए थे। अब हर साल वे इनका उपयोग प्रदर्शन हेतु कर लेते थे।

मगर कुछ शिक्षक सचमुच संजीदा प्रयास करते थे कि बच्चे परिभ्रमण करें और पर्यावरण का प्रत्यक्ष अवलोकन करें और उन्हें साधियों का सहयोग भी मिलता था। इसके लिए वे अपने ढंग से व्यवस्थाएँ भी बनाते थे। जैसे, धार की एक शहरी शाला (अगस्त 1987) की एक अनुवर्तन रिपोर्ट में बताया गया है: “कक्षा की छात्राएँ शिक्षिका के साथ परिभ्रमण के लिए उदयविलास

जश्न-ए-तालीम

पैलेस के पास वाली नर्सरी में गई थीं। परिभ्रमण के दौरान छात्राओं ने अनेक फूल एकत्रित किए थे और उनके नाम भी लिखे थे। नर्सरी में माली द्वारा छात्राओं को ग्राप्टिंग करना भी बताया गया था। वैसे इस कक्षा में विज्ञान के लिए कालखण्ड 5 व 6 थे किन्तु फूल खराब न हों इसलिए प्रधान अध्यापिका ने विषय शिक्षक को पहला एवं दूसरा कालखण्ड लेने की अनुमति दे दी थी।

“कक्षा 6 की छात्राएँ भी साथ ही परिभ्रमण पर गई थीं। उन्होंने पत्तियाँ एकत्रित की थीं व नाम भी लिखे थे। शिक्षिका ने छात्राओं को तालिका भरने को कहा। पत्तियाँ इतनी अधिक थीं कि इस तालिका को भरने में ही पूरा समय समाप्त हो गया।” ऐसा ही विवरण हमें धार की एक शहरी शाला (सितम्बर 1986) की रिपोर्ट में भी मिलता है: “प्रातः 8 बजे मैं विद्यालय पहुँचा तो प्रांगण में बालिकाएँ कतारबद्ध खड़ी हुई थीं। मैं कार्यालय में गया तो शिक्षिका कार्यालय से बाहर निकलती मिलीं। उन्होंने कहा कि आज सभी कक्षाएँ परिभ्रमण पर जा रही हैं। आप भी चलिए। समस्त छात्राओं को लेकर हम झिरन्या के पास के एक खेत में गए। वहाँ पर अलग-अलग कक्षाओं की छात्राओं में से कुछ फूल तोड़कर लाईं, कुछ छात्राओं ने कीड़े-मकोड़े इकट्ठे किए, कुछ पौधों पर से रोग फैलाने वाले कीड़े-मय पौधों की डाली लाईं। खेत मालिक से छठी की छात्राओं ने रकबा [क्षेत्रफल] तथा उसमें बोई गई फसल की जानकारी ली। बोने-काटने के तरीकों की जानकारी भी ली गई।”

इसी तरह सोहागपुर तहसील की एक कस्बाई शाला (सितम्बर 1979) में: “कक्षा 7 के विद्यार्थी परिभ्रमण कर चुके थे। चींटे की टाँगों की संख्या के बारे में एकमत होते हुए भी खण्डों के बारे में एकमत न थे।”

कितनी बड़ी बात है कि कक्षा में बच्चे किसी बात को लेकर एकमत न हों, जबकि पाठ्य पुस्तक आधारित शिक्षा में तो ऐसी बात कुफ्र ही कही जाएगी।

शोभा बाजपेई ने परिभ्रमण की व्यवस्था और असर को लेकर अपने अनुभव लिखे हैं: “परिभ्रमण वाले अध्यायों की चर्चा करने से पूर्व एक बात स्पष्ट

करना ज़रूरी है कि इन अध्यायों को करवाते समय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किया जाता रहा है। जैसे कक्षा 6 में 'पत्तियों का समूहीकरण' का परिभ्रमण कभी बाहर जाकर किया और कभी जब बारिश हो रही हो, तो हर टोली को 3-4 तरह की अलग-अलग पत्तियाँ शाला आते समय लेकर आने को कहकर विविध प्रकार की पत्तियाँ एकत्र करवा लेते थे। वैसे जड़ और पत्ती तथा पत्तियों से सम्बन्धित परिभ्रमण अमूमन होते थे। फसल के परिभ्रमण और सर्वेक्षण मैंने अधिकांशतः बच्चों से अपने पालकों व पड़ोसियों से चर्चा व सवाल-जवाब द्वारा किए क्योंकि हमारी कक्षा के अधिकांश छात्र कृषक या कृषि मज़दूर परिवारों से होते हैं।

“परिभ्रमण का असर तो उसके बाद भी बना रहता। बच्चे कभी कोई नया फूल, पत्ती, जन्तु, या कीड़ा, यहाँ तक कि साँप का बच्चा, गिरगिट आदि पकड़ लाते और उसके बारे में तरह-तरह के सवाल करते। कई प्रकार के कीड़े मैंने उनके कारण ही देखे। बेर के फूल और उनकी खूशबू का आनन्द मुझे बच्चों ने ही कराया।

“आठवीं के फसलों की सुरक्षा वाले अध्याय के लिए हमें अक्सर गेहूँ और चने के खेत ही मिलते थे क्योंकि ज़्यादातर किसान यही बोते थे। एक बार तो छात्रों ने एक खेत में इतने प्रकार की खरपतवार एकत्र कर ली कि उसका मालिक भी उनके नाम नहीं बता पाया। फिर बच्चों ने स्कूल के सामने से निकलने वाले किसानों को रोक-रोककर पूछा मगर फिर भी कई बेनाम ही रहे।

“परिभ्रमण कैसे हो, इस पर शुरुआती कक्षा में अच्छी तरह समझाइश देना होता था कि क्या करें, क्या न करें। आगे छात्र सब व्यवस्थित कर लेते। कभी-कभी आधी छुट्टी के बाद का पूरा समय यानी एक कालखण्ड अतिरिक्त लगाकर परिभ्रमण तथा बाद की चर्चा वहीं कर लेते। कभी-कभी दो कक्षाएँ एक साथ परिभ्रमण पर जातीं (अलग-अलग शिक्षकों के साथ) और परिभ्रमण के बाद भोजन कर वापिस लौटतीं। कभी-कभी हम प्रधान अध्यापक से टाइम टेबल में थोड़ा परिवर्तन करवाकर आखरी के दो कालखण्डों की बजाय शुरु के दो कालखण्डों में परिभ्रमण पर जाने की अनुमति ले लेते थे।”

सोहागपुर की मित्र कन्या शाला में परिभ्रमण का उत्सवनुमा स्वरूप उभरता है। सुनीला मसीह के शब्दों में: “हो.वि.शि.का. में परिभ्रमण का महत्व था किन्तु परिभ्रमण हमेशा हो, यह सम्भव नहीं था। मेरी शाला में माध्यमिक विभाग की सभी शिक्षिकाएँ और तीनों कक्षाएँ माह में एक बार (प्रायः शुक्रवार सुबह 8 से 2 बजे तक) परिभ्रमण के लिए आसपास की जगह जाते। तीनों कक्षाओं के अध्याय अलग-अलग तय करते। समूह में कक्षावार सामग्री एकत्रित करके विश्लेषण कर लेते। कुछ नोट्स बनाते। एक साथ सभी बैठकर दोपहर का खाना खाते, सांस्कृतिक कार्यक्रम करते, गीत, कविताएँ, नृत्य, चुटकले वगैरह होते।”

उपरोक्त विवरण बहुत प्रेरणास्पद हैं और स्कूल से बाहर जाकर मैदानी अध्ययन के महत्व व सम्भावना की ओर इशारा करते हैं, मगर पिपरिया गोष्ठी में यह उभरकर आया कि परिभ्रमण की प्रथा कमज़ोर पड़ चुकी थी। परिभ्रमण मात्र सामग्री प्राप्त करने का साधन रह गया था, परिभ्रमण के दौरान होने वाली प्रक्रियाओं की उपेक्षा हो रही थी। शिक्षक एम. एल. पटेल ने तो यहाँ तक कहा कि “परिभ्रमण में समय लगाने से तो बेहतर लगता था कि ‘पढ़ाई’ में समय लगाएँ।” कुछ शिक्षक परिभ्रमण की बजाय बच्चों के आम अनुभवों को आगे की चर्चा का आधार बना लेते थे। इससे लगता है कि परिभ्रमण को पाठ्यक्रम का एक अंग नहीं माना जा रहा था, बल्कि यह अध्यापन के लिए एक साधन था। परन्तु कई शिक्षक महसूस करते थे कि यह उनके अध्यापन कार्य में एक बाधा है। कार्यक्रम बन्द होने के बाद किए गए एक अध्ययन से पता चलता है कि आम तौर पर परिभ्रमण साल में एकाध बार ही होते थे हालाँकि शिक्षक मानते थे कि विज्ञान शिक्षण में वास्तविक परिस्थिति में जाकर अध्ययन करने का बहुत महत्व है। कुछ शिक्षकों का मत था कि जीव विज्ञान का अध्ययन तो मैदान में जाकर ही होना चाहिए – आप पूरा पेड़ या सारी की सारी पत्तियाँ तो स्कूल में नहीं ला सकते। एक तथ्य यह भी उभरा कि अधिकांश परिभ्रमण जुलाई-अगस्त में होने चाहिए जब प्रकृति अपने शबाब पर होती है, मगर ऐसा नहीं हो पाता था। मज़ेदार बात यह है कि इसी अध्ययन में पूर्व छात्रों ने अपने विवरण में बताया कि परिभ्रमण के दौरान कहीं अधिक सीखने को मिलता था।

परिभ्रमण की बिगड़ती स्थिति के कई कारण सामने आए। सबसे प्रमुख कारण था समय की कमी। एक तो कुल समय की कमी बताई गई और दूसरी टाइम टेबल की समस्या बताई गई। दो पीरियडों में वापिस आना मुश्किल होता था। एक कारण शिक्षकों की कमी का भी व्यक्त हुआ। वैसे मुख्य बात यही लगती है कि परिभ्रमण को एक शैक्षणिक गतिविधि नहीं माना जाता था।

परिभ्रमण चाहे कमज़ोर पड़ गए थे मगर स्थानीय पर्यावरण से प्राप्त सामग्री का अध्ययन खूब होता था। जैसे मेघनगर की एक ग्रामीण शाला (सितम्बर 1989) में “प्रत्येक टोली के पास भटा, गिलकी, लौकी, टमाटर, मिर्ची, केला, करेला, भिण्डी, तुरई, सीताफल, प्याज, डोचरा जैसे फल और भिण्डी, भटा के फूल भी थे। छात्र अध्याय ‘फूल और फल – खण्ड 3’ में फूल और फल की तुलना कर रहे थे।”

या धार की एक शहरी शाला (सितम्बर 1985) में “छात्रों को बरगद व गूलर के फूल बाँटे गए तथा उनकी आड़ी व खड़ी काट काटने को कहा गया। क्या तुम्हें बीज मिले या कुछ और? उत्तर थे बीज और कुछ छात्रों ने फूल भी उत्तर दिया। इस गूलर के कुछ भाग निकालकर लेंस से देखना प्रारम्भ किया गया। क्या अंखुड़ी, पंखुड़ी दिखाई दी? कुछ छात्रों ने हाँ कहा, कुछ ने नहीं। इनमें स्त्रीकेसर-पुंकेसर ढूँढो। छात्रों ने हैण्डलेंस से देखा। कुछेक ने कहा पुंकेसर ही दिख रहा है, कुछेक ने स्त्रीकेसर कहा। प्रश्न 42 का उत्तर था एकलिंगी फूल है। फिर छेद के पास के और डण्ठल के पास के फूलों का अध्ययन करने को कहा गया। नर और मादा फूल कहाँ स्थित होते हैं? छात्रों ने कहा कि डण्ठल के पास मादा फूल और छेद के पास नर फूल हैं।”

सुनीला मसीह ने अपने अनुभव बताए: “शाला में बोगनविलिया बहुत है। उसकी रंगीन पत्ती को ही बच्चे फूल समझते थे। जब उस रंगीन पत्ती के साथ जुड़ा छोटा-सा घण्टीनुमा फूल उन्हें बताती, ब्लेड से खोलकर स्त्रीकेसर, पुंकेसर दिखाती, तब छात्राओं के चेहरे पर खुशी और आश्चर्य के भाव दिखते।”

धार की एक शहरी शाला (अक्टूबर 1985) का भी यही किस्सा है: “प्रकरण – सूक्ष्मदर्शी में से जीवजगत। शीशी में पानी की एक बूँद स्लाइड पर रखकर

सूक्ष्मदर्शी में से शिक्षक महोदय ने देखना शुरू किया। और पानी के जीव बच्चों को एक-एक करके दिखाए। मैंने भी देखे। उबरे की काई के बदले एक लड़का दीवार, ईंट पर उगने वाले पौधे लाया। प्याज की झिल्ली दिखाई गई।”

कक्षाओं के इस तरह के बहुत सारे विवरण हमारे पास हैं। इनमें मुख्य रूप से यह बात उभरती है कि हो.वि.शि.का. की कक्षा बच्चों के क्रियाकलापों और शिक्षक के प्रयासों पर बहुत निर्भर थी। जब भी पाठ्य पुस्तक को कक्षा के केन्द्र से हटाया जाएगा तो यह अपेक्षित भी है। मगर इसके कारण हमारा सामना एक गहरी समस्या से होता है। जहाँ पाठ्य पुस्तक आधारित शिक्षण में यह सुनिश्चित हो जाता है कि सारे छात्र “सही” उत्तर जान जाएँगे, वहीं बाल केन्द्रित शिक्षण में बच्चों और शिक्षकों को मिली स्वायत्तता के चलते यह “खतरा” बना रहता है कि “गलत” उत्तर मान्य हो जाएँगे। यहाँ यह सवाल भी उठता है कि शिक्षण विधि में ज़्यादा महत्व किस बात को दिया जाए – “सही” उत्तर जान लेने को या उत्तर तक पहुँचने की प्रक्रिया को? यहाँ हमें एक सवाल और उठाना होगा: क्या पाठ्य पुस्तक में अंकित “सही” उत्तर बच्चों (और शिक्षकों) की पूर्व धारणाओं से कोई संवाद, कोई जद्दोजहद करते हैं या उनके ऊपर थोप दिए जाते हैं? लगता यह है कि बच्चे कक्षा और परीक्षा के दायरे में तो तथाकथित सही उत्तर को दोहराते रहते हैं, मगर गहराई में उन पर विश्वास नहीं करते। दूसरी ओर स्वायत्तता पर टिकी होशंगाबाद विज्ञान विधि है जिसमें बच्चों की पूर्व धारणाओं को उभरने का पूरा मौका मिलता है, मगर शिक्षक की सीमाओं के चलते यह खतरा रहता है कि उन धारणाओं की पुष्टि हो जाएगी। दूसरे शब्दों में, सवाल यह है कि छात्रों को “संचित ज्ञान” हस्तान्तरित करने का तरीका क्या होगा। शिक्षा में कोई भी सार्थक हस्तक्षेप करने वालों को इस सवाल का सामना करना होगा।

कक्षा के इन अनुभवों में कई बातें उभरती हैं जबकि कई नहीं उभरतीं। जैसे यह पता नहीं चलता कि कक्षा में बच्चों के बीच और शिक्षक व बच्चों के बीच किस तरह का संवाद होता था। यह भी स्पष्ट नहीं होता कि शिक्षक सारे बच्चों को जोड़े रखने के लिए क्या करते थे। हालाँकि जैसा कि

किशोरीलाल सोनी ने बताया है, कई स्कूलों में कोशिश होती थी कि “कमज़ोर” बच्चों और “होशियार” बच्चों की मिली-जुली टोलियाँ बनाएँ। मगर इतना तो साफ है कि होशंगाबाद विज्ञान की कक्षा में बच्चे काफी मुक्त होते थे और कक्षा में उनकी अपनी एक सत्ता होती थी। शासकीय माध्यमिक शाला, ऊड़ॉ (ज़िला हरदा) की कुछ कक्षाओं की एक सी.डी. उपलब्ध है। इसे देखकर हो.वि.शि.का. की कक्षा में बच्चों की स्वायत्तता का अन्दाज़ लगाया जा सकता है और यह पता चलता है कि कैसे कक्षा की दीवारें धुलने लगती हैं। ऊपर प्रस्तुत विवरणों से भी एक बात तो साफ उभरती है कि हो.वि.शि.का. की कक्षाओं में काफी तरलता होती थी और कक्षा का एक सर्वथा नया रूप प्रकट होता था।

परीक्षा

बम्बई के नगर निगम स्कूलों में विज्ञान शिक्षा का नवाचार बन्द होने का एक बड़ा कारण यह था कि नगर निगम ने बोर्ड परीक्षा में परिवर्तन करने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया था। वहाँ शिक्षकों को भी स्पष्ट था कि उनके स्कूलों के बच्चे विज्ञान में जो बातें सीख रहे हैं उनकी तो परीक्षा होगी नहीं, बोर्ड की परीक्षा में रटी-रटाई जानकारी पूछी जाएगी, फार्मूले पूछे जाएँगे। तब इन बच्चों का बहुत नुकसान होगा। यह एक महत्वपूर्ण सबक था जो बम्बई के अनुभव से निकला था। इसलिए जब 1972 में बी. जी. पित्रे इस कार्यक्रम को होशंगाबाद में लागू करने के प्रस्ताव के सिलसिले रसूलिया आए थे तो उन्होंने सुदर्शन कपूर और अनिल सद्गोपाल से कहा था कि कार्यक्रम शुरू करने से पहले सरकार से परीक्षा में परिवर्तन की अनुमति अवश्य ले लें। 1972 के प्रस्ताव में यह बात कही तो गई थी किन्तु उस समय इस बात पर ज़ोर नहीं दिया गया था। हालाँकि अनिल सद्गोपाल के शब्दों में “परीक्षा यथास्थिति को बनाए रखने का एक प्रमुख औज़ार है जो सारे नवाचारों को पीछे धकेल देता है।”

परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन शुरू से ही हो.वि.शि.का. में एक प्रमुख सरोकार रहा है। मूल बात यह थी कि परीक्षा उन चीज़ों की होनी चाहिए जो आप सिखा रहे हैं या चाहते हैं कि बच्चे सीखें। कार्यक्रम की अन्य चीज़ों की तरह परीक्षा की प्रणाली भी धीरे-धीरे अनुभवों से विकसित हुई। मगर इसके प्रमुख तत्व शुरू से ही स्पष्ट थे। कार्यक्रम के 30 वर्षों में अन्य पहलुओं की ही तरह परीक्षा के तौर-तरीकों में भी काफी बदलाव आए। मगर परीक्षा की मूल भावना वही रही।

लेकिन एक बात शुरू में ही कह देना उचित होगा। हो.वि.शि.का. समूह का स्पष्ट मत रहा कि सर्वोत्तम परीक्षा तो वही होगी जो शिक्षक स्वयं ले। यानी हर शिक्षक को अपने विद्यार्थियों की परीक्षा लेने की छूट होनी चाहिए। इस परीक्षा का मकसद यह नहीं होगा कि बच्चों को पास-फेल कर दिया जाए या फर्स्ट/सेकण्ड/थर्ड घोषित कर दिया जाए। इस परीक्षा का मकसद यह होगा कि शिक्षक पता लगा सके कि बच्चे उस समय तक क्या-क्या सीख चुके हैं और कौन-सी बातें सीखने के लिए तैयार हो गए हैं, कहाँ और मदद व समय की ज़रूरत है, और कहाँ अनुभव की ज़रूरत है। इसलिए शिक्षकों के साथ प्रारम्भिक दौर के वार्तालाप में स्रोत दल का आग्रह रहता था कि आन्तरिक मूल्यांकन का महत्व अधिक होना चाहिए।

मध्य प्रदेश में बोर्ड परीक्षाएँ विभिन्न स्तरों पर आयोजित की जाती थीं और अब भी की जाती हैं। प्रथम बोर्ड परीक्षा कक्षा 5 में होती है जो उस समय ज़िला स्तर पर होती थी। इसके बाद पूर्व माध्यमिक बोर्ड परीक्षा सम्भाग स्तर पर होती थी और कक्षा 10 व 12 की बोर्ड परीक्षाएँ राज्य स्तरीय माध्यमिक शिक्षा मण्डल द्वारा आयोजित की जाती थीं। होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम के बच्चों का पहला बैच 1974-75 में कक्षा 8 में पहुँचा था। इस समय फ्रेंड्स रूरल सेंटर और किशोर भारती ने सरकार के साथ एक बार फिर परीक्षा को लेकर संवाद शुरू किया। इस समय राज्य शासन ने एक महत्वपूर्ण व साहसिक कदम उठाते हुए यह व्यवस्था की थी कि हो.वि.शि.का. के अन्तर्गत शामिल 16 स्कूलों में कक्षा 8 की परीक्षा फ्रेंड्स रूरल सेंटर व किशोर भारती द्वारा आयोजित की जाएगी और इस परीक्षा को बोर्ड परीक्षा के तुल्य मान्यता होगी। दूसरे शब्दों में इन दो गैर-सरकारी स्वैच्छिक संस्थाओं को बोर्ड का दर्जा प्रदान किया गया था। यह किसी भी राज्य शासन द्वारा उठाया गया एक अभूतपूर्व कदम था और शिक्षा से सरोकार रखने वाले लोगों को इसका महत्व बताने की ज़रूरत नहीं है।

लिहाज़ा कार्यक्रम में शामिल 16 स्कूलों की कक्षा 8 की बोर्ड परीक्षा 1975 से लेकर 1980 तक किशोर भारती व फ्रेंड्स रूरल सेंटर द्वारा आयोजित की जाती थी।

जश्न-ए-तालीम

इतना कहने के बाद शायद वहाँ से शुरू करना उचित होगा जब ज़िला स्तरीय प्रसार का निर्णय हो जाने के बाद 1977 में हो.वि.शि.का. समूह ने एक पर्चे में संक्षेप में यह बताया था कि उसने किस तरह की परीक्षा प्रणाली विकसित की है। यहाँ वह पर्चा शब्दशः दिया जा रहा है। बीच-बीच में स्पष्टीकरण की दृष्टि से मैंने कुछ टीपें जोड़ी हैं जो कोष्ठकों में हैं। वैसे तो पर्चे में यह बताया गया है कि परीक्षा के हर तत्व के पीछे तर्क क्या था मगर बाद में हम इस पर कुछ और चर्चा करेंगे। यह पर्चा 1977 तक हुए प्रयोगों के निचोड़ को ही प्रस्तुत करता है। पाँच साल तक चले इन तज़ुर्बों में कई चीज़ें आजमाई गई थीं। उन पर भी थोड़ा प्रकाश डालना लाज़मी होगा। तीसरी बात यह है कि ज़िला स्तरीय प्रसार के साथ यह प्रणाली हूबहू इसी रूप में नहीं अपनाई गई थी और बाद में इसकी बारीकियों में कई फेरबदल हुए हैं। उनकी बात भी करेंगे। अन्त में इस बात पर चर्चा करना ज़रूरी होगा कि इस परीक्षा का मैदानी अनुभव क्या रहा और इसने सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर क्या असर डाला।

हो.वि.शि.का. मूल्यांकन – एक रूपरेखा (1977)

पिछले पाँच वर्षों में हमने धीरे-धीरे मूल्यांकन की एक प्रणाली विकसित की है। हमारे ख्याल से यह हमारे उद्देश्यों के सबसे अनुकूल है। चूँकि अब इस कार्यक्रम का विस्तार होने जा रहा है और छात्रों के मूल्यांकन की ज़िम्मेदारी अन्य लोग उठाएँगे, इसलिए यह ज़रूरी है कि अब तक जो कुछ हमारे दिमागों में रहा है और जिसे हम अनायास ही लागू करते रहे हैं, उसे लिख दिया जाए।

कक्षा 8

पहले हम कक्षा 8 के छात्रों के मूल्यांकन की प्रक्रिया पर विचार करेंगे और उसके बाद कक्षा 6 व 7 के मूल्यांकन पर कुछ टिप्पणी करेंगे। इन दो समूहों में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ कक्षा 8 की परीक्षा एक बाह्य बोर्ड द्वारा ली जाती है, वहीं कक्षा 6 व 7 की परीक्षा आन्तरिक होती है।

कक्षा 8 के अन्त में ली जाने वाली परीक्षा के तीन हिस्से हैं: आन्तरिक मूल्यांकन (15 प्रतिशत), एक लिखित प्रश्न पत्र (45 प्रतिशत) और एक प्रायोगिक परीक्षा (40

प्रतिशत)। उत्तीर्ण होने के लिए किसी भी छात्र को इन तीनों में मिलाकर न्यूनतम 33 प्रतिशत अंक और प्रत्येक में अलग-अलग न्यूनतम 25 प्रतिशत अंक प्राप्त करना ज़रूरी है।

[गौरतलब है कि अंकों का यह विभाजन शिक्षकों के साथ काफी विचार-विमर्श के बाद तय किया गया था। स्रोत दल का हमेशा यह आग्रह रहा कि आन्तरिक मूल्यांकन का वेटेज ज़्यादा रखा जाए।]

आन्तरिक मूल्यांकन: शिक्षक से अपेक्षा की जाती है कि वह उपस्थिति की नियमितता, कक्षा में प्रदर्शन, अभ्यास पुस्तिका, तथा मासिक व अर्ध-वार्षिक परीक्षा में प्रदर्शन के आधार पर अपने छात्रों का मूल्यांकन करे।

लिखित पर्चा: यह असीमित समय और खुली किताब वाली परीक्षा है। आम तौर पर प्रश्न पत्र में दस प्रश्न होते हैं और इसे इस तरह बनाया जाता है कि एक औसत विद्यार्थी को इसे हल करने में करीब ड़ाई घण्टे का समय लगे। विद्यार्थियों को सलाह दी जाती है कि वे अपनी रिकॉर्ड बुक और *बाल वैज्ञानिक* साथ लेकर आएँ और ज़रूरत पड़ने पर इनका उपयोग करें। मगर उन्हें आपस में या किसी अन्य से बातचीत करने की छूट नहीं होती।

[1975-1980 के प्रश्न पत्रों को देखने से पता चलता है कि कई वर्षों तक तो परीक्षा में बच्चों को सिर्फ *बाल वैज्ञानिक* ही नहीं, कोई भी किताब लाने की छूट थी। वैसे सत्तर के दशक में ग्रामीण भारत की परिस्थिति में इस बात का कोई व्यावहारिक महत्व शायद न रहा हो। इसके अलावा उन्हें यह भी छूट थी कि वे प्रश्न पत्र को दो बैठकों में हल करें और दो बैठकों के बीच वे आपस में बात कर सकते थे। हाँ, शिक्षक से बात करने की मनाही थी। स्कूली परीक्षा में असीमित समय का तो शायद यह देश का पहला उदाहरण होगा और साथियों से बात कर पाना तो शायद आज भी अकल्पनीय लगे।]

प्रश्न पत्र का निर्माण आम तौर पर एक समूह द्वारा किया जाता है और कोशिश यह होती है कि प्रश्न पाठ्यक्रम के पूरे परास में फैले हों। आम तौर पर एक प्रश्न पूरी तरह कोर्स से असम्बन्धित होता है और इसकी रचना छात्रों के बुद्धि कौशल (IQ) व कुदरती क्षमता की जाँच के लिहाज़ से की जाती है। शेष प्रश्नों में वस्तुनिष्ठ प्रश्न, खुले उत्तर वाले प्रश्न, छोटे विवरणात्मक प्रश्न, छात्रों से चित्र बनाने की माँग करने वाले प्रश्न, सरल गणना वाले प्रश्न और कभी-कभी सीधे याद करके लिखने वाले प्रश्न भी होते हैं। इस तरह के प्रश्न बनाने का मकसद छात्रों की विभिन्न कुशलताओं, जैसे अवधारणा की समझ, तर्क क्षमता, अभिव्यक्ति की क्षमता, कल्पना शक्ति की जाँच करना है, और ऐसी

जश्न-ए-तलीम

परिस्थितियों में उनकी जाँच करना है जो कक्षा में उपस्थित किसी परिस्थिति के लगभग समान हों या उससे बहुत भिन्न हों।

एक बार प्रश्न पत्र बन जाने पर हर प्रश्न के प्रारम्भिक अंक निर्धारित कर दिए जाते हैं। ये अंक निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वह प्रश्न कितना कठिन है, उसे करने में छात्र को कितना समय लगेगा, उसका उत्तर देने के लिए उसे कितनी लिखित सामग्री को समझना होगा, प्रश्न से सम्बन्धित अवधारणा कितनी महत्वपूर्ण और मुश्किल है, कितनी तर्क व गणना क्षमताओं की ज़रूरत होगी, कितनी कल्पना शक्ति की ज़रूरत होगी, क्या प्रश्न की परिस्थिति छात्र के लिए परिचित है या उसे सीखी हुई प्रक्रियाओं को ऐसी परिस्थिति पर लागू करने को कहा जा रहा है जो उसके लिए एकदम नई हैं।

[अलबत्ता, पूर्व में निर्धारित किए गए ये अंक प्रश्न पत्र पर प्रश्नवार दर्शाए नहीं जाते हैं।]

उपरोक्त प्रश्नों में से कुछ (दो-तीन) को छॉटकर अलग किया जाता है जिनका सम्बन्ध कार्यक्रम के मूल तत्वों से है। ये वे तत्व हैं जिनके बारे में माना गया है कि अगली कक्षा में पहुँचने से पहले छात्र को इनमें न्यूनतम समझ अर्जित कर लेनी चाहिए। ज़ाहिर है कि ये प्रश्न मामूली प्रकृति के नहीं हो सकते। इस तरह के प्रश्नों के कुछ क्षेत्र हैं मापन, इकाई, आँकड़ों को समझाना, समूह, उपसमूह और अन्य विषयों की इसी तरह की अवधारणाएँ। अंकों के प्रारम्भिक निर्धारण में इन प्रश्नों को ज़्यादा तरजीह (वेटेज) दी जाती है।

[परीक्षा की दृष्टि से मूल तत्वों, न्यूनतम अपेक्षाओं वगैरह की समझ धीरे-धीरे पुख्ता व रुढ़ होती गई थी। आगे चलकर हो.वि.शि.का. के परीक्षा मैनुअल में इन्हें स्पष्ट रूप से परिभाषित करके शामिल किया गया था।]

इसके बाद सब छात्रों की लिखित परीक्षा ली जाती है। उनका मूल्यांकन करने से पहले सारी उत्तर पुस्तिकाओं में से करीब 20 प्रतिशत नमूना बेतरतीब ढंग से निकाला जाता है। प्रत्येक प्रश्न का अपेक्षित उत्तर तय करने के बाद परीक्षक इस नमूने का अध्ययन करते हैं और दिए गए उत्तरों को उत्तम से कमजोर तक विभिन्न श्रेणियों में बाँटते हैं। प्रत्येक प्रश्न में इन श्रेणियों के वितरण को नोट किया जाता है और इसके आधार पर निम्नलिखित दिशानिर्देशों के अनुसार उनके पूर्व-निर्धारित अंकों में परिवर्तन किए जाते हैं:

1. नमूना उत्तर पुस्तिकाओं में श्रेणी का वितरण कैसा भी हो, मूल तत्व वाले प्रश्नों के अंकों में या तो कोई परिवर्तन नहीं किया जाता या मामूली परिवर्तन किया

जाता है। हाँ, यदि कोई खराब ढंग से बना प्रश्न सामने आ जाए, तो बात अलग है।

2. शेष प्रश्नों में ऐसे प्रश्नों का वज़न (वेटेज) कम कर दिया जाता है जिन्हें अधिकांश बच्चों ने बहुत बढ़िया या बहुत खराब किया हो और इनका वेटेज उन प्रश्नों को दे दिया जाता है जिनमें उत्तर उत्तम से कमज़ोर की विभिन्न श्रेणियों में सुवितरित हों।

ऐसा करने के पीछे तर्क इस प्रकार है। यदि छात्रों के मूल्यांकन का हमारा उद्देश्य दोहरा है कि:

- क) हम उत्कृष्ट, अच्छे, साधारण व कमज़ोर छात्रों के बीच विभेद करना चाहते हैं और
- ख) यह भी सुनिश्चित करना चाहते हैं कि अगली कक्षा में जाने से पहले सारे छात्र कुछ न्यूनतम सीख चुके हों, तो उपरोक्त बिन्दु क्रमांक 1 दूसरी बात (न्यूनतम सीखने) को सुनिश्चित करता है जबकि पहली बात (विभेद) को सुनिश्चित करने के लिए ज़रूरी है कि उन प्रश्नों को अधिक वेटेज दिया जाए जिनमें छात्रों के उत्तरों में सबसे अधिक विविधता दिखे। यानी ऐसे प्रश्न उन प्रश्नों से बेहतर हो जाते हैं जिनके उत्तर सारे छात्र बढ़िया या खराब देते हैं अर्थात् इन प्रश्नों में विभेदन क्षमता कम है।

[अंकों का यह पुनर्निर्धारण एक सांख्यिकीय प्रक्रिया है और हो.वि.शि.का. की परीक्षा को लेकर तमाम सन्देहों का सबब बनी है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।]

इस प्रक्रिया का एक लाभ और भी है। इससे वे प्रश्न पहचाने जा सकते हैं जो अस्पष्ट या कभी-कभी गलत बने होते हैं (हमारा अनुभव दर्शाता है कि हर प्रश्न पत्र में ऐसे 1-2 प्रश्न होते हैं)। यदि बेतरतीब नमूने के उत्तरों के आधार पर परीक्षक आश्वस्त हैं कि कोई प्रश्न विशेष रूप से खराब है या अस्पष्ट ढंग से लिखा गया है और इसके कारण उस प्रश्न में छात्रों का प्रदर्शन प्रभावित हुआ है तो उस प्रश्न का वेटेज काफी कम किया जा सकता है या असाधारण परिस्थिति में उसे हटाया भी जा सकता है। मात्र इसी तरह की परिस्थिति में मूल तत्व वाले प्रश्नों के पूर्व-निर्धारित अंकों में भारी उलट-फेर किया जाता है।

इस प्रकार प्रश्नों के अंक अन्तिम रूप से निर्धारित करने के बाद सारी उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच की जाती है। इसमें नमूने के तौर पर ली गई उत्तर पुस्तिकाएँ भी शामिल होती हैं। मूल्यांकन करते समय एक परीक्षक सारी उत्तर पुस्तिकाओं के एक प्रश्न की ही जाँच करता है, पूरे प्रश्न पत्र के सारे प्रश्नों की नहीं।

जश्न-ए-तालीम

[एक प्रश्न को एक ही परीक्षक द्वारा जाँचे जाने के पीछे एकरूपता की बात है मगर ज़िला स्तर पर इस व्यवस्था का पालन करना सम्भव नहीं रहा था।]

परमांक: चूँकि प्रश्न पत्र में कई प्रश्न खुले उत्तर वाले (open-ended) होते हैं, इसलिए अक्सर उनके एक से अधिक सही उत्तर होते हैं। अपने अनुभव और कक्षा 6, 7 व 8 के छात्रों की सामान्य क्षमताओं के मद्देनज़र परीक्षक आम तौर पर तय कर लेते हैं कि किसी प्रश्न विशेष के किस तरह के उत्तर पर पूरे अंक दिए जाएँगे। यदि असाधारण परिस्थिति में कोई छात्र परीक्षकों की सर्वोत्तम अपेक्षा से भी बेहतर उत्तर देता है या अपेक्षित स्तर से अधिक हुनर अथवा कल्पनाशीलता दर्शाता है तो उसे प्रश्न के पूर्णांक के अतिरिक्त परमांक (supermarks) दिए जाते हैं। हमारे पाँच साल के अनुभव के दौरान एक मौका ऐसा भी आया है कि इस प्रावधान की वजह से एक छात्र को अधिकतम सम्भव अंकों से भी ज़्यादा अंक मिले, उसे वास्तव में 100 में से 104 अंक मिले थे। यह एक असाधारण बात होगी कि कोई छात्र सारे प्रश्नों में असाधारण क्षमता का प्रदर्शन करे क्योंकि विभिन्न प्रश्नों में विविध क्षमताओं और कुशलताओं की जाँच होती है। वैसे भी इस प्रावधान का उपयोग असाधारण परिस्थितियों में किया जाना चाहिए और वह भी उच्चतर अवधारणात्मक व कौशल से सम्बन्धित प्रश्नों के सन्दर्भ में।

प्रायोगिक परीक्षा: लिखित परीक्षा के विपरीत, प्रायोगिक परीक्षा सीमित अवधि की होती है। असीमित अवधि की परीक्षा के लिए बड़ी संख्या में प्रशिक्षित व्यक्तियों और प्रयोगशाला सुविधाओं की ज़रूरत होगी। अतः इस परीक्षा में आम तौर पर चार अलग-अलग प्रयोग या गतिविधियाँ होती हैं जिन्हें हर विद्यार्थी को एक निश्चित समयावधि (लगभग 15 मिनट प्रति प्रयोग) में पूरा करना होता है। प्रयोगों का चुनाव इस तरह होता है कि वे अवलोकन क्षमता, प्रायोगिक कुशलता, चित्र व तालिका बनाने की क्षमता, अवलोकनों की व्याख्या करने व निष्कर्ष निकालने की क्षमता की जाँच करें।

[आगे चलकर प्रायोगिक परीक्षा में पाँच प्रयोग दिए जाते थे और इनके लिए स्पष्ट श्रेणियाँ परिभाषित कर दी गई थीं।]

कक्षा 6 व 7

उपरोक्त प्रक्रिया बाहरी बोर्ड द्वारा मूल्यांकन के लिए है। स्कूल परीक्षा शिक्षक स्वयं मासिक, अर्ध-वार्षिक व वार्षिक स्तर पर लेते हैं। इसके लिए उपरोक्त प्रक्रिया द्वारा वेटेज की गणना की कोई ज़रूरत नहीं है क्योंकि शिक्षक खुद ही विभिन्न अध्यायों का तुलनात्मक महत्व जानते हैं और इस आधार पर पहले से अंक तय कर सकते हैं। एक तथ्य यह भी है कि अंकों के अन्तिम निर्धारण के लिए बेतरतीब नमूने की आवश्यकता

होती है। स्कूल स्तर पर उत्तर पुस्तिकाओं की संख्या बहुत कम होती है, इसलिए यह प्रक्रिया अनुपयुक्त होगी। मगर यदि कक्षा 6 व 7 की परीक्षा विकास खण्ड स्तर पर करने की बात होती है तो यह प्रक्रिया उपयोगी होगी।

सारांश

संक्षेप में, इस परीक्षा प्रणाली के कई तत्व हैं जो पारम्परिक परीक्षा से एकदम अलग हैं:

- किताब कॉपियाँ लाने की छूट (खुली किताब परीक्षा);
- लिखित परीक्षा में असीमित समय;
- प्रायोगिक परीक्षा का प्रावधान (पूर्व माध्यमिक स्कूल स्तर पर);
- प्रश्न पत्र समूह द्वारा बनाया जाना;
- पाठ्यक्रम से बाहर के प्रश्नों का जानबूझकर समावेश;
- उत्तर पुस्तिकाओं की समीक्षा;
- प्रश्न पत्र में प्रश्नों के अंक इंगित न करना;
- अंकों का पुनर्निर्धारण;
- परीक्षा की दृष्टि से पाठ्यक्रम का विभाजन;
- परमांक; तथा
- छात्रों को दो बैठकों में प्रश्न पत्र हल करने व बातचीत की छूट (शुरुआती दौर में)।

ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद

इनमें से कई व्यवस्थाएँ ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद भी जारी रहीं और सम्भागीय बोर्ड परीक्षा का अभिन्न अंग बन गईं। नई परीक्षा व्यवस्था को अन्ततः एक परीक्षा प्रतिवेदन या मैनुअल के रूप में सम्भागीय शिक्षा अधीक्षक द्वारा जारी किया गया था। इस मैनुअल की एक विशेषता यह थी कि इसमें न सिर्फ परीक्षा सम्बन्धी प्रक्रियाओं व ढाँचों की जानकारी दी गई थी बल्कि उनके तर्क भी स्पष्ट किए गए थे ताकि इन प्रक्रियाओं को परिपाटी मानकर दोहराते रहने की बजाय समझकर अपनाया जाए और ज़रूरत पड़ने पर परिवर्तन किए जा सकें।

जश्न-ए-तालीम

परमांक की व्यवस्था और लिखित परीक्षा में असीमित समय व आपसी बातचीत को छोड़कर शेष समस्त प्रावधानों को सम्भागीय पूर्व माध्यमिक परीक्षा में भी बरकरार रखा गया। प्रश्न पत्र निर्माताओं के लिए यह निर्देश था कि “लिखित परीक्षा के लिए निर्धारित समय ढाई घण्टे का है। चूँकि हम चाहते हैं कि सभी परीक्षार्थी अपने उत्तर आराम से सोच-समझकर और बिना किसी घबराहट के दें, इसलिए प्रश्न पत्र ऐसा बनाया जाए कि एक औसत परीक्षार्थी इसे लगभग दो घण्टे में पूरा कर सके।”

परीक्षा मैनुअल के अनुसार व्यवस्था यह थी कि लिखित व प्रायोगिक परीक्षा क्रमशः 60 व 40 अंकों की होगी। उत्तीर्ण होने के लिए छात्र को दोनों में अलग-अलग 25 प्रतिशत अंक प्राप्त करना होते थे तथा दोनों में मिलाकर 33 प्रतिशत। मैनुअल में इन दो परीक्षाओं के बारे में कहा गया था कि “दोनों परीक्षाओं में अधिकांश प्रश्न ऐसे होंगे जिनका उत्तर देने के लिए परीक्षार्थी को कुछ लिखित व प्रायोगिक क्रियाएँ करनी होंगी। दोनों में अन्तर केवल इतना होगा कि जहाँ एक ओर लिखित परीक्षा में विज्ञान के सिद्धान्तों और अवधारणाओं पर अपेक्षाकृत अधिक ज़ोर होगा, वहीं दूसरी ओर प्रायोगिक परीक्षा में प्रायोगिक कुशलताओं को अधिक महत्व दिया जाएगा।”

प्रायोगिक परीक्षा

ज़िला स्तर पर प्रायोगिक परीक्षा को यथावत रखा गया था हालाँकि आन्तरिक मूल्यांकन समाप्त कर दिया गया था। असल में अन्य विषयों के समान आन्तरिक मूल्यांकन (कथित सतत मूल्यांकन) की प्रथा तो जारी रही मगर वार्षिक परीक्षा फल की दृष्टि से इसका महत्व खत्म हो गया। प्रायोगिक परीक्षा प्रयोग करने, अवलोकन लेने व प्रयोगों की व्याख्या करने की कुशलता की जाँच करती है।

ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद शुरु में व्यवस्था यह थी कि प्रायोगिक परीक्षा के लिए दो परीक्षकों की टोली प्रत्येक स्कूल में जाएगी और ये दोनों परीक्षक मिलकर प्रश्न पत्र तैयार करेंगे और परीक्षा के तुरन्त बाद मौके पर ही उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच का काम कर लेंगे। प्रत्येक छात्र को पाँच प्रयोग करने

होते थे जिनमें से प्रत्येक के लिए 7 अंक निर्धारित किए जाते थे। शेष 5 अंक मौखिक परीक्षा के लिए थे।

लेकिन इस तरह परीक्षा करने को लेकर कुछ व्यावहारिक व कुछ मानवीय परेशानियाँ थीं। एक समस्या यह थी कि सारे परीक्षक स्वयं बहुत अच्छे प्रयोग नहीं सोच पाते थे जिनकी मदद से बच्चों का उचित मूल्यांकन हो सके। इस व्यवस्था के कारण अलग-अलग स्कूलों में होने वाली प्रायोगिक परीक्षा में एकरूपता नहीं रहती थी। एक मानवीय दिक्कत यह थी कि स्कूल में ही बैठकर मूल्यांकन करने से परीक्षक वस्तुनिष्ठ ढंग से काम नहीं कर पाते थे, सामने बैठे छात्र को फेल कैसे करें? दूसरी मानवीय दिक्कत यह थी कि स्कूल में स्थानीय शिक्षक का दबाव भी बहुत अधिक होता था। इस कारण से प्रायोगिक परीक्षा की वस्तुनिष्ठता पर खुद शिक्षक भी सवाल उठाने लगे थे।

15 दिसम्बर 1982 को सम्भागीय शिक्षा अधीक्षक को लिखे एक पत्र में एकलव्य के अरविंद गुप्ते ने सूचित किया था कि “सम्भागीय पूर्व माध्यमिक परीक्षा 1982 में होशंगाबाद ज़िले के लगभग 9000 परीक्षार्थी सम्मिलित हुए।...जहाँ लिखित खण्ड में लगभग 2400 छात्र अनुत्तीर्ण हुए वहीं प्रायोगिक खण्ड में केवल 19 नियमित छात्र ही अनुत्तीर्ण हुए। स्वाध्यायी छात्रों में से लिखित खण्ड में 148 और प्रायोगिक खण्ड में 20 छात्र अनुत्तीर्ण हुए।”

निष्कर्ष यह था कि “प्रायोगिक परीक्षा में उचित मापदण्डों के अनुसार मूल्यांकन नहीं हुआ जिसके फलस्वरूप यह खण्ड लगभग निरर्थक हो गया। यह निर्विवाद है कि प्रायोगिक परीक्षा में की गई इस शिथिलता का विपरीत प्रभाव शैक्षणिक स्तर पर पड़ेगा।” इस पत्र में समस्या के मानवीय व शैक्षणिक कारणों की पड़ताल करके कुछ सुझाव भी दिए गए थे। प्रमुख रूप से प्रायोगिक परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच संगम केन्द्र स्तर पर करवाने और शिक्षकों को प्रायोगिक परीक्षा सम्बन्धी प्रशिक्षण देने के सुझाव दिए गए थे।

जब प्रायोगिक परीक्षा के संचालन में समस्याएँ आईं तो अपने चरित्र के

जश्न-ए-तालीम

अनुरूप ही हों.वि.शि.का. समूह ने शिक्षकों से सलाह-मशवरे का सिलसिला शुरू किया। जनवरी 1983 में मासिक गोष्ठियों के दौरान शिक्षकों से इस पर विचार-विमर्श किया गया और उनके सुझाव माँगे गए। शिक्षकों ने जो सुझाव दिए थे उनमें इतनी ज़्यादा विविधता थी कि कभी-कभी तो वे एकदम विपरीत बातें कहते थे। जहाँ एक सुझाव यह था कि प्रायोगिक परीक्षा पूरी तरह शिक्षक पर छोड़ दी जानी चाहिए, तो इससे उलटा सुझाव यह था कि प्रायोगिक परीक्षा के लिए परीक्षक जितनी दूर से आएँ उतना अच्छा। इसी तरह कुछ शिक्षकों का मत था कि परीक्षकों को स्कूल के शिक्षक से सलाह करके प्रयोग तय करना चाहिए, लेकिन कुछ अन्य शिक्षकों को लगता था कि प्रायोगिक परीक्षा का प्रश्न पत्र भी ज़िला स्तर पर तैयार किया जाना चाहिए। कुछ शिक्षकों का सुझाव था कि प्रायोगिक परीक्षा के लिए प्रयोगों की सूची बना दी जाए (जैसी कि कॉलेज स्तर पर होती है) और परीक्षक इन्हीं में से प्रयोग परीक्षा में दें। कुछ शिक्षकों की राय थी कि प्रायोगिक परीक्षा की उत्तर पुस्तिका की जाँच शिक्षक की उपस्थिति में ही होनी चाहिए। अन्य शिक्षकों का मत था कि मूल्यांकन का काम तो बाद में संगम केन्द्र स्तर पर करना ही ठीक होगा। अधिकांश शिक्षक यह मानते थे कि प्रायोगिक परीक्षा लिखित से भिन्न प्रकृति की है और इसमें बच्चों के प्रदर्शन का पूरा रिकॉर्ड रखा जाना सम्भव नहीं है, इसका मूल्यांकन मौके पर ही करना होगा। अलबत्ता, इस बात से सारे शिक्षक सहमत थे कि प्रायोगिक परीक्षा के लिए प्रश्न बनाने के काम में ढिलाई हो रही है और इस वजह से परीक्षा का स्तर गिरा है।

सार रूप में देखें तो शिक्षकों के सुझाव दो किस्म के थे। एक वे थे जिनमें प्रायोगिक परीक्षा को ज़्यादा कारगर बनाने के लिए अधिक विकेन्द्रीकरण की बात कही गई थी ताकि स्कूल की परिस्थिति का ध्यान रखा जा सके और बच्चों की प्रायोगिक कुशलता का सही आकलन हो सके। दूसरे किस्म के सुझाव परीक्षा के स्तर व एकरूपता की चिन्ता से प्रेरित थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि परीक्षक जो प्रयोग करवाना चाहते थे वह अध्याय अभी स्कूल में ही नहीं हुआ होता था या उसके लिए ज़रूरी सामग्री स्कूल में उपलब्ध

ही नहीं होती थी। कई बार परीक्षक बहुत सरल या बहुत कठिन प्रयोग करने को रख देते थे। इसलिए सवाल यह था कि परीक्षा के स्तर से समझौता किए बगैर उसे किस तरह स्कूलों की परिस्थिति के प्रति संवेदी बनाया जाए।

इस दोहरी ज़रूरत के मद्देनज़र 1983 से प्रायोगिक परीक्षा की व्यवस्था में थोड़ा बदलाव किया गया। नई व्यवस्था के तहत प्रायोगिक परीक्षा के प्रश्न पत्र संगम केन्द्र पर शिक्षकों के एक दल द्वारा बनाए जाते थे। किया यह जाता था कि किसी दिन संगम केन्द्र पर शिक्षकों की एक गोष्ठी की जाती थी जहाँ शिक्षक दो-दो, तीन-तीन की टोलियों में काम करके प्रायोगिक परीक्षा के लिए कई सारे प्रश्न बना देते थे। इन प्रश्नों में से संगम केन्द्र प्रभारी अलग-अलग स्कूलों के लिए पाँच-पाँच प्रश्नों के सेट बनाकर लिफाफों में बन्द कर देते थे और सम्बन्धित परीक्षकों को ये प्रश्न पत्र मिल जाते थे। उनका काम इतना ही था कि सम्बन्धित स्कूल में जाकर प्रश्न पत्र

प्रायोगिक परीक्षा का एक अच्छा प्रश्न (परीक्षा मैनुअल से)

“तुम्हें एक लकड़ी की पट्टी, धागा और दोने दिये गए हैं। इनसे एक सही तोलने वाला तराजू बनाओ। अपने तराजू पर कागज़ की एक पर्ची पर अपना रोल नम्बर लिखकर ज़रूर बाँध देना।”

उपरोक्त प्रश्न की विशेषता यह है कि इसमें बहुत ही सस्ते और सरलता से उपलब्ध साधनों की मदद से अवधारणा की स्पष्टता और प्रायोगिक कौशल दोनों का मूल्यांकन करने का प्रावधान है। सही तराजू वही परीक्षार्थी बना पाएगा जिसे तराजू के सिद्धान्त स्पष्ट होंगे, यानी जिसे यह स्पष्ट होगा कि केवल दोनों पलड़ों का भार बराबर करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि सन्तुलन बिन्दु से दोनों पलड़ों की दूरी भी बराबर होनी चाहिए। यदि मूल्यांकनकर्ता चाहे तो इसी प्रश्न में मौखिक तत्व जोड़कर इसे और अधिक प्रखर बना सकता है। इसके लिए परीक्षार्थी को अलग बुलाकर कहा जाए कि वह बाटों की मदद से वैज्ञानिक विधि से यह प्रमाणित करे कि उसका तराजू सही तोलने वाला तराजू है।

जश्न-ए-तालीम

खोलें और परीक्षा का संचालन करें। अलबत्ता, उन्हें परिस्थिति की माँग होने पर एक प्रश्न बदलने की अनुमति थी।

प्रायोगिक परीक्षा में एक दिक्कत यह भी आती थी कि कई बार स्कूल पहुँचकर परीक्षक को पता चलता था कि किसी प्रयोग से सम्बन्धित किट सामग्री स्कूल में उपलब्ध नहीं है। इस समस्या से निपटने के लिए तरीका यह अपनाया गया था कि जितने प्रश्न बनते थे उनके आधार पर एक किट सूची तैयार की जाती थी और संगम केन्द्र से सम्बद्ध समस्त स्कूलों को पहले ही भेज दी जाती थी ताकि वे इसका इन्तज़ाम कर सकें। इस सन्दर्भ में एक डर यह व्यक्त किया गया था कि इस सूची को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि परीक्षा में कौन-से प्रयोग दिए जाने वाले हैं, हालाँकि कई वर्षों के अनुभव से यह डर बेबुनियाद साबित हुआ।

बच्चों की उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच बाद में संगम केन्द्र के स्तर पर की जाती थी। मौखिक मूल्यांकन समाप्त कर दिया गया था और उसकी जगह किसी एक प्रश्न पर 5 अतिरिक्त अंक रखे जाते थे। ये 5 अंक प्रयोग करने में छात्र की कुशलता, साफ-सुथरेपन आदि के लिए रखे गए थे और इनका निर्णय परीक्षक मौके पर ही करके उत्तर पुस्तिका पर अंकित कर देते थे।

ज़ाहिर है कि इस नई व्यवस्था ने प्रायोगिक परीक्षा की प्रकृति पर असर डाला था। सबसे प्रमुख असर यह हुआ था कि अब प्रश्न पत्र बनाते समय ध्यान रखना होता था कि प्रयोग ऐसे हों जिनके किए जाने का कोई प्रमाण उत्तर पुस्तिका में नथी किया जा सके या किसी अन्य तरह से पता चल सके कि बच्चे ने प्रयोग किया है।

उपरोक्त विचार-विमर्श के दौरान कई शिक्षकों ने एक चिन्ता यह भी ज़ाहिर की थी कि प्रायोगिक परीक्षा में बच्चों की विभिन्न कुशलताओं की जाँच होनी चाहिए। इस चिन्ता को सम्बोधित करते हुए प्रायोगिक परीक्षा की दृष्टि से पाठ्यक्रम के 6 भाग किए गए थे:

1. **मापन:** दूरी, क्षेत्रफल व आयतन नापना, वज़न तोलना, तापक्रम

- मापना, इकाई, अल्पतम माप, सन्निकटन, घट-बढ़, मापन में त्रुटियाँ व सावधानियाँ इत्यादि।
2. **पर्यावरण के प्रति सजगता:** पौधों के विभिन्न अंग और उनमें विविधता, फसलें और उनके रोग, कीड़े और अन्य जीव-जन्तुओं का सामान्य ज्ञान, जीव जगत में विविधता, मिट्टी इत्यादि।
 3. **रसायन:** पृथक्करण, अम्ल, क्षार, लवण व उदासीनीकरण, गैसों, रासायनिक कुशलताएँ इत्यादि।
 4. **वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ:** अवलोकन करना, सार्थक प्रश्न पूछना, रेखाचित्र बनाना, समूह बनाना, नक्शा बनाना इत्यादि।
 5. **सामान्य अवधारणाएँ:** विद्युत का चुम्बकीय प्रभाव, आयतन, प्रजनन, ऊष्मा, प्रकाश, शरीर की आन्तरिक रचना, संयोग व सम्भाविता, चीज़ों का तैरना इत्यादि।
 6. **विशेष:** स्थानीय स्रोतों से उपकरण बनाना, दिए हुए निर्देशों से प्रयोग करना।

प्रावधान यह था कि उपरोक्त प्रथम तीन खण्डों (1, 2, 3) में से एक-एक प्रश्न अवश्य दिया जाएगा। शेष तीनों खण्डों (4, 5, 6) में से किन्हीं दो खण्डों से एक-एक प्रश्न दिया जाएगा। चूँकि परीक्षक को एक प्रश्न मौके पर बदलने की अनुमति थी, इसलिए अपेक्षा यह थी कि वे उसी खण्ड से सम्बन्धित नया प्रयोग करने को देंगे।

लिखित परीक्षा

प्रश्न पत्र का सामूहिक निर्माण: सामूहिक रूप से प्रश्न पत्र निर्माण को ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद भी स्वीकार किया गया था। सोलह स्कूलों के दौर में तो प्रश्न पत्र निर्माण का काम स्रोत दल द्वारा ही किया जाता था। ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद यह काम शिक्षकों के समूहों द्वारा किया जाना तय हुआ। हो.वि.शि.का. परीक्षा प्रतिवेदन में इसे काफी स्पष्ट रूप से कहा गया था: “यथासम्भव इस बात की व्यवस्था की जाए कि प्रश्नों या प्रश्न पत्रों के निर्माण की प्रक्रिया में शिक्षकों के बीच सामूहिक चर्चा का प्रावधान

जश्न-ए-तालीम

रहे। यह एक स्थापित अनुभव है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह उस विषय विशेष का कितना ही बड़ा विशेषज्ञ क्यों न हो, अपने समकक्षों से सामूहिक चर्चा के बाद अपनी सामान्य क्षमता से भी बेहतर प्रश्न या अधिक सन्तुलित प्रश्न पत्र बना पाएगा। अतः एक लिखित अथवा प्रायोगिक प्रश्न पत्र बनवाने के लिए कम से कम तीन (सम्भव हो तो चार) शिक्षकों को सामूहिक जिम्मेदारी दी जाए।”

इस प्रक्रिया को लेकर गोपनीयता सम्बन्धी सवाल यदा-कदा उठे थे, मगर कुल मिलाकर शिक्षकों ने इसे एक सकारात्मक कदम मानकर उत्साह से इसमें हिस्सा लिया। प्रश्नों व प्रश्न पत्र की गुणवत्ता पर भी इसका अच्छा असर हुआ।

खुली किताब

परीक्षा में *बाल वैज्ञानिक* पुस्तक और स्वयं की नोट बुक लाने की अनुमति भी जारी रही। यह बात साफ थी कि हो.वि.शि.का. में बच्चों से यह अपेक्षा कदापि नहीं थी कि वे *बाल वैज्ञानिक* को याद कर लें। इसलिए परीक्षार्थियों को परीक्षा भवन में पुस्तकें और अपनी अभ्यास पुस्तिकाएँ (जिसमें अपेक्षा थी कि वे अपने अवलोकन, कक्षा में हुई चर्चा के सार व निष्कर्ष, नियम, परिभाषाएँ आदि रिकॉर्ड करेंगे) ले जाने की छूट दी गई थी, ताकि यह अपेक्षा न रहे कि विद्यार्थियों को सारी जानकारी, तथ्य, परिभाषाएँ या प्रयोग-विधियाँ रटकर परीक्षा देने आना है। इसके साथ यह भी कोशिश होती थी कि यदि किसी प्रश्न को हल करने में किसी जानकारी की ज़रूरत पड़ेगी तो वह जानकारी प्रश्न के साथ ही दे दी जाए।

परीक्षा में किताब व अपनी नोट बुक लाने की छूट देने के पीछे मकसद यह था कि यदि किसी प्रश्न में किसी जानकारी या किसी नियम या विधि की ज़रूरत है, तो उसे देखा जा सके। अपेक्षा थी कि इससे इन बातों से रटने की प्रवृत्ति पर रोक लगेगी, वहीं दूसरी ओर परीक्षा का तनाव भी काफी हद तक कम होगा। यह व्यवस्था प्रश्न पत्र बनाने वालों के लिए अच्छी-खासी चुनौती उपस्थित कर देती है।

उदाहरण के लिए, परीक्षा मैनुअल में कहा गया था कि प्रश्न पत्र निर्माता को ध्यान देना होगा कि “प्रश्न ऐसे न हों जिनके उत्तर सीधे पुस्तक या अभ्यास कॉपी में से मात्र उतारकर दिए जा सकें।” यानी परिभाषाएँ, नियम वगैरह नहीं पूछे जाएँगे। यह भी स्पष्ट किया गया था कि “परीक्षा में जाँच इस बात की होगी कि विद्यार्थियों में वैज्ञानिक कौशल और दृष्टिकोण किस हद तक विकसित हुआ है और उन्होंने वैज्ञानिक प्रक्रिया से जानकारी प्राप्त करने व तार्किक विवेचन के तरीकों में कितनी कुशलता पा ली है। जाँच इस बात की भी होगी कि विद्यार्थियों को मूलभूत अवधारणाएँ कहाँ तक स्पष्ट हुई हैं और वे अपने पर्यावरण के प्रति कितने सजग हो गए हैं।” इसलिए उम्मीद थी कि “प्रश्न ऐसे हों जो बच्चों की अवलोकन व तर्क क्षमता, प्रायोगिक कौशल, जिज्ञासा, सृजनात्मकता या अवधारणाओं की स्पष्टता का मूल्यांकन कर सकें।”

लेकिन खुली किताब परीक्षा को लेकर कई सवाल रहे, खासकर पालकों की ओर से। एक तो यह कहा जाता था कि परीक्षा में किताब लाने की छूट देने से बच्चों में नकल की प्रवृत्ति बढ़ती है। इसके पीछे समझ यह झलकती है कि पुस्तक का (खासकर पाठ्य पुस्तक का) एकमात्र उपयोग नकल करने के लिए किया जा सकता है। परीक्षा को लेकर यह समझ हावी है कि मुख्य जाँच तो स्मरण शक्ति की होनी चाहिए और बच्चों को मात्र अपनी याददाश्त के आधार पर ही जवाब देने चाहिए। यदि किताब सामने है तो परीक्षा किस बात की हो रही है! इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण पालकों को और भी भ्रमित कर देता था कि हो.वि.शि.का. की परीक्षा में किताब में से सवाल नहीं पूछे जाएँगे (इसलिए किताब से उस तरह की मदद नहीं मिलेगी)। इस स्पष्टीकरण पर सवाल होता था कि जब उत्तर किताब में नहीं मिलेंगे तो फिर ऐसी किताब साथ रखने का क्या फायदा। यानी किताब वही जिसमें सारे उत्तर हों। किताब को रेफर किया जा सकता है, उत्तर ढूँढने में वह मदद कर सकती है, जैसी बातें मानस का अंग ही नहीं हैं।

खुली किताब परीक्षा को लेकर एक और तरह के सवाल भी थे जिनका सम्बन्ध भी पाठ्य पुस्तक की उपरोक्त छवि से है। शिक्षक प्रायः यह कहते

जश्न-ए-तालीम

थे कि किताब साथ होने से बच्चे काफी समय तक उसे उलट-पलटकर जवाब ढूँढने की कोशिश करते रहते हैं और समय गँवाते हैं। बात वही है कि बच्चे भी यही समझते हैं कि किताब का यही तो उपयोग है कि उसमें परीक्षा में पूछे जाने वाले प्रश्नों के उत्तर मिलने चाहिए। यहाँ यह बात उठाना ज़रूरी है कि सम्भवतः शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान शिक्षकों के साथ भी किताबों के उपयोग को लेकर कोई काम नहीं किया गया। इसलिए उनके सामने भी कोई स्पष्ट चित्र नहीं था कि परीक्षा में (या वैसे भी) किताब का (रट्टा मारने के अलावा) क्या उपयोग है। वैसे तो शिक्षक प्रशिक्षण की विभिन्न प्रक्रियाओं में परीक्षा सम्बन्धी चर्चाओं को स्थान दिया गया था, मगर परीक्षा में किताब के उपयोग को लेकर प्रत्यक्षतः चर्चाएँ नहीं हुईं। परिणाम यह हुआ कि व्यवस्था के स्तर पर तो परीक्षा में खुली किताब जैसा महत्वपूर्ण कदम लागू किया गया, मगर व्यवहार में इसका पूरा लाभ नहीं मिल पाया।

खुली किताब परीक्षा होने के कारण एक बात और भी होती थी। आम तौर पर “परीक्षा की तैयारी” करने का मतलब समझा जाता है कि पाठ्य पुस्तक या कम से कम उसमें दिए गए प्रश्नों के उत्तरों को एक बार फिर याद किया जाए (इसे रिवीज़न करना कहते हैं)। जब परीक्षा में किताब खोलकर देखने की छूट है तो परीक्षा की तैयारी क्या करें? जहाँ पालकों को यह बात ठीक नहीं लगती थी, वहीं बच्चों को यह बात बहुत अच्छी लगती थी। वैसे भी इस तरह की बात उठने का मतलब ही यह है कि इस खुली किताब परीक्षा ने परीक्षा के मायने ही बदल दिए थे और परीक्षा-पूर्व के तनाव को काफी कम करने में योगदान दिया था। बच्चों ने इस बात को कई बार अभिव्यक्त किया था। कार्यक्रम बन्द होने के बाद किए गए पायलट अध्ययन में भी बच्चों ने इस बात का ज़िक्र किया था। बच्चों को प्रायोगिक परीक्षा की याद तो एक उत्सव के रूप में ज़्यादा थी।

तीनों कक्षाओं की परीक्षा

परीक्षा मैनुअल में एक बात यह कही गई थी कि हो.वि.शि.का. की आठवीं

कक्षा के बोर्ड की परीक्षा में कक्षा 6 व 7 की विषय-वस्तु से सम्बन्धित सवाल भी पूछे जा सकते हैं। इस बात को लेकर शिक्षक व पालक काफी परेशान रहते थे। शायद मान्यता यह थी कि एक बार जिन चीजों की परीक्षा हो गई उनकी फिर से परीक्षा नहीं की जानी चाहिए (क्योंकि परीक्षा के बाद आपको सब कुछ भूल जाने का हक है)। लोगों को यह भी लगता था कि तीनों सालों की विषय-वस्तु को कक्षा 8 की परीक्षा में शामिल करने से बच्चों पर बहुत बोझ पड़ेगा। इस मामले में मैनुअल में स्पष्टीकरण देते हुए यह कहा गया था:

इस भय का कोई आधार नहीं है [क्योंकि] परीक्षा में जाँच उन गुणों की होगी जो किसी भी प्रयोग या परिभ्रमण को सही ढंग से करते हुए स्वतः विकसित हो जाते हैं और अभ्यास हो जाने पर मानस का अंग बन जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी विद्यार्थी को बारीक अवलोकन करना सिखा दिया गया है तो इस कौशल का उपयोग वह विद्यार्थी किसी भी परिस्थिति में कर सकता है, चाहे वह परिस्थिति पाठ्यक्रम के बाहर की ही क्यों न हो। यदि किसी प्रश्न में अवलोकन क्षमता की जाँच की जा रही है तो इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि किस कक्षा के पाठ्यक्रम का उदाहरण दिया गया है। इसी प्रकार यदि विद्यार्थियों को ग्राफ बनाना आ गया है तो उनको कोई कठिनाई नहीं आनी चाहिए, चाहे प्रश्न में ग्राफ बनाने के लिए आँकड़े छठी या सातवीं कक्षा के पाठ्यक्रम से या पाठ्यक्रम के बाहर से ही क्यों न लिए गए हों। कक्षा आठ की वार्षिक परीक्षा में छठी और सातवीं कक्षाओं के पाठ्यक्रम की कुछ मूलभूत अवधारणाओं पर भी प्रश्न दिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि विद्यार्थी ने समान गुणधर्म के आधार पर वस्तुओं के समूह बनाना सीख लिया है तो कोई भी वस्तु देकर समूह बनाने की अवधारणा को परखा जा सकता है। वैसे तो समूह बनाना, दूरी नापना, घट-बढ़, अल्पतम नाप इत्यादि कुछ ऐसी अवधारणाएँ हैं जिनका प्रभाव विज्ञान के हर स्तर के पाठ्यक्रम और समस्त वैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर पड़ता है और इनको समझे बिना कोई भी विद्यार्थी विज्ञान सीख लेने का दावा नहीं कर सकता। अतः नियम यह है कि कक्षा आठ की वार्षिक परीक्षा में छठी और सातवीं कक्षाओं के केवल मूल तत्त्वों से जुड़ी हुई विषय-वस्तुओं पर प्रश्न पूछे जा सकते हैं, हरेक विषय-वस्तु पर नहीं।

परीक्षा प्रतिवेदन में एक अच्छे लिखित प्रश्न का उदाहरण

“कक्षा छह की पुस्तक में ‘पृथक्करण’ नाम का एक अध्याय है। इस अध्याय में विद्यार्थियों को पदार्थों के मिश्रण में से पदार्थों को अलग-अलग करने के विभिन्न तरीके सिखाए गए हैं। प्रचलित परीक्षाओं में इस विषय-वस्तु पर आधारित कई प्रकार के प्रश्न पूछे जाते रहे हैं। ऐसे प्रश्नों के कुछ उदाहरणों को देखिए:

1. पृथक्करण की कम से कम तीन विधियों का वर्णन करो।
2. निम्नलिखित शब्दों पर टिप्पणियाँ लिखो – ऊर्ध्वपातन, क्रोमेटोग्राफी, आसवन।
3. कपूर और नौसादर के मिश्रण में से दोनों पदार्थ अलग-अलग कैसे प्राप्त करोगे?

उपरोक्त तीनों प्रश्नों के उत्तर वही विद्यार्थी दे सकता है जिसके पास पहले से इस विषय की जानकारी संचित हो। इन प्रश्नों में विद्यार्थी के वैज्ञानिक कौशल व दृष्टिकोण या पृथक्करण के सिद्धान्तों की समझ को परखने का प्रावधान नहीं है। जिस परीक्षार्थी को कुछ तथ्य याद होंगे (चाहे समझे हों या नहीं) वह इन प्रश्नों में अच्छे अंक प्राप्त कर सकता है। होशंगाबाद विज्ञान की परीक्षा में ऐसे प्रश्न नहीं पूछे जाएँगे।

अब ‘पृथक्करण’ अध्याय पर आधारित एक ऐसा प्रश्न देखिए जो इस कार्यक्रम के उद्देश्यों के अनुरूप हैं:

नीचे बनी तालिका में चार पदार्थों के बारे में कुछ जानकारी दी गई है:

पदार्थ	पानी में घुलता है?	ऊर्ध्वपातन होता है?
नौसादर	हाँ	हाँ
कपूर	नहीं	नहीं
नमक	हाँ	नहीं
रेत	नहीं	नहीं

(क) कपूर और नौसादर के मिश्रण में से दोनों पदार्थ अलग-अलग कैसे प्राप्त करोगे?

(ख) कपूर, नौसादर, नमक और रेत के मिश्रण में से चारों पदार्थ अलग-अलग कैसे प्राप्त करोगे?

इस प्रश्न में विभिन्न पदार्थों की पानी में घुलनशीलता व ऊर्ध्वपातन सम्बन्धी गुणों की जानकारी दे दी गई है। इस जानकारी के आधार पर विद्यार्थी से अपेक्षा की गई है कि वह तार्किक प्रक्रिया के द्वारा स्वयं सोचकर बताए कि मिश्रण में से पदार्थों को कैसे अलग-अलग प्राप्त किया जाए। इस प्रश्न में केवल गौण रूप से पृथक्करण की विधियों की और प्रमुख रूप से तार्किक विवेचन की परीक्षा की जा रही है। यदि कोई विद्यार्थी पृथक्करण की विधियों को आंशिक रूप से भूल भी गया होगा तो भी यदि उसने ये प्रयोग किए हैं तो केवल तार्किक प्रक्रिया से इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है।”

गौरतलब है कि प्रश्न पत्र बनाने वाले लोगों को इस बात के प्रति विशेष रूप से सतर्क किया गया था कि इस सूची की अन्तिम दो अवधारणाओं (जीव-जगत में विविधता तथा संयोग और सम्भाविता) की व्यापकता, गहराई व मिडिल स्कूल पाठ्यक्रम के सन्दर्भ में नवीनता को ध्यान में रखते हुए यह अपेक्षा नहीं है कि विद्यार्थी इन अवधारणाओं को पूर्ण रूप से आत्मसात कर लें। अपेक्षा केवल इतनी है कि इन मूलभूत अवधारणाओं को समझने व उनका उपयोग करने की शुरुआत हो जाए। परीक्षा की दृष्टि से इस महत्वपूर्ण पक्ष की चर्चा हम पाठ्यक्रम के अध्याय में कर चुके हैं।

न्यूनतम अपेक्षाएँ

मूल तत्त्वों में से भी कुछ को परीक्षार्थियों के उत्तीर्ण होने के लिए न्यूनतम अपेक्षाएँ माना गया था। इनमें निम्नलिखित चीजों को शामिल किया गया था:

(क) समूह और उप समूह बनाना;

(ख) दूरी, क्षेत्रफल, आयतन व भार का मापन, इकाई, इकाइयों की

जश्न-ए-तालीम

अभिव्यक्ति में दशमलव का उपयोग, अल्पतम माप, मापन में त्रुटियाँ, घट-बढ़, सन्निकटन, औसत और बहुसम्मत मान;

- (ग) निर्देशांक, नक्शा बनाना;
- (घ) तालिका, स्तम्भालेख, ग्राफ बनाना, उन्हें समझना और उनसे निष्कर्ष निकालना;
- (च) प्रयोग में तुलना का प्रावधान;
- (छ) सामान्य व रासायनिक प्रयोगों में कुशलताएँ; तथा
- (ज) स्थानीय स्रोतों से उपकरण बनाने की क्षमता।

व्यवस्था यह थी कि प्रश्न पत्र का लगभग एक-तिहाई भाग इन न्यूनतम अपेक्षाओं से सम्बन्धित हो। इन प्रश्नों के लिए कुल अंकों में से लगभग एक-तिहाई अंक (यानी 20) निर्धारित किए गए थे।

प्रश्नों की प्रकृति

प्रश्नों के बारे में दो बातें ऊपर कही जा चुकी हैं। मसलन, न तो ये रटी हुई जानकारी पर आधारित होंगे, और न ही इनके उत्तर किताब या नोट बुक में से सीधे मिलेंगे।

इसके अलावा प्रश्न पत्र निर्माताओं से यह भी अपेक्षा थी कि वे प्रश्न बनाते समय तीनों कक्षाओं के पाठ्यक्रम में आपसी सम्बन्ध और तारतम्य का ध्यान रखें। यह भी आग्रह था कि कुछ प्रश्न ऐसे भी हों जिनकी विषय-वस्तु तो पाठ्यक्रम का अंग नहीं है, परन्तु वे प्रश्न किसी महत्वपूर्ण मूल तत्व का परीक्षण करते हैं। मगर यह ध्यान रखना होता था कि ऐसे प्रश्नों की विषय-वस्तु एक सामान्य विद्यार्थी की सूझ-बूझ व अनुभव के दायरे की हो।

छात्रों की सृजनात्मकता व विशेष प्रतिभा जैसे गुणों को परखने के लिए ऐसे प्रश्न बनाने का भी आग्रह था जिनके एक से अधिक प्रकार के उत्तर सम्भव हों, जिन्हें अलग-अलग कारणों से सही माना जा सके।

प्रश्न पत्र निर्माण की प्रक्रिया

करीब 30-40 शिक्षकों की एक गोष्ठी दिसम्बर-जनवरी में होती थी। कोशिश

की जाती थी कि हर वर्ष कुछ नए शिक्षक इस कार्य में शामिल हों। गोष्ठी में सबसे पहला काम पिछले वर्ष के प्रश्न पत्र की समीक्षा का होता था। हरेक प्रश्न को कार्यक्रम के उद्देश्यों की कसौटी पर परखा जाता था और पूरे प्रश्न पत्र में सन्तुलन पर भी ध्यान दिया जाता था। इस प्रक्रिया का उद्देश्य यह होता था कि पिछले वर्ष के प्रश्नों व प्रश्न पत्र की खूबियों व कमियों को पहचाना जा सके और इस वर्ष का काम इससे आगे बढ़े। इस प्रक्रिया का एक और मकसद यह था कि पहली बार इस प्रक्रिया में शरीक हुए शिक्षकों को प्रश्नों की प्रकृति तथा परीक्षा के व्यापक उद्देश्यों से एक परिचय प्राप्त हो जाए। कभी-कभी समीक्षा के दौरान इस बात पर भी ध्यान दिया जाता था कि विभिन्न प्रश्नों में बच्चों का प्रदर्शन कैसा रहा था।

गोष्ठी में अगला काम होता था परीक्षा मैनुअल का सामूहिक वाचन व उस पर चर्चा ताकि सभी को परीक्षा के उद्देश्यों व तौर-तरीकों का एहसास मिल जाए। इसी दौरान “मूल तत्व” और “न्यूनतम अपेक्षाओं” वगैरह की बातचीत भी हो जाती थी और सन्तुलित प्रश्न पत्र की आवश्यकताओं को रेखांकित किया जाता था। इस पूरी प्रक्रिया में किशोर भारती/एकलव्य तथा उनके द्वारा आमंत्रित स्रोत व्यक्ति मदद के लिए उपलब्ध होते थे।

इसके बाद शिक्षकों को चार-चार, पाँच-पाँच की टोलियों में बाँट दिया जाता था और उन्हें स्वतंत्र रूप से एक-एक प्रश्न पत्र बनाने को कहा जाता था। दो दिन तक ये टोलियाँ खूब माथापच्ची करती थीं और प्रश्न पत्र को अन्तिम रूप दे देती थीं। प्रश्न पत्र के साथ उन्हें मूल्यांकन निर्देश भी बनाने होते थे और प्रत्येक प्रश्न के अंक भी निर्धारित करने होते थे। अलबत्ता, उनके द्वारा निर्धारित अंक प्रश्न पत्र पर अंकित नहीं किए जाते थे। (ये अंक प्रारम्भिक होते थे, और परीक्षा के बाद इन पर पुनर्विचार होता था तथा एक सांख्यिकीय विधि द्वारा इनका पुनर्निर्धारण किया जाता था।) प्रश्न पत्र तथा उसका मूल्यांकन निर्देश अलग-अलग लिफाफों में सीलबन्द करके ज़िला शिक्षा अधिकारी को सौंप दिए जाते थे। हरेक टोली का प्रश्न पत्र अलग-अलग रखा जाता था।

इसके बाद ज़िला शिक्षा अधिकारी एक मॉडरेटर को बुलाते थे। मॉडरेटर आम तौर पर उच्च/उच्चतर माध्यमिक शालाओं के शिक्षक/व्याख्याता होते

जश्न-ए-तालीम

थे जो हो.वि.शि.का. के कार्यकारी/स्रोत दल के सदस्य रहे होते थे। मॉडरेटर को उपरोक्त पाँच-छह प्रश्न पत्र सौंप दिए जाते थे। उनका काम यह था कि वे इनमें से तीन प्रश्न पत्र तैयार करें। वे चाहें तो उपरोक्त प्रश्न पत्रों में से कोई तीन प्रश्न पत्र चुन लें या चाहें तो एकाधिक प्रश्न पत्रों को जोड़कर नए प्रश्न पत्र बना लें। उनका मुख्य काम यह देखना होता था कि प्रश्न पत्र में मूल तत्व, न्यूनतम अपेक्षाओं तथा पाठ्यक्रम के अधिकांश हिस्सों को शामिल करने के सन्दर्भ में सन्तुलन हो। मॉडरेटर द्वारा बनाए गए तीन प्रश्न पत्र और साथ में सम्बन्धित मूल्यांकन निर्देश अलग-अलग लिफाफों में सील करके फिर से ज़िला शिक्षा अधिकारी को सौंप दिए जाते थे। ज़िला शिक्षा अधिकारी बगैर देखे इनमें से एक प्रश्न पत्र मुख्य परीक्षा के लिए और एक पूरक परीक्षा के लिए निर्धारित कर देते थे। एक प्रश्न पत्र सुरक्षित रखा जाता था ताकि आपात स्थिति में काम आ सके।

इसके बाद प्रश्न पत्र छपाई के लिए भेज दिए जाते थे। परीक्षा में गोपनीयता का तकाज़ा था कि परीक्षा शुरू होने से पहले ये प्रश्न पत्र कोई ऐसा व्यक्ति न देखे जो दुरुपयोग कर सके। इसलिए प्रश्न पत्र की प्रूफ रीडिंग वगैरह का काम मुद्रक को ही करना होता था। इस चरण में कभी-कभी महत्वपूर्ण गलतियाँ हुईं। जैसे क्षेत्रफल से सम्बन्धित एक प्रश्न में मुद्रक ने दी गई आकृति को छोटा करके छाप दिया था जिसकी वजह से उस प्रश्न के सारे उत्तर वगैरह बदल गए थे। मगर हो.वि.शि.का. की परीक्षा में ऐसी चीज़ों से निपटने की एक व्यवस्थित प्रक्रिया थी। अब हम उसी प्रक्रिया पर विचार करेंगे।

अंकों का पुनर्निर्धारण

अंकों के पुनर्निर्धारण की प्रक्रिया के दो पहलू हैं। एक है बच्चों के उत्तरों के आधार पर प्रश्न पत्र की समीक्षा और दूसरा है इस समीक्षा के आधार पर नए मूल्यांकन निर्देश बनाना। दरअसल इस प्रक्रिया का अर्थ यह स्वीकार करने के बराबर है कि कितनी भी कुशलता व सावधानी से प्रश्न व प्रश्न पत्र बनाए जाएँ, उनमें खामियाँ रह सकती हैं, सुधार की गुंजाइश बनी रहती है। इसका यह भी अर्थ है कि बच्चे जिस ढंग से प्रश्नों को हल करते हैं, वह प्रश्न पत्र पर एक टिप्पणी है। यदि इस समीक्षा प्रक्रिया को सतर्कता

से किया जाए तो यह पाठ्यक्रम व पद्धति सुधार का एक उम्दा आधार बन सकती है।

प्रश्न पत्र में मोटे तौर पर दो तरह की समस्याएँ हो सकती हैं। पहली समस्या का सम्बन्ध प्रश्न की व्याख्या से है। हो सकता है कि भाषा के कारण, चित्रों के कारण बच्चे प्रश्न को ठीक उसी रूप में न समझें जिस रूप में प्रश्न पत्र निर्माता की अपेक्षा थी या यह भी हो सकता है कि उस प्रश्न के एकाधिक सही उत्तर हों। तब बच्चों के उत्तर अपेक्षित उत्तर से भिन्न हो सकते हैं। सामान्य परीक्षाओं में इन “भिन्न” उत्तरों को “गलत” माना जाता है। कभी यह नहीं सोचा जाता कि हो सकता है कि प्रश्न के स्वरूप के आधार पर ये “भिन्न” उत्तर भी उतने ही तार्किक हों। यदि ऐसा है तो इन्हें भी सही की श्रेणी में शुमार किया जाना चाहिए। इस व्यवस्था का एक फायदा यह है कि आप खुली प्रकृति वाले या एक से अधिक वैकल्पिक उत्तरों वाले प्रश्न पूछ सकते हैं।

दूसरी समस्या का सम्बन्ध इस बात से है कि हो सकता है कि प्रश्न-निर्माता ने कठिनाई का जो स्तर सोचा था, प्रश्न उससे कहीं ज़्यादा या कम कठिन साबित हो। दोनों ही स्थितियों में दिक्कत है। जैसा कि पहले भी कहा गया है स्कूली परीक्षा का लक्ष्य दोहरा होता है – एक तो न्यूनतम निर्धारित पाठ्यक्रम दक्षता की जाँच करना और दूसरा बच्चों की क्षमता में सापेक्ष अन्तर का अनुमान लगाना। बहुत कठिन या बहुत सरल प्रश्न इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति नहीं करते। इसलिए आपने जो भी अंक निर्धारित किए हों, बच्चों के प्रदर्शन के आधार पर उन्हें समायोजित करना ज़रूरी लगता है।

प्रश्न पत्र बनाते समय हरेक प्रश्न के अंक निर्धारित किए जाते थे, मगर इनका उल्लेख प्रश्न पत्र में नहीं होता था। यानी बच्चों को यह आभास नहीं दिया जाता था कि किस प्रश्न का (अंकों की दृष्टि से) कितना महत्व है। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह था कि यह जानकारी बच्चों के किसी काम की नहीं होती थी। हालाँकि कुछ शिक्षकों को लगता था कि बच्चों को पता होना चाहिए कि कौन-से प्रश्न के कितने अंक हैं क्योंकि इसी के आधार पर वे तय करेंगे कि उसका उत्तर कितना लम्बा देना चाहिए। यह मान्यता गलत है क्योंकि प्रश्न को हल करने में कितनी मेहनत लगेगी यह सिर्फ इस

जश्न-ए-तालीम

बात से तय नहीं होता कि उसका उत्तर कितना लम्बा है। इसी से जुड़ा दूसरा कारण यह था कि हो.वि.शि.का. की परीक्षा में बच्चों को सभी प्रश्न हल करना होते थे। इसलिए अन्ततः इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता था कि किस प्रश्न को हल करने से कितने अंक मिलने की उम्मीद की जानी चाहिए। प्रश्न पत्र पर अंकों का उल्लेख न करने का एक कारण यह भी था कि उत्तर पुस्तिकाओं की समीक्षा के दौरान अंकों के नए सिरे से निर्धारण की सम्भावना रहती थी, इसलिए शुरू में निर्धारित अंकों का वैसे भी कोई महत्व नहीं रह जाता था।

पुनर्निर्धारण की इस प्रक्रिया का एक संक्षिप्त विवरण देना लाभप्रद होगा। परीक्षा शुरू होने से पहले ही पूरे ज़िले के रोल नम्बरों में से करीब 500 रोल नम्बर बेतरतीब (random) ढंग से छाँटे जाते थे और सम्बन्धित परीक्षा केन्द्रों को भेज दिए जाते थे। परीक्षा केन्द्र का दायित्व होता था कि वे इन रोल नम्बरों की उत्तर पुस्तिकाओं को अलग से मुहरबन्द लिफाफों में बन्द करके ज़िला शिक्षा अधिकारी कार्यालय भिजवा दें। यह संख्या कुल परीक्षार्थी संख्या (लगभग 10,000) का करीब 5 प्रतिशत है।

अंक पुनर्निर्धारण गोष्ठी में इन लिफाफों को खोलकर उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच पूर्व-निर्धारित अंकों के आधार पर की जाती थी। शिक्षकों की एक-एक टोली एक-एक प्रश्न को जाँचती थी। उत्तर पुस्तिकाओं पर अंक नहीं लिखे जाते थे क्योंकि यह तो अस्थायी मूल्यांकन होता था। अंक एक अलग पर्ची पर लिखे जाते थे।

जाँचने वाली टोली को अंक देने के अलावा एक काम और करना होता था। उन्हें यह भी देखना होता था कि सही उत्तर के अलावा बच्चे और क्या-क्या उत्तर दे रहे हैं। बाद में इन “गलत” उत्तरों की समीक्षा की जाती थी ताकि यह पता लगाया जा सके कि कहीं ये “गलत” उत्तर उस प्रश्न की भाषा या प्रस्तुतीकरण की किसी वैध अथवा सम्भव व्याख्या के नतीजे तो नहीं हैं।

इसके अलावा गलत उत्तरों के विश्लेषण से पाठ्यक्रम व पाठ्य पुस्तक तथा शिक्षण विधि पर एक फीडबैक भी प्राप्त हो जाता था। यह परीक्षा को एक नई भूमिका प्रदान करने का प्रयास कहा जा सकता है।

सारे बच्चों की उत्तर पुस्तिकाओं का मूल्यांकन हो जाने के बाद उनके सारे प्रश्नों के प्राप्तांकों का योग करके मूल्यांकन पर्चियों को प्राप्तांकों के घटते क्रम में जमा लिया जाता था।

इसके बाद की प्रक्रिया सांख्यिकी के कुछ सूत्रों के आधार पर चलती थी। सबसे पहले उत्तर पुस्तिकाओं को तीन बराबर हिस्सों में बाँट लिया जाता था। समूह 1 सर्वाधिक प्राप्तांकों वाले बच्चों का, समूह 2 सबसे कम प्राप्तांकों वाले बच्चों का और समूह 3 मध्यम प्राप्तांकों वाले बच्चों का। आगे की प्रक्रिया में समूह 3 को छोड़ दिया जाता था।

अब समूह 1 व समूह 2 के बच्चों के प्रत्येक प्रश्न के प्राप्तांकों की तुलना के आधार पर दो सूचकांकों की गणना की जाती थी – सुगमता सूचकांक और विभेदन सूचकांक।

सुगमता सूचकांक का मतलब है किसी भी प्रश्न में प्रति छात्र औसत प्राप्तांक। दूसरे शब्दों में यदि उस प्रश्न के निर्धारित अंक 1 हो, तो प्रति छात्र औसतन कितने अंक मिले हैं। ज़ाहिर है सुगमता सूचकांक 0 और 1 के बीच होगा। यदि उस प्रश्न को कोई भी छात्र हल नहीं कर पाया है तो सुगमता सूचकांक 0 होगा और यदि सारे छात्रों ने हल कर लिया है तो सुगमता सूचकांक 1 होगा। एक मायने में यह सूचकांक हमें प्रश्न को सरलता की कसौटी पर रखने में मदद करता है। जितना अधिक मान होगा, वह प्रश्न उतना सरल है।

दूसरा है, विभेदन सूचकांक। अर्थात् यदि उस प्रश्न के निर्धारित अंक 1 हो, तो दो समूहों के छात्रों के बीच औसतन कितना अन्तर है। यह सूचकांक भी 0 से 1 के बीच होगा। यदि समूह क्रमांक 1 के सारे छात्र उस प्रश्न में पूरे अंक प्राप्त करें और समूह 2 के छात्र 0 अंक प्राप्त करें, तो विभेदन सूचकांक 1 होगा, जबकि यदि दोनों समूहों के छात्र बराबर अंक प्राप्त करें, तो विभेदन सूचकांक 0 हो जाएगा। यानी यह सूचकांक बताता है कि उस प्रश्न में बच्चों के बीच भेद करने की क्षमता कितनी है। जितना अधिक सूचकांक का मान होगा, विभेदन क्षमता उतनी अधिक है। (सिद्धान्ततः यह

जश्न-ए-तालीम

सूचकांक ऋणात्मक भी हो सकता है, मगर इतने सालों में ऐसा कभी हुआ नहीं।)

अब हम चाहते हैं कि (1) प्रश्न न तो बहुत सरल हो, न बहुत कठिन हो, और (2) प्रश्न दोनों समूहों के छात्रों के बीच अधिक से अधिक अन्तर दर्शा पाए। इसके लिए सुगमता सूचकांक और विभेदन सूचकांक के बीच एक सन्तुलन होना चाहिए। इस सन्तुलन को पाने के लिए एक मिला-जुला सूचकांक निकाला जाता है। इसे गुणवत्ता गुणांक कहते हैं:

$$\text{गुणवत्ता गुणांक } (\alpha_x) = F_x D_x (1 - F_x)$$

गुणवत्ता गुणांक यह दर्शाता है कि सुगमता व विभेदन के लिहाज़ से वह प्रश्न किस श्रेणी का है। इस प्रश्न का पुनर्निर्धारण गुणांक निकालने के लिए निम्नलिखित तरीका अपनाया जाता है:

पुनर्निर्धारण गुणांक $W_x = \alpha_x \times$ प्रश्न क्र. X पर पूर्व निर्धारित अंक

इस तरह से सारे प्रश्नों के वेटेज की गणना की जाती है। इस पूरी प्रक्रिया में न्यूनतम अपेक्षाओं वाले प्रश्नों को शामिल नहीं किया जाता। सारे प्रश्नों का वेटेज निकल आने के बाद निम्नलिखित सूत्र से हरेक प्रश्न के पुनर्निर्धारित अंक की गणना की जाती है:

$$M_x = W_x \times Mt / \sum W$$

यहाँ M_x प्रश्न क्र. X के पुनर्निर्धारित अंक हैं, W_x उसका पुनर्निर्धारण गुणांक है, Mt सारे प्रश्नों के पूर्णांक का योग है (जिसमें न्यूनतम अपेक्षाओं वाले प्रश्न शामिल नहीं हैं) और $\sum W$ सारे प्रश्नों के पुनर्निर्धारण गुणांकों का योग है।

यह प्रक्रिया थोड़ी मुश्किल लगती है, मगर काफी सारे शिक्षक इसे काफी दक्षतापूर्वक सम्पन्न कर लेते थे।

इस प्रक्रिया ने हो.वि.शि.का. की परीक्षा पद्धति को लेकर कई सन्देशों व गलतफहमियों को जन्म दिया था। कार्यक्रम के आलोचकों का मत था कि इसमें कठिन प्रश्नों को निरस्त किया जाता है ताकि परीक्षा परिणाम सुधारा

जा सके। उनको यह भी लगता था कि कठिन प्रश्न सिर्फ होशियार छात्र हल करते हैं, इसलिए इस प्रक्रिया से उन्हें अवश्य नुकसान होता होगा। कई लोगों को लगता था कि परीक्षा हो जाने के बाद यह सब करना ठीक नहीं है क्योंकि इससे परीक्षा की गम्भीरता पर आँच आती है। प्रक्रिया से अनभिज्ञ लोगों को लगता था कि यह सब परीक्षा-फल सुधारने के लिए किया जाता है। अलबत्ता जिन शिक्षकों ने इस प्रक्रिया में भाग लिया, उनमें से अधिकांश को यह अत्यन्त उपयोगी व पारदर्शी प्रक्रिया लगती थी।

प्रश्नों की स्थिति

यह देखना लाज़मी है कि उपरोक्त सैद्धान्तिक ढाँचे के तहत परीक्षा में (खासकर लिखित परीक्षा में) पूछे गए वास्तविक प्रश्नों की प्रकृति में क्या नज़र आता है। क्या ये प्रश्न हो.वि.शि.का. के उद्देश्यों को जाँचने में सक्षम हो पा रहे थे? क्या प्रश्न बनाने में नवाचार की प्रवृत्ति नज़र आती है?

इस सन्दर्भ में सबसे पहले तो यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि इस कार्यक्रम में प्रश्न पत्र बनाना एक कठिन चुनौती थी और पूरे प्रयास को इसके मददेनज़र ही देखा जाना चाहिए।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 16 स्कूलों के स्तर पर परीक्षा का संचालन किशोर भारती व फ्रेंड्स रूरल सेंटर से जुड़े स्रोत व्यक्ति करते थे। ये स्रोत व्यक्ति प्रायः विश्वविद्यालयों व प्रयोगशालाओं से जुड़े अध्यापक व वैज्ञानिक थे। इनके पास सम्बन्धित विषयों का गहरा ज्ञान था और इन्हें विषयों की आपसी कड़ियों की समझ थी। इसलिए 1975 से 1980 के बीच बने प्रश्नों और बाद में ज़िला स्तर पर बने प्रश्नों में काफी अन्तर देखा जा सकता है। ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद प्रश्न पत्र बनाने का काम पूरी तरह माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों द्वारा किया जाने लगा था।

यह तो मानना होगा कि शिक्षकों ने कार्यक्रम के उद्देश्यों के अनुरूप प्रश्न पत्र बनाने की भरसक कोशिश की। 1981 से लेकर 2002 के बीच सिर्फ होशंगाबाद ज़िले में 22 मुख्य वार्षिक परीक्षाएँ और इतनी ही पूरक परीक्षाएँ आयोजित हुईं। इसके अलावा इन्दौर व उज्जैन सम्भागों में (1986-2002)

जश्न-ए-तालीम

तथा हरदा ज़िला बन जाने के बाद हरदा में भी अलग से वार्षिक बोर्ड परीक्षाएँ आयोजित होती रहीं। इन वर्षों के प्रश्न पत्रों को देखें तो एक ज़बर्दस्त बात यह नज़र आती है कि एकाध अपवाद को छोड़कर प्रश्न कभी दोहराए नहीं गए। इतने वर्षों तक शिक्षकों ने स्वयं के ऊपर यह दबाव बनाकर रखा कि उन्हें हर वर्ष नए-नए प्रश्न बनाना है।

प्रश्नों में यह कोशिश भी साफ झलकती है कि शिक्षक बच्चों में अवधारणाओं की समझ और कौशल के विकास को जाँचने की पूरी कोशिश करते थे। इस दृष्टि से हो.वि.शि.का. के ये प्रश्न पत्र प्रकाशित करना उपयोगी होगा। कुछ प्रश्नों के उदाहरणों से बात समझने में मदद मिलेगी।

परीक्षा में पूछे गए कुछ प्रश्न

वैसे तो हो.वि.शि.का. में इस बात को लेकर काफी सजगता थी कि प्रश्न न तो याददाश्त पर आधारित हों और न ही मात्र जानकारी को उगलवाने पर, मगर इस समझ को हकीकत में लागू करना और प्रश्न बनाना हमेशा आसान नहीं रहा। यह प्रश्न बनाने वालों की सृजनात्मकता के लिए एक कठिन चुनौती साबित हुई। हाँ, यह ज़रूर है कि इस मामले में कई सराहनीय प्रयास किए गए। यहाँ कुछ ऐसे सवालियों के उदाहरण देने के बाद हम इस बात पर चर्चा करेंगे कि ऐसे कार्यक्रम और बोर्ड परीक्षा जैसी चीज़ का आपस में अन्तर्विरोध है।

निम्नलिखित सवालियों पर गौर कीजिए:

1. अप्रैल 1976 (कक्षा 6)

गेहूँ के कोई दो पौधों में अन्तर खोजने के लिए किन-किन गुणधर्मों को खोजना चाहिए? और क्यों? (कुछ पौधे परीक्षा कक्ष में रखे गए हैं, चाहो तो देख सकते हो।)

2. अप्रैल 1976 (कक्षा 8)

(क) विद्युत धारा द्वारा ताम्बे की कलई के जो प्रयोग तुमने किए हैं, उनके आधार पर बताओ कि लोहे के बर्तन पर ताम्बे की कलई किस प्रकार चढ़ाओगे? चित्र बनाकर समझाओ।

(ख) क्या मिट्टी के बर्तन पर भी इस विधि से ताम्बे की कलई कर सकते हैं?
हाँ/नहीं

अपने उत्तर का कारण भी लिखो।

3. अप्रैल 1976 (कक्षा 8)

“आकाश की ओर” के प्रयोग 1 पर ध्यान दो। इसमें एक लम्बवत छड़ी की छाया के छोर पर आधे-आधे घण्टे बाद खूँटी गाड़ते हैं। एक लड़के ने होशंगाबाद में इस प्रयोग को किया और सारी खूँटियों को एक रेखा से मिला दिया। यह रेखा नीचे दिखाई गई है। इस चित्र में केवल 1:00 और 2:00 बजे की खूँटियाँ दिखाई गई हैं। अब नीचे दिए गए प्रश्नों के उत्तर दो।



- (i) छड़ी कहाँ गड़ी थी? चित्र पर निशान लगाकर बताओ।
 - (ii) चित्र में क, ख, ग तीन निशान लगे हैं। बताओ 3:00 बजे वाली खूँटी इनमें से किस स्थान पर होगी।.....
 - (iii) चित्र में पूर्व और पश्चिम दिशाएँ दिखाओ।
 - (iv) चित्र में उत्तर और दक्षिण दिशाएँ दिखाओ।
 - (v) इस चित्र के आधार पर बताओ कि यह प्रयोग किस मौसम में किया गया होगा।
4. (1975) अपने मन से सोचकर एक ऐसा प्रयोग बताओ जिससे यह पता चले कि बीजों के अंकुरण के लिए सूर्य का प्रकाश आवश्यक है या नहीं।
5. (1974) एक ऐसा प्रयोग बताओ जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि तुम्हारी बाहर निकलने वाली साँस में और मोमबत्ती के जलने पर पैदा होने वाली गैस में कार्बन डाईऑक्साइड है। इस प्रयोग का चित्र बनाकर दिखाओ।

जश्न-ए-तालीम

6. दो टोलियों को चार पदार्थ दिए गए। उनके गुणधर्म नीचे दिए गए हैं।

पदार्थ	पानी में घुलता है?	चुम्बकीय है?	आसानी से पिघलता है?
लोहे का बुरादा	नहीं	हाँ	नहीं
मोम	नहीं	नहीं	हाँ
शक्कर	हाँ	नहीं	नहीं
लाख	नहीं	नहीं	हाँ

एक टोली ने एक पदार्थ चुना और दूसरी टोली ने निम्न प्रश्न पूछकर सही पदार्थ का पता लगाया। प्रश्न इस प्रकार थे:

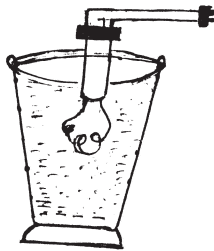
- 1) क्या वह घुलनशील है? उत्तर नहीं
- 2) क्या वह चुम्बकीय है? उत्तर नहीं
- 3) क्या वह सफेद है? उत्तर नहीं

(क) बताओ वह पदार्थ कौन-सा है?

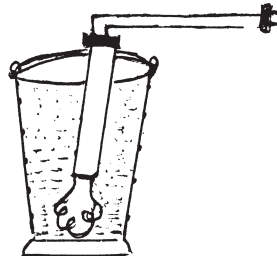
(ख) क्या तुम इनसे अच्छे प्रश्न बता सकते हो ताकि सही उत्तर कम प्रश्नों में मिल सके? ऐसे प्रश्न नीचे दी गई जगह में लिखो।

7. होशंगाबाद वार्षिक परीक्षा, 1996

महेश ने पानी गरम करने के लिए दो अलग-अलग बालटियों में दो उपकरण नीचे दिए चित्र के अनुसार डाले। निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए।



(क)

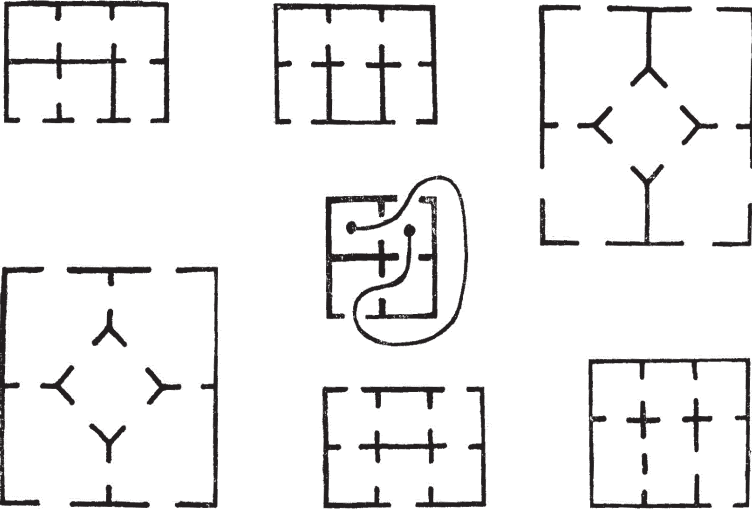


(ख)

- (i) किस बालटी का पानी जल्दी गरम होगा?
- (ii) उस बालटी का पानी जल्दी गरम होने का कारण बताइए?
- (iii) इस कार्य में ऊष्मा का स्थानान्तरण किस विधि से होगा?

[यह प्रश्न निरस्त किया गया था क्योंकि समीक्षा के दौरान समझ में आया था कि अधिकांश बच्चे इस “उपकरण” से परिचय न होने के कारण इसका जवाब नहीं दे पाए थे।]

8. नीचे दिए गए चित्रों में कुछ घरों के नक्शे दिए गए हैं। हर नक्शे पर एक ऐसी रेखा खींचो जो कि प्रत्येक दरवाज़े में से निकले और किसी भी दरवाज़े से दो बार होकर न जाए (जैसा कि बीच के चित्र में दिखाया गया है)। जिन चित्रों में ऐसा न कर सको उनके नीचे गलत का निशान लगाओ। गलत चित्रों को एक नया दरवाज़ा बनाकर सुधारो।



9. होशंगाबाद 1985

सट्टा एक खेल है जो पैसों से खेला जाता है। इस खेल में 0, 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 कुल दस अंक होते हैं जिनमें से खिलाड़ी किसी एक को

जश्न-ए-तालीम

चुनकर उस पर पैसा लगा सकता है। वह अंक खुलने पर उसे जीता हुआ माना जाता है।

बताओ सट्टा खेलने वाले की जीतने की सम्भाविता कितनी होगी?

जब सट्टा दो अंकों से खेला जाता है तब उसमें 00, 01, 02, ..., 98, 99 तक कुल सौ अंक होते हैं। इस खेल में खिलाड़ी किसी एक जोड़ी पर पैसा लगा सकता है एवं जोड़ी आने पर उसे जीता माना जाता है।

बताओ सट्टे की जोड़ी खेलने वाले की जीतने की सम्भाविता कितनी होगी?

उपरोक्त अवलोकनों के आधार पर बताओ कि सट्टा खेलना किसी व्यक्ति के लिए लाभप्रद है या हानिप्रद?

विज्ञान को सामाजिक परिवेश से जोड़ने वाले इस सवाल को लेकर विधान सभा में सवाल उठा था कि हो.वि.शि.का. बच्चों को सट्टा खेलना सिखा रहा है। विधान सभा में इस सवाल पर जो बहस हुई वैसी शैक्षणिक बहस शायद ही कभी हुई हो।

मगर यहाँ यह जोड़ना आवश्यक है कि कक्षा 6 व 7 की परीक्षाएँ स्कूल स्तर पर ही आयोजित की जाती थीं और उनके प्रश्न पत्रों में ऐसी कोशिश देखने को बहुत कम मिलती है। इसका एक कारण यह हो सकता है बोर्ड परीक्षा कार्य में बड़ी संख्या में शिक्षक शरीक नहीं रहे। बोर्ड परीक्षा के प्रश्न पत्र निर्माण के दौरान जिस ढंग की चर्चाएँ होती थीं उनका लाभ बड़ी संख्या में शिक्षकों को नहीं मिला और वे प्रायः परम्परागत प्रश्न बनाकर परीक्षा करते रहे। इस सन्दर्भ में इस बात की छानबीन लाभप्रद हो सकती है कि बोर्ड परीक्षा में पूछे गए प्रश्नों ने अन्य शिक्षकों पर कोई दबाव क्यों नहीं बनाया। एक कारण तो संसाधनों की कमी का हो सकता है। स्थानीय परीक्षा में प्रश्नों के साथ चित्र वगैरह देने की गुंजाइश नहीं होती क्योंकि इनके पर्चे छापे नहीं जाते। एक कारण यह भी हो सकता है कि प्रश्न पत्र बनाने के लिए जिस तरह के अभ्यास की ज़रूरत होती है वह बड़ी संख्या में शिक्षकों को नहीं मिल पाता।

इन दोनों समस्याओं को पहचानकर कई संगम केन्द्रों पर शिक्षकों ने एक पहल की थी। उन्होंने मिलकर तय किया था कि पूरे संगम केन्द्र की

शालाओं (करीब 50-60) के लिए सामूहिक रूप से एक प्रश्न पत्र बनाया जाए। इससे फायदा यह होता था कि स्रोत शिक्षकों के साथ अन्य शिक्षक मिलकर कुछ “अच्छे” प्रश्न बना पाते थे। दूसरा फायदा यह था कि 50-60 स्कूलों के लिए प्रश्न पत्र छपवाया जा सकता था। यह व्यवस्था शुरु होने के बाद स्थिति में कुछ सुधार जरूर देखा जा सकता है। मगर इस व्यवस्था में एक दिक्कत थी।

संगम केन्द्र स्तर पर प्रश्न पत्र बनाने की कोई प्रशासनिक स्वीकृति नहीं थी। यह पूरी तरह शिक्षकों के आपसी समन्वय पर निर्भर थी। स्कूल चाहे तो इसमें शामिल हो, न चाहे तो न हो। इसके बावजूद जिन संगम केन्द्रों पर यह प्रयास किया गया, वहाँ लगभग सभी स्कूल इसमें शामिल होते थे। प्रशासनिक स्वीकृति न होने के कारण दिक्कत यह आती थी कि प्रश्न पत्र बनाने, उसको छपवाने वगैरह में शिक्षकों को अलग से समय निकालना होता था।

शिक्षण प्रक्रिया पर प्रभाव

प्रश्न पत्रों का एक दुखदायी पहलू भी है। बोर्ड परीक्षाओं के प्रश्न पत्रों के मोटे-मोटे आकलन से एक बात एकदम स्पष्ट रूप से उभरकर आती है। शिक्षकों का बहुत आग्रह होता था कि प्रश्न ऐसे बनाएँ जिनका मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ ढंग से किया जा सके। यानी जिनके मूल्यांकन के लिए स्पष्ट निर्देश लिखे जा सकें। इसका एक परिणाम यह हुआ कि खुले उत्तरों वाले, एकाधिक सही उत्तरों वाले प्रश्नों की संख्या कम होने लगी। इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि उन प्रश्नों का अनुपात भी गिरा जिनमें बच्चों को विवरण लिखना हो क्योंकि उनमें भी मूल्यांकन में व्यक्तिनिष्ठता आने की “आशंका” रहती है। शायद ज़िला स्तर के पैमाने पर यह अवश्यम्भावी ही था।

दूसरी बात यह हुई (जो कुछ हद तक उपरोक्त दो बातों से सम्बन्धित भी है) कि ऐसे अध्यायों के प्रश्न ज़्यादा पूछे जाने लगे जिनमें ऐसे प्रश्न बनाना आसान था जिनका मूल्यांकन करते समय दुविधा की गुंजाइश न रहे। 1982 से 2002 तक के उपलब्ध प्रश्न पत्रों के एक विश्लेषण से यह बात

जश्न-ए-तालीम

स्पष्ट उभरती है कि परीक्षा में विभिन्न अध्यायों का प्रतिनिधित्व काफी ऊबड़-खाबड़ हो चला था। सिर्फ अध्याय ही नहीं, अलग-अलग अवधारणाओं, वैज्ञानिक विधि के तत्वों और कुशलताओं को भी समान स्थान नहीं मिल पाता था। अंकों के अनुसार देखें तो जो चित्र उभरता है उससे पता चलता है कि कुछ अध्यायों से लगभग हर साल सवाल पूछे जाते थे जबकि कुछ अध्याय पूरी तरह उपेक्षित रह जाते थे।

लगभग हर साल पूछे जाने वाले प्रश्न:

- | | |
|-------------------|-------------------------------------|
| 1. मापन | 2. निर्देशांक |
| 3. ग्राफ | 4. दशमलव |
| 5. विद्युत | 6. स्तम्भालेख/सम्भाविता |
| 7. समय और दोलक | 8. अम्ल, क्षार और लवण |
| 9. आपेक्षिक घनत्व | 10. मानव शरीर रचना (1987 के बाद से) |

इनमें से प्रथम चार तो न्यूनतम अपेक्षाओं की सूची में शामिल हैं।

यह देखना भी उपयोगी होगा कि कौन-से अध्याय पूरी तरह या अक्सर उपेक्षित रहे:

- | | |
|--------------------------------|--------------------|
| 1. सूक्ष्मदर्शी में से जीव-जगत | 2. ध्वनि |
| 3. ऊष्मा | 4. प्रजनन |
| 5. गैसों | 6. सजीव और निर्जीव |
| 7. आकाश की ओर | 8. प्रकाश |
| 9. मिट्टी | |

ऐसा नहीं है कि इन अध्यायों से सम्बन्धित प्रश्न पूछे ही न गए हों, मगर इनका अनुपात अपेक्षाकृत कम रहा। यदि अंकों के लिहाज़ से देखें तो पता चलता है कि आधे अंक तो निम्नलिखित अध्यायों को मिले:

- | | |
|---------------|----------------------|
| 1. मापन | 98 (न्यूनतम अपेक्षा) |
| 2. निर्देशांक | 68 (न्यूनतम अपेक्षा) |

3. ग्राफ	88 (न्यूनतम अपेक्षा)
4. स्तम्भालेख	89
5. अम्ल, क्षार और लवण	55
6. आपेक्षिक घनत्व	69

यह अंक वितरण उन 15 वर्षों के प्रश्न पत्रों के सर्वेक्षण पर आधारित है जिनके प्रश्न पत्र और अन्त में निर्धारित अंक उपलब्ध हैं। 15 वर्षों में कुल पूर्णांक 900 (60x15) हैं और उपरोक्त छह चीज़ों को इनमें से 467 अंक (51 प्रतिशत) मिले।

कुछ अन्य अध्याय जिनका प्रतिनिधित्व ठीक-ठाक रहा:

1. दशमलव	36 (न्यूनतम अपेक्षा)
2. वर्गीकरण, समूहीकरण	33 (न्यूनतम अपेक्षा)
3. विद्युत	48
4. दोलक	32
5. सही/गलत	35
6. जन्तुओं का जीवन चक्र	45
7. मानव शरीर रचना	33

इनमें से आखरी दो (“जन्तुओं का जीवन चक्र” और “मानव शरीर रचना”) को स्थान 1987 से मिलने लगा। दरअसल 1986 की प्रश्न पत्र समीक्षा में यह बात काफी सशक्त ढंग से उठी थी कि कई अध्याय परीक्षा में पूछे ही नहीं जा रहे हैं और इस वजह से उन्हें पढ़ाया नहीं जाता। यह एक रोचक तथ्य है कि जीव विज्ञान के अध्यायों को परीक्षा में स्थान न के बराबर मिलता था। यह देखिए कि उक्त अवधि के 15 वर्षों के प्रश्न पत्रों में जीव विज्ञान की अवधारणाओं का क्या हश्र रहा:

1. पर्यावरण/सामान्य अवलोकन	11
2. फसलें	22

जश्न-ए-तालीम

3. फूल, पौधों में प्रजनन	8
4. जन्तुओं का जीवन चक्र	33
5. मानव शरीर रचना	45
6. वृद्धि/परिवर्धन	12
7. सजीव और निर्जीव	22

इन्हें 900 में से कुल 153 अंक (17 प्रतिशत) मिले। यह स्थिति तब है जब 1987 के बाद से लगभग हर साल “मानव शरीर रचना” और “जन्तुओं का जीवन चक्र” को परीक्षा में स्थान मिलने लगा।

1986 तक हालत ऐसी थी:

ग्राफ	29
मापन	27
आपेक्षिक घनत्व	22
स्तम्भालेख	21
अम्ल, क्षार	20
निर्देशांक	19
पर्यावरण/अवलोकन	11
दोलक	9
फूल, प्रजनन	7
फसलें	5
मिट्टी	2
जीवन चक्र	0
शरीर रचना	0
वृद्धि	0
सजीव और निर्जीव	0

यदि परीक्षा में पूछे गए प्रश्नों को अध्यायों की दृष्टि से न देखकर उनमें जाँचे जा रहे “पाठ्यक्रम उद्देश्य” की दृष्टि से देखें, तो 1976 में हुई

चर्चाओं में यह बात उभरी थी कि कक्षा 8 की परीक्षा “सरल शब्दों और रेखाचित्रों की मदद से समझने व समझाने की क्षमता, खोजबीन के द्वारा आसान सवालों के हल खोजने की क्षमता और अध्यायों की विषय-वस्तु और अवधारणाओं (जैसे अम्लीयता, चुम्बकीय विकर्षण वगैरह)” में ही सिमट जाती है।

परीक्षा के माध्यम से सीखने की जाँच करने में यह असन्तुलन कई सवाल खड़े करता है। सबसे पहला सवाल तो यही उठता है कि इसका शिक्षण कार्य पर क्या असर हुआ होगा। इस सम्बन्ध में कोई व्यवस्थित जानकारी तो उपलब्ध नहीं है, मगर शिक्षकों की बात मानें तो स्कूलों में शिक्षकों ने इस बात को ताड़ लिया था और अपने अध्यापन कार्य को तदनुसार ढाल लिया था। जैसे पिपरिया में शिक्षकों के साथ गोष्ठी में यह पूछने पर कि क्या परीक्षा का स्कूल में अध्यापन कार्य पर असर पड़ता था, सबने कहा कि असर तो बहुत पड़ता था। जो अध्याय परीक्षा में नहीं आते थे, उनको नहीं पढ़ाया जाता था। परीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण अध्यायों में “गति के ग्राफ”, “समूहीकरण”, “अम्ल, क्षार और लवण”, “चीज़ें क्यों तैरती हैं”, “समय और दोलक”, “संयोग और सम्भावितता” वगैरह गिनवाए गए। परीक्षा में उपेक्षा के कारण जो अध्याय “पिट” गए थे उनमें “आकाश की ओर”, “मशीनें”, “सूक्ष्मदर्शी में से जीव-जगत”, “वर्गीकरण”, “विद्युत”, “वृद्धि” व “परिवर्धन” के नाम आए।

दूसरा सवाल यह उठता है कि ऐसा क्यों हुआ। क्या यह प्रश्न पत्र बनाने वालों की सृजनात्मकता की सीमा थी या हमें यह मानना होगा कि कुछ अवधारणाएँ, हुनर वगैरह ऐसे हैं जिनका परीक्षण इस तरह की परीक्षा में सम्भव ही नहीं है। दूसरे शब्दों में, सवाल यह है कि क्या लिखित परीक्षा और प्रायोगिक परीक्षा के अलावा होशंगाबाद विज्ञान की परीक्षा में किसी और आयाम को जोड़ने की ज़रूरत थी? जैसे जीव विज्ञान के अध्यायों में अक्सर कोशिश यह थी कि बच्चे अपने पर्यावरण में पाए जाने वाले जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों का, फलों और फूलों का, कीड़े-मकोड़ों का, फसलों का, फसलों के रोगों व कीटों का अध्ययन करें और इसके ज़रिए अध्ययन के वे तरीके सीखें जिनसे वे न सिर्फ पर्यावरण के प्रति जागरूक बनें बल्कि

जश्न-ए-तालीम

स्वतः अध्ययन करते रहें। अब इसका परीक्षण लिखित परीक्षा में कैसे करेंगे? इसी प्रकार से “मानव शरीर रचना” में कोशिश यह है कि बच्चे अपने शरीर में हड्डियों को पहचानें, उनके जोड़ों को महसूस करें, शरीर के विभिन्न अंगों की एक मानसिक छवि बना सकें। इसे एक प्रश्न का रूप कैसे देंगे? “जन्तुओं का जीवन चक्र”, “सजीवों में वृद्धि व परिवर्धन”, “प्रजनन” वगैरह सबके यही हाल हैं। पर्यावरण के प्रति सजगता को कैसे जाँचेंगे?

इन सब मामलों में बच्चों के दिमाग में अपने परिवेश की एक समझ विकसित करने की बात है, ऐसे कुछ तरीकों से उन्हें परिचित कराने की बात है जिनकी मदद से पर्यावरण का अध्ययन किया जाता है। न तो यह समझ सार्वभौमिक है, न ये तरीके। यदि अवधारणा के स्तर पर देखें तो हमारी परीक्षा, सारे नवाचारी प्रयासों के बावजूद व्यवहारवादी ही रही। बच्चों से कुछ ऐसे प्रश्न पूछे जाते थे जिनका, मोटे तौर पर, एक सही जवाब होना चाहिए ताकि मूल्यांकन किया जा सके। हालाँकि आम परीक्षा के विपरीत हो.वि.शि.का. की परीक्षा में काफी गुंजाइश थी कि खुले सवाल पूछे जा सकें और समय-समय पर ऐसे सवाल पूछे भी जाते रहे। मगर अवधारणात्मक समझ या मानसिक छवियाँ इस तरह के मूल्यांकन के हथ्थे नहीं चढ़तीं। इस समस्या का माकूल जवाब सृजनात्मकता की माँग करता है।

इसी समस्या का एक रोचक परिणाम देखा जा सकता है। जब बहुत दबाव पड़ा कि किताब के अधिक से अधिक हिस्सों से प्रश्न पूछे जाएँ तो खासकर दो अध्यायों (“जन्तुओं का जीवन चक्र” और “मानव शरीर रचना”) में शिक्षकों ने प्रश्न बनाए। 1987 के बाद सारे प्रश्न पत्रों में इन अध्यायों के सवाल मिलेंगे, मगर ये सवाल 1987 में बने सवाल में ही थोड़ा फेरबदल करके बनाए जाते रहे।

इसी समस्या का एक और रूप भी देखने को मिलता है। हमने ऊपर देखा कि परीक्षा में कुछ अध्यायों का वर्चस्व था। मगर इन अध्यायों से सम्बन्धित सवाल देखने पर लगता है कि ये मूलतः आंकिक सवाल (numericals) होते थे। यह तो माना जा सकता है कि मापन, निर्देशांक, ग्राफ वस्तुतः गणितीय अवधारणाएँ हैं, मगर संयोग और सम्भाविता, अम्ल, क्षार और

लवण तथा आपेक्षिक घनत्व में सवालों का सम्बन्ध प्रायः अवधारणात्मक समझ से न होकर गणनाओं से होता था।

अतः ऐसा लगता है कि इन अध्यायों का वर्चस्व इसलिए स्थापित हुआ था क्योंकि इनसे सम्बन्धित ऐसे सवाल बनाए जा सकते थे जिनमें मूल्यांकन आसान व वस्तुनिष्ठ तरीके से किया जा सकता था। उदाहरण के लिए, “अम्ल, क्षार और लवण” में या तो सवाल यह होगा कि एक तालिका दी गई है जिसमें विभिन्न पदार्थों का सूचकों पर असर बताया गया है और छात्रों को यह बताना है कि कौन-से अम्ल हैं, कौन-से क्षार हैं। या फिर गणना के सवाल होंगे, जो ज़्यादा लोकप्रिय थे। इसी प्रकार से “संयोग और सम्भाविता” का अध्याय एक अमूर्त अवधारणा पर आधारित है और इसमें यह अपेक्षा नहीं है कि बच्चे इसे पूरी तरह समझ जाएँगे। मगर आम तौर पर इस अध्याय की उक्त अवधारणा को लेकर बहुत कम प्रश्न बने। इसकी बजाय आँकड़ों का स्तम्भालेख बनाना, बहुसम्मत मान निकालना, औसत निकालना वगैरह जैसे सवालों की प्रचुरता रही।

प्रश्नों की प्रकृति में एक और बात उल्लेखनीय है। होता यह था कि जब किसी अवधारणा को लेकर कोई सवाल पूछना है तो क्रमबद्ध ढंग से सवाल पूछना होता था। इनमें से प्रत्येक चरण को कुछ न कुछ अंक दिए जाते थे। अन्त में उस अवधारणा को लागू करने का सवाल आता था जिसे बाकी चरणों की तरह ही कुछ अंक मिल जाते थे।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के तहत एक सर्वथा नए तरह की परीक्षा प्रणाली की रचना की गई थी। यहाँ यह याद रखना ज़रूरी है कि आदर्श रूप में हो.वि.शि.का. समूह बच्चों के मूल्यांकन का काम शिक्षकों के भरोसे ही छोड़ना पसन्द करता, मगर मुख्यधारा की ज़रूरतों के मद्देनज़र सम्भाग स्तर पर बोर्ड परीक्षा एक मजबूरी थी। परीक्षा में बच्चों को तनाव से मुक्त करने के लिए खुली किताब की व्यवस्था की गई थी और शुरुआती वर्षों में असीमित समय का भी प्रावधान रखा गया था। परीक्षा को वास्तविक परिस्थितियों के प्रति संवेदी बनाने के लिए शिक्षकों के समूहों द्वारा प्रश्न पत्र का निर्माण, परीक्षा उपरांत प्रश्न पत्र की समीक्षा तथा अंकों के पुनर्निर्धारण की व्यवस्था भी बनाई गई

जश्न-ए-तालीम

थी। इसके अलावा बच्चों के प्रायोगिक हुनर को महत्व देने हेतु प्रायोगिक परीक्षा का प्रावधान भी किया गया था। ये सब तत्व परीक्षा पर किसी भी विमर्श के लिए महत्वपूर्ण हैं।

हो.वि.शि.का. के तहत ली जाने वाली परीक्षा के सन्दर्भ में यह स्पष्ट निर्देश था कि इसमें बच्चों से रटी-रटाई जानकारी नहीं पूछी जाएगी और न ही ऐसे सवाल पूछे जाएँगे जिनके उत्तर किताब में से सीधे उतारे जा सकें। इस निर्देश का असर यह हुआ कि हो.वि.शि.का. का प्रश्न पत्र बनाना शिक्षकों के लिए एक चुनौती बन गया और सन्तोष की बात है कि अधिकांश शिक्षकों ने इसे सकारात्मक रूप से लिया और पूरी कोशिश की कि ऐसे प्रश्न बनाएँ जो बच्चों की समझ का मूल्यांकन करते हों। खासतौर से बोर्ड परीक्षा के बारे में तो यह मानना ही होगा कि ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद के करीब 25 सालों में शिक्षकों ने नए-नए सवाल बनाने की भरसक कोशिश की और यह बात प्रश्न पत्रों में झलकती है।

एक अच्छी बात यह हुई कि परीक्षा के प्रति भय की भावना काफी कम हो गयी। इसका प्रमुख कारण यह था कि परीक्षा में किताब-कॉपी ले जाने की छूट थी। परीक्षा देते समय बच्चे इनका ज़्यादा उपयोग शायद नहीं करते थे, मगर किताब पास में होने का मनोवैज्ञानिक असर तो होता ही है।

शिक्षकों में भी परीक्षा को लेकर सोच में बदलाव आया। सामूहिक रूप से प्रश्न बनाने तथा बाद में सामूहिक रूप से प्रश्न पत्र की समीक्षा करने की प्रक्रियाओं ने शिक्षकों को शैक्षणिक विचार-विमर्श का एक नया मंच प्रदान किया था। इन पारदर्शी प्रक्रियाओं ने परीक्षा को अनावश्यक रहस्य व गोपनीयता से मुक्त करने में भी योगदान दिया।

अलबत्ता हो.वि.शि.का. में भी परीक्षा के स्वरूप ने कई सीमाएँ आरोपित कीं। यह सही है कि अन्य परीक्षाओं की अपेक्षा हो.वि.शि.का. में खुली प्रकृति के प्रश्नों की गुंजाइश ज़्यादा थी, मगर शिक्षकों में ऐसे प्रश्न पूछने को लेकर झिझक बनी रही जिनका मूल्यांकन स्पष्ट रूप से न किया जा सके। इस कारण से कई अवधारणाएँ परीक्षा में कम स्थान पाती रहीं। इसी तरह हो.वि.शि.का. के परीक्षा प्रतिवेदन में कहा गया था कि यह मूल्यांकन का एक विषय होना चाहिए कि क्या बच्चों में सार्थक प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति पैदा

हुई या क्या वे वैकल्पिक व्याख्याओं के प्रति सजग हैं या क्या वे मतभेद को स्वीकार करने को तैयार हैं वगैरह। मगर इन सरोकारों को परीक्षा में स्थान नहीं मिल पाया।

प्रश्न पत्रों के विश्लेषण से पता चलता है कि ज़्यादा महत्व गणनात्मक अवधारणाओं को मिला था। गुणात्मक अवधारणाओं को बहुत कम स्थान मिल पाया था, जबकि खुली प्रकृति के प्रश्न पूछने अथवा सार्थक प्रश्न पूछने या प्रयोगों का आपसी सम्बन्ध समझने वगैरह जैसी बातें लगभग नदारद ही रहीं। ऐसा लगता है कि इनमें से कई चीज़ें ऐसी हैं जिनका मूल्यांकन शायद स्कूल के स्तर पर शिक्षक द्वारा ही करना सम्भव होगा। दस हज़ार बच्चों के लिए ऐसे प्रश्न बनाना शायद सम्भव ही न हो। और शायद एक प्रश्न से मूल्यांकन न हो पाए; प्रति प्रश्नों के लिए भी जगह होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, मौखिक परीक्षा का प्रावधान भी रखना होगा।

यहाँ यह बात भी गौरतलब है कि बोर्ड परीक्षा पर इतनी मेहनत व लगन से काम करने के बावजूद स्थानीय परीक्षाओं में प्रश्नों वगैरह में पारम्परिक पद्धति काफी हद तक हावी रही। दरअसल इस बात ने स्रोत शिक्षकों को काफी चिन्तित किया था और नब्बे के दशक में उन्होंने प्रयास किया था कि स्थानीय परीक्षाओं को संगम केन्द्र के स्तर पर संगठित किया जाए ताकि उपयुक्त स्तर हासिल किया जा सके। इस प्रयास के तहत कई संगम केन्द्रों पर ठीक उसी तरह प्रश्न पत्र बनाए जाने लगे थे जैसा कि ज़िला स्तर पर होता था। हाँ, वहाँ प्रश्न पत्र की समीक्षा व अंकों के पुनर्निर्धारण की प्रक्रिया लागू नहीं की जाती थी। यह प्रयास पूरी तरह शिक्षकों का था, इसके लिए कोई प्रशासनिक आदेश नहीं होता था।

इस तरह जहाँ एक ओर हो.वि.शि.का. के अन्तर्गत परीक्षा के व्यवस्थागत पहलुओं पर काफी सकारात्मक काम हुआ, वहीं सृजनात्मकता की बाधाओं को भी काफी हद तक तोड़ा गया। मगर काफी कुछ और करने की ज़रूरत भी थी और गुंजाइश भी। हो.वि.शि.का. में परीक्षा को लेकर किए गए नवाचार अत्यन्त व्यापक कहे जा सकते हैं, मगर इनमें से कई सवाल उठते हैं।

सबसे प्रमुख सवाल तो यही उठता है कि क्या अन्ततः यह परीक्षा कोई नई

जश्न-ए-तालीम

भूमिका निभा पाई या मूलतः इसने भी वही उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण वाली भूमिका ही निभाई? सवाल यह भी उठता है कि क्या इस तरह की केन्द्रीकृत परीक्षा में बुनियादी परिवर्तन सम्भव हैं? शुरुआत में हो.वि.शि.का. समूह का बहुत जोर था कि बच्चों के मूल्यांकन में शिक्षक द्वारा किए जाने वाले आन्तरिक मूल्यांकन का काफी महत्व होना चाहिए। कभी-कभी तो ऐसा लगता था कि शायद हो.वि.शि.का. समूह मूल्यांकन का पूरा काम ही सम्बन्धित शिक्षक को सौंपकर खुश होता। मगर अनुभव बताता है कि स्वयं शिक्षक इसके खिलाफ थे। प्रायोगिक परीक्षा का केन्द्रीकरण शिक्षकों के आग्रह का ही परिणाम था। ऐसी स्थिति में परीक्षा में नवाचार किस हद तक सम्भव है?

यदि एक केन्द्रीकृत परीक्षा की ज़रूरत को स्वीकार कर लिया जाए, तो सवाल यह उठता है कि उसमें किस ढंग के सवाल पूछे जाएँ? किस ढंग के सवालों के माध्यम से बच्चों का मूल्यांकन इस दृष्टि से हो सकता है कि उन्होंने क्या सीखा है? हो.वि.शि.का. परीक्षा का अनुभव बताता है कि जब आप एक केन्द्रीकृत परीक्षा में प्रश्नों के माध्यम से यह जानने की कोशिश करते हैं तो कई बाधाएँ उपस्थित होती हैं। कारण यह है कि आपको सवाल ऐसे पूछना होते हैं जिनके जवाब लिखित रूप में दिए जा सकें और उनका स्पष्ट मूल्यांकन हो सके।

कार्यक्रम का मूल्यांकन

यह दस्तावेज़ तैयार करते हुए एक बात लगातार मन को सालती रही। बच्चों के सीखने की दृष्टि से विवरण बहुत कम उपलब्ध हैं। क्रियान्वयन के पक्ष को लेकर, प्रक्रियाओं को लेकर तमाम विवरण मिलते हैं, मगर “उत्पाद” के विवरण न के बराबर हैं। कहने का मतलब यह है कि हमें ऐसे दस्तावेज़ बहुत कम मिलते हैं जो यह बताएँ कि इस कार्यक्रम में शरीक बच्चों पर क्या असर पड़ता था। आँकड़े न हों पर गुणात्मक ब्यौरे तो हों, औपचारिक वक्तव्य न हो लेकिन अनौपचारिक बयान ही हों। लगभग ऐसा लगता है कि हो.वि.शि.का. समूह का पूरा सरोकार एक “अच्छा” कार्यक्रम विकसित करने, उसके लिए ज़रूरी इनपुट्स जुटाने और उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं को अंजाम देने से रहा। हमारे पास बच्चों के सीखने की दृष्टि से हो.वि.शि.का. का कोई व्यवस्थित समग्र मूल्यांकन उपलब्ध नहीं है। हाँ, कुछ शोध प्रबन्ध ज़रूर उपलब्ध हैं जिनमें कार्यक्रम के किसी न किसी विशिष्ट पहलू को लेकर अध्ययन प्रस्तुत हुए हैं। यहाँ हम इनका सार प्रस्तुत करेंगे, मगर ये शोध प्रबन्ध किसी भी अर्थ में कार्यक्रम के समग्र मूल्यांकन का स्थान नहीं ले सकते।

छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धियों को लेकर छह-सात शोध अध्ययन हुए। उदाहरण के लिए, 1980 में एम. एस. मोहन राव द्वारा किए गए एक अध्ययन (एम.एड. लघु शोध प्रबन्ध, “इवैल्यूएशन ऑफ होशंगाबाद साइंस टीचिंग प्रोग्राम”, क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, भोपाल, 1980) में पता चला था कि हो.वि.शि.का. से जुड़े शिक्षक प्रयोग करने को ज़्यादा महत्व देते थे तथा बच्चों में विज्ञान की समझ उल्लेखनीय रूप से बेहतर थी।

जश्न-ए-तालीम

लगभग इसी समय यू. के. दीवान द्वारा किए गए अध्ययन (एम.एड. लघु शोध प्रबन्ध, बरकतुल्लाह विश्वविद्यालय, 1979-80) में टेस्ट ऑन अप्डरस्टैंडिंग साइंस (TOUS) तथा टेस्ट ऑफ एथिक्स एण्ड प्रोसेस ऑफ साइंस (TOAPS) का उपयोग किया गया था। होशंगाबाद व रायसेन ज़िलों के कक्षा 8 के छात्रों की तुलना करने पर होशंगाबाद के छात्र उल्लेखनीय रूप से बेहतर पाए गए थे। (रायसेन होशंगाबाद का पड़ोसी ज़िला है।)

इन दो अध्ययनों के विपरीत रजनीकान्त दुबे (एम.एड. लघु शोध प्रबन्ध, राज्य शिक्षा संस्थान, भोपाल, 1982-83) द्वारा दो धाराओं के बच्चों की तुलना करने पर देखा गया कि विज्ञान की जानकारी और विज्ञान के कौशल के लिहाज़ से दोनों तरह के छात्रों में कोई सार्थक अन्तर नहीं था।

एक अन्य अध्ययन (राजीव भावसार, पीएच.डी. शोध प्रबन्ध, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर, 1997) में यह उभरा कि पर्यावरण के प्रति सजगता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिहाज़ से गैर-हो.वि.शि.का. छात्र हो.वि.शि.का. छात्रों से बेहतर थे।

प्रदीप कुमार शर्मा (एम.एड. लघु शोध प्रबन्ध, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, 1997-98) ने हो.वि.शि.का. व गैर-हो.वि.शि.का. छात्रों के एक तुलनात्मक अध्ययन में पाया था कि विज्ञान के प्रति रुचि, कक्षा में सक्रियता, तार्किक क्षमता, प्रायोगिक हुनर, निष्कर्ष निकालने की क्षमता, पर्यावरण के प्रति सजगता, अवलोकन क्षमता आदि सभी कसौटियों पर हो.वि.शि.का. के छात्र उल्लेखनीय रूप से बेहतर थे।

लगभग इसी तरह का एक अध्ययन काजल कुमार नन्दी (एम.एड. लघु शोध प्रबन्ध, विक्रम विश्वविद्यालय, 1997) ने झाबुआ ज़िले में किया था। यह एक आदिवासी क्षेत्र है तथा यहाँ एक शाला संकुल में हो.वि.शि.का. लागू था। इस अध्ययन में हो.वि.शि.का. व मुख्यधारा की पाठ्यपुस्तकों से उभयनिष्ठ अंश लेकर एक प्रश्न पत्र बनाया गया था। इसके आधार पर हो.वि.शि.का. छात्रों का प्रदर्शन कहीं बेहतर रहा तथा अध्ययनकर्ता ने अनुशंसा की थी कि इस कार्यक्रम का लाभ सभी स्कूलों को मिलना चाहिए। रोचक बात है कि पहले एम.एड. के दौरान हो.वि.शि.का. पर लघु शोध

प्रबन्ध लिखने के बाद रजनीकान्त दुबे ने इसी विषय पर शोध कार्य किया और पीएच.डी. शोध प्रबन्ध भी लिखा (“ए कम्परेटिव स्टडी ऑफ दी एच.एस.टी.पी. एण्ड दी नॉन एच.एस.टी.पी. स्ट्रेटेजीस ऑफ टीचिंग साइंस एट मिडिल स्कूल लेवल विद रिस्पेक्ट टु साइंटिफिक क्रिएटिविटी, प्रॉबलम सॉल्विंग एबिलिटी एण्ड अचीवमेंट इन साइंस”, बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, 1994)। पीएच.डी. के लिए उन्होंने हो.वि.शि.का. तथा गैर-हो.वि.शि.का. छात्रों की तुलना वैज्ञानिक सृजनात्मकता, सवाल हल करने की क्षमता तथा विज्ञान में उपलब्धि के लिहाज़ से की। इस अध्ययन में वैज्ञानिक सृजनात्मकता के 28, विज्ञान में उपलब्धि के तीन तथा सवाल हल करने के छह तत्वों को शामिल किया गया था। अध्ययन के लिए हो.वि.शि.का. के 451 तथा गैर-हो.वि.शि.का. के 427 छात्र शामिल किए गए थे। ये छात्र कक्षा 8 में अध्ययनरत थे।

अध्ययन का निष्कर्ष था कि वैज्ञानिक सृजनात्मकता, सवाल हल करने की क्षमता और विज्ञान में उपलब्धि तीनों ही कसौटियों पर हो.वि.शि.का. के छात्र अन्य छात्रों से उल्लेखनीय रूप से बेहतर थे। यह भी देखा गया कि हो.वि.शि.का. छात्र किसी सवाल को हल करने में अपने पूर्व ज्ञान को नियमों के रूप में उपयोग करते हैं जबकि अन्य छात्र ऐसा नहीं कर पाते। इसके अलावा हो.वि.शि.का. के छात्रों में यह क्षमता भी ज़्यादा थी कि वे हल खोजते-खोजते अपना उत्तर बेहतर करते जाएँ, उत्तर खोजने के लिए सही क्रियाएँ चुन सकें और किसी समस्या को सुलझाने के लिए असाधारण तरीकों का उपयोग कर सकें। विज्ञान में उपलब्धि यानी ज्ञान, समझ व अनुप्रयोग तीनों के लिहाज़ से हो.वि.शि.का. छात्र बेहतर पाए गए।

एक उल्लेखनीय शोध ऐजाज़ मसीह द्वारा 1998 में किया गया था (न्यू ट्रेंड्स इन साइंस एजुकेशन, माणक पब्लिकेशन प्रा.लि., 1998)। इसमें हो.वि.शि.का. के 564 तथा एन.सी.ई.आर.टी. पाठ्यक्रम वाले 583 छात्रों की तुलना की गई थी। तुलना के लिए टेस्ट ऑन अप्परस्टैण्डिंग साइंस (TOUS), टेस्ट ऑफ साइंस रिलेटेड एटीट्यूड्स (TOSRA) और टेस्ट ऑफ कॉन्सेप्ट अटेनमेंट इन साइंस (TOCAIS) जैसे साधनों का उपयोग किया गया था। हालाँकि इस अध्ययन का निष्कर्ष यह था कि उपरोक्त तीनों

जश्न-ए-तालीम

कसौटियों पर हो.वि.शि.का. छात्र उल्लेखनीय रूप से बेहतर थे, मगर ज़्यादा महत्वपूर्ण और चिन्ताजनक निष्कर्ष यह था कि विज्ञान की समझ और वैज्ञानिक अवधारणाओं की समझ के सन्दर्भ में हो.वि.शि.का. और गैर-हो.वि.शि.का. दोनों तरह के छात्रों की हालत सन्तोषजनक नहीं थी।

उपरोक्त के अलावा समय-समय पर हो.वि.शि.का. समूह की ओर से विशिष्ट अवधारणाओं के सन्दर्भ में बच्चों की समझ के आकलन हेतु अध्ययन भी किए गए। जैसे दूरी नापना और दशमलव की समझ के सन्दर्भ में एक अध्ययन का निष्कर्ष था कि हो.वि.शि.का. के बच्चे बेहतर हैं।

कार्यक्रम का एक अलग तरह का मूल्यांकन इस सवाल के जवाब के रूप में भी किया जाता था कि हो.वि.शि.का. के छात्रों को आगे की कक्षाओं में बहुत नुकसान होगा और वे पिछड़ जाएँगे। इसके लिए, जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, हो.वि.शि.का. धारा से निकले बच्चों और मुख्यधारा से निकले बच्चों के कक्षा 9 व 10 में प्रदर्शन की तुलना भी एकाधिक बार की गई थी। मूलतः कक्षा 9 व 10 के प्राप्तांकों की तुलना से हर बार यही पता चलता था कि हो.वि.शि.का. के बच्चे पिछड़ते तो कदापि नहीं हैं।

मगर इस तरह के मूल्यांकन को लेकर स्वयं हो.वि.शि.का. समूह आश्वस्त नहीं था। एक तो इस बात को लेकर काफी सन्देह था कि परीक्षा में प्रदर्शन वास्तव में बच्चों की सीखने की प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब होता है। खास तौर से, मुख्यधारा की परीक्षाएँ मूलतः रटी हुई जानकारी, वह भी अध्यायों के अन्त में दिए गए प्रश्नों पर आधारित होती हैं। इसलिए परीक्षा में प्रदर्शन की तुलना के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि हो.वि.शि.का. से उत्तीर्ण बच्चे जल्दी ही उस ढर्रे से निपटना सीख लेते थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि मिडिल स्कूल के दिनों में भी वे शेष विषयों को तो पुराने ढंग से ही पढ़ते थे।

परीक्षा में प्रदर्शन की तुलना को लेकर एक बात और है। हो.वि.शि.का. का मकसद था कि बच्चों में जिज्ञासा, प्रयोग करने, प्रश्न पूछने, खोजबीन करने, दी गई जानकारी को आलोचनात्मक ढंग से पढ़ने, अन्य लोगों के मतों के प्रति खुलापन आदि जैसे गुण पैदा हों। उपरोक्त परीक्षाओं में इनकी अभिव्यक्ति या परीक्षण की कोई गुंजाइश नहीं होती।

लिहाज़ा यह सोचा गया था कि हो.वि.शि.का. का एक तुलनात्मक अध्ययन करवाया जाए जिसमें उपरोक्त बातों का आकलन किया जाए। इस पर काफी विचार-विमर्श हुआ – सिर्फ हो.वि.शि.का. समूह के अन्दर नहीं, बल्कि कई शिक्षाविदों के साथ भी। सबसे पहला सवाल यह उठा कि मूल्यांकन किस बात का होगा।

इस सवाल का थोड़ा खुलासा ज़रूरी है। हो.वि.शि.का. के अन्तर्गत कई सारे इनपुट्स प्रदान करने की कोशिश की गई थी – *बाल वैज्ञानिक*, प्रयोग किट, शिक्षक प्रशिक्षण, नई परीक्षा प्रणाली, नए ढंग की कक्षा। इसलिए एक मूल्यांकन तो इसी बात का हो सकता था कि शासकीय प्रक्रियाओं के अन्तर्गत ये इनपुट्स कितनी मुस्तैदी से उपलब्ध कराए गए थे। यानी मूल्यांकन का विषय यह होता कि शासकीय तंत्र में ये सारे इनपुट्स उपलब्ध कराने की कितनी क्षमता है।

उदाहरण के लिए, पहले किशोर भारती और आगे चलकर एकलव्य को स्कूलों में किट की समुचित व्यवस्था करवाने में बहुत मशक्कत करनी पड़ी थी। फिर सभी स्कूलों में प्रशिक्षित शिक्षक की व्यवस्था करवाने की जद्दोजहद भी कम नहीं रही। प्रशिक्षित शिक्षकों का प्राइमरी स्कूलों में या अन्य ज़िलों में स्थानान्तरण भी एक समस्या बनी रही, हालाँकि शासन ने नीति तय की थी कि हो.वि.शि.का. प्रशिक्षित शिक्षकों के स्थानान्तरण ऐसे स्कूलों में नहीं किए जाएँगे जहाँ यह कार्यक्रम नहीं चलता (सिवाय उन मामलों के जहाँ सम्बन्धित शिक्षक स्वयं चाहते हों या उनकी पदोन्नति का सवाल हो)।

इसलिए मूल्यांकन को लेकर सबसे पहला सवाल तो यही उठा कि क्या इस तरह के आधे-अधूरे क्रियान्वयन के चलते बच्चों के अधिगम का मूल्यांकन उचित होगा।

मूल्यांकन की एक दिक्कत यह भी सामने आई कि कार्यक्रम के तहत इतने तरह के इनपुट्स उपलब्ध कराए गए थे कि हो सकता है कि अन्ततः जो फर्क उभरे वह मात्र इन इनपुट्स की वजह से हों, न कि कार्यक्रम के सिद्धान्तों की वजह से। कहने का मतलब यह है कि परम्परागत पाठ्यक्रम के साथ भी इतना सघन शिक्षक प्रशिक्षण दिया जाए या अनुवर्तन और मासिक गोष्ठियों की व्यवस्था की जाए या सवालीराम की स्थापना की

जश्न-ए-तालीम

जाए, तो भी कई फर्क पड़ेंगे। इसलिए सवाल यह उठता था कि मूल्यांकन में इस बात का ख्याल कैसे रखा जाए?

फिर, मूल्यांकन इस बात का भी हो सकता था कि जहाँ ये इनपुट्स उपलब्ध हैं, वहाँ इनका उपयोग कितनी कुशलता से हो पाता है। इस सन्दर्भ में एक प्रमुख बात शिक्षक की आती है। हो.वि.शि.का. के अन्तर्गत कभी भी शिक्षकों का कोई चयन नहीं किया जाता था। इसके चलते सवाल यह था कि अन्य इनपुट्स की उपस्थिति के बावजूद कक्षा संचालन पूरी तरह शिक्षक की क्षमताओं पर निर्भर है। शिक्षक प्रशिक्षण के माध्यम से शिक्षकों को तैयार करने की पूरी कोशिश के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता था कि सारे शिक्षक आदर्श हो.वि.शि.का. कक्षा को साकार कर पाते थे।

अतः समूह को लगता था कि यदि क्रियान्वयन की इस परिस्थिति में बच्चों की सीखने की प्रक्रिया का मूल्यांकन किया जाता है तो यह बेमानी होगा। क्योंकि ज़ाहिर तौर पर बच्चों को “करके सीखो” का पूरा लाभ नहीं मिल रहा था।

समूह के कुछ लोगों का मत था कि विज्ञान करके ही सीखा जा सकता है, यह बात किसी प्रमाण की मोहताज नहीं है। यानी इसकी जाँच का सवाल ही पैदा नहीं होता। हाँ, आप इस विधि को शासकीय तंत्र में लागू करने के परिणामों का अध्ययन कर सकते हैं। मगर उसके आधार पर कार्यक्रम और उसकी विधि के बारे में कोई निर्णय लेना गलत होगा। ऐसे किसी भी अध्ययन के आधार पर क्रियान्वयन की खामियों को ही उजागर किया जा सकेगा और तदनुसार सुधार के कदम ही इसकी तार्किक परिणति होंगे।

इसका मतलब यह नहीं है कि बच्चों के सीखने का मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए। कहने का मतलब है कि ऐसे मूल्यांकन के आधार पर कार्यक्रम को पुरखा बनाने के बारे में विचार होना चाहिए। यहाँ उन कार्यक्रमों की एक मुश्किल पर गौर करना ज़रूरी है जो मुख्यधारा के एक विकल्प के रूप में खड़े होते हैं। इन कार्यक्रमों को लगातार अपनी वैधता प्रमाणित करनी होती है। ऐसा कोई भी कार्यक्रम राजनैतिक-सामाजिक शून्य में नहीं चलता। मुख्यधारा में यथास्थिति की ताकत होती है और एक जड़ता होती है। उसे बदलने की किसी भी कोशिश को मुख्यधारा के

किरदार स्वयं पर एक सवाल के रूप में देखते हैं। ऐसी स्थिति में मूल्यांकन की कोई भी प्रक्रिया वस्तुनिष्ठ माहौल में करना सम्भव नहीं रह जाता।

बहरहाल, समूह के सामने यह बात सदैव रही कि इस कार्यक्रम का कोई शैक्षणिक मूल्यांकन किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से कुछ शिक्षाविदों से सम्पर्क भी किया गया। इनमें से जो संवाद सबसे दूर तक गया उसकी चर्चा मुनासिब होगी। 1982 में जब यह बात एक शिक्षाविद डॉ. एस. के. दाणी के समक्ष रखी गई तो उन्होंने इसे गम्भीरता से लेते हुए एक विस्तृत प्रस्ताव तैयार किया जिसमें हो.वि.शि.का. के एक तुलनात्मक अध्ययन की बात कही गई थी।

उन्होंने इस सन्दर्भ में कुछ कठिनाइयों का जिक्र भी किया। सबसे बड़ी कठिनाई उन्होंने यह बताई कि भारत में इस तरह के अध्ययन हुए नहीं हैं। इसलिए ऐसे अध्ययन के लिए औज़ार यहाँ उपलब्ध नहीं हैं। ये औज़ार पश्चिमी देशों में उपलब्ध हैं, मगर दिक्कत यह है कि ये वहाँ के परिवेश के लिहाज़ से विकसित हुए हैं। इसलिए जब इन्हें यहाँ लागू किया जाएगा तो पहले इन्हें यहाँ के परिवेश के अनुरूप ढालना होगा। इसके बाद परीक्षणों को अन्तिम रूप दिया जाएगा और एक बार फिर इन्हें जाँचने के लिए एक पायलट अध्ययन होगा ताकि इनका मानकीकरण किया जा सके। अन्त में हो.वि.शि.का. स्कूलों और किसी अन्य ज़िले के सामान्य स्कूलों में इस परीक्षण को करवाने और उसके आधार पर रिपोर्ट तैयार करने का काम होगा।

इस प्रकार से यह सात साल का प्रस्ताव था। डॉ. दाणी का यह भी मत था कि तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त सामान्य स्कूल खोजना भी आसान नहीं होगा। उसके लिए भी कुछ अध्ययन वगैरह करने होंगे।

यह प्रस्ताव राज्य शैक्षिक अनुसन्धान व प्रशिक्षण परिषद को प्रस्तुत किया गया था, मगर शासन ने इस पर कोई निर्णय नहीं लिया।

कार्यक्रम के ज़िला स्तरीय प्रसार के समय और बाद में भी समय-समय पर राज्य व केन्द्र सरकारों द्वारा गठित विभिन्न समितियों ने इस कार्यक्रम के मूल्यांकन किए हैं। ज़िला स्तरीय प्रसार का निर्णय करने से पूर्व राज्य

जश्न-ए-तालीम

शासन ने तसल्ली कर ली थी कि हो.वि.शि.का. से निकले बच्चों को आगे की कक्षाओं (यानी बोर्ड परीक्षा) में कोई दिक्कत नहीं होगी।

इसी प्रकार से, कार्यक्रम को राज्य स्तर पर फैलाने की सम्भावना के मद्देनज़र मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार ने एन.सी.ई.आर.टी. के प्रो. बी. गांगुली की अध्यक्षता में एक समिति गठित की थी। गांगुली समिति ने कार्यक्रम के शैक्षिक सिद्धान्तों से पूर्ण सहमति जताते हुए यह सिफारिश की थी कि इसके पाठ्यक्रम में विज्ञान के उत्पाद की जो उपेक्षा हुई है उसे दुरुस्त किया जाए। समिति ने विद्यार्थियों का कोई मूल्यांकन नहीं किया था।

गांगुली समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत होने के बाद राज्य शासन ने भी कार्यक्रम की समीक्षा के लिए राज्य विज्ञान शिक्षा संस्थान के निदेशक डॉ. जी. एस. मिश्रा की अध्यक्षता में एक और समिति गठित की थी, मगर इस समिति की रिपोर्ट सार्वजनिक नहीं की गई। वैसे समिति की प्रारम्भिक बैठकों के विवरणों से लगता है कि विद्यार्थियों का मूल्यांकन करना उसकी विषय-सूची में था।

इन सबसे अलग, कार्यक्रम के क्रियान्वयन सम्बन्धी एक सर्वेक्षण शिक्षकों के एक समूह ने भी किया था। इटारसी के कुछ शिक्षकों ने मिलकर कोशिश की थी कि वे कार्यक्रम के क्रियान्वयन के विभिन्न पहलुओं में आने वाली दिक्कतों को समझें व उनके निराकरण के कुछ उपाय करें। इस सर्वेक्षण के लिए एक विस्तृत प्रश्नावली बनाई गई थी और उसके आधार पर एक पायलट अध्ययन भी किया गया था। पायलट अध्ययन की रिपोर्ट तो बनी, मगर किसी कारण से बात वहीं अटक गई।

इस तरह के एक अध्ययन की बात कार्यक्रम बन्द हो जाने के बाद भी चली थी और सोचा गया था कि पूर्व छात्रों, शिक्षकों आदि के साथ एक आकलन करने का प्रयास किया जाए तो उपयोगी होगा। मगर वह प्रस्ताव भी बहुत आगे तक नहीं गया।

एक और बात गौरतलब है। आम तौर पर मूल्यांकन को मात्रात्मक अध्ययन के रूप में ही देखा गया था। यानी बड़े पैमाने पर आँकड़े एकत्रित करना

और उनका सांख्यिकीय विश्लेषण करना ही इसका तरीका माना गया था। शायद उस समय शिक्षा के क्षेत्र में गुणात्मक अनुसन्धान की विधा इतनी विकसित नहीं हुई थी। आज लगता है कि मूल्यांकन के मामले को आँकड़ों के सीमित नज़रिए से देखने के कारण भी बाधा आई होगी।

उपसंहार

इस पुस्तक में जितनी बातें हमने कीं, उससे ज़्यादा छूट गई हैं। हमने मूलतः हो.वि.शि.का. में पाठ्यक्रम व पाठ्य सामग्री के विकास, शिक्षकों के प्रशिक्षण व उनकी भागीदारी, कक्षा के अनुभवों तथा परीक्षा के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की। हमें कहीं-कहीं इनकी बारीकियों की चर्चा करना ज़रूरी लगा क्योंकि प्रायः हो.वि.शि.का. या किसी भी नवाचार कार्यक्रम पर कुछ लेबल लग जाते हैं और फिर उसे उन्हीं लेबलों के संकीर्ण अर्थों में समझा जाता है। यह पुस्तक लेबल के दायरे से बाहर निकलने का प्रयास है। प्रायः हो.वि.शि.का. को “करके सीखो” का पर्याय माना जाता है। यहाँ की गई चर्चा से स्पष्ट है कि “करना” इस पूरे नवाचार का बहुत महत्वपूर्ण पहलू होते हुए भी एक पहलू ही था। सीखने की प्रक्रिया के कई और आयाम हैं जो उक्त लेबल के पीछे ओझल हो जाते हैं। हमने ऐसी कई चीज़ों की बात की, मगर अभी भी हो.वि.शि.का. पद्धति के कई पक्ष होंगे जो इस पुस्तक से छूट गए होंगे।

कुछ लोगों को छूटी हुई बातें शायद ज़्यादा महत्वपूर्ण लगती हों; उन्हें अधूरापन रास नहीं आएगा।

यह बात भी नज़र आई होगी कि पूरी पुस्तक में कहीं भी हो.वि.शि.का. को किसी सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास नहीं किया गया है। कई लोगों को शायद यह बात खटकेगी। इस सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह है कि तीस सालों के इतिहास में स्वयं हो.वि.शि.का. समूह ने कभी कार्यक्रम को किसी सैद्धान्तिक मत से जोड़ने का प्रयास नहीं किया।

सारे निर्णय स्कूली परिस्थिति और विज्ञान व विज्ञान की पद्धति की एक मोटी-मोटी साझा समझ के आधार पर किए गए। हरेक निर्णय सम्बन्धित मुद्दे के गुण-दोषों के विश्लेषण के आधार पर होता रहा। एक समय पर यह आग्रह था कि *बाल वैज्ञानिक* में किसी भी वस्तु को शामिल करने की शर्त यह होगी कि उसे गतिविधियों व प्रयोगों के माध्यम से किया जा सके। इसे यदि inductive logic पर अतिशय ज़ोर या empericism कहा जाए तो हो.वि.शि.का. समूह को कोई आपत्ति नहीं होगी। मगर समय के साथ इसमें भी लचीलापन दिखता है। इसी से जुड़ी एक बात यह भी थी कि हो.वि.शि.का. समूह किसी एक चट्टान का नाम नहीं था जो किसी एक विचारधारा के प्रति समर्पित हो।

दूसरी बात यह कही जा सकती है कि इस पुस्तक को लिखने की ज़िम्मेदारी मैंने उठाई और मैं मूलतः यह बताने को उत्सुक था कि हमने क्या किया। मैं कई वर्षों तक इस कार्यक्रम का अंग रहा और इसकी प्रक्रियाएँ मेरे लिए रोमांचक व “शिक्षाप्रद” रहीं। औपचारिक शैक्षिक विमर्श का मुझे कोई अनुभव नहीं है। इसलिए इस पुस्तक में इतना ही है – हमने क्या किया। इस सम्बन्ध में मेरी अपनी और (शायद) हो.वि.शि.का. समूह की स्थिति दुष्यन्त कुमार के शब्दों में यों व्यक्त होगी:

मैं हाथों में अंगारे लिए सोच रहा था
कोई मुझे आग की तासीर बताए।

मगर एक नवाचार की बात सिर्फ उसके शैक्षणिक पहलुओं से पूरी नहीं होती। इन शैक्षणिक पहलुओं को व्यावहारिक रूप देकर लागू करवाने का एक समाज शास्त्र होता है। खास तौर से हो.वि.शि.का. के सन्दर्भ में यह बात बहुत मौजू है।

उदाहरण के लिए, शुरू से यह निर्णय था कि उत्कृष्टता के टापू नहीं बनाना हैं। इसलिए सरकारी स्कूली व्यवस्था में हस्तक्षेप करना एक स्वाभाविक निर्णय था। इस निर्णय ने पूरे काम में एक अलग ही आयाम जोड़ दिया – राज्य सरकार, शिक्षा विभाग, शिक्षा प्रशासन, सरकारी शिक्षा, शिक्षा अनुसन्धान व प्रशिक्षण संस्थाओं के साथ काम करने के अनुभव विविध

जश्न-ए-तालीम

प्रकार के रहे। कार्यक्रम शुरू करने के निर्णय से लेकर कार्यक्रम बन्द करने के निर्णय तक कई उतार-चढ़ाव आए: कुछ शैक्षणिक, कुछ राजनैतिक। इस पूरे आयाम को इस पुस्तक में शामिल नहीं किया गया है, हालाँकि इस पर कई लोगों ने लिखा और कहा है। जैसे अनिल सद्गोपाल ने अपनी पुस्तक *शिक्षा में बदलाव का सवाल* में इसकी विस्तृत समीक्षा करते हुए हस्तक्षेप करने वाली संस्था की प्रकृति पर भी सवाल उठाए हैं। एकलव्य द्वारा प्रकाशित *न्यू बिगिनिंग्स (New Beginnings)* में भी इस मुद्दे पर (खासकर कार्यक्रम बन्द किए जाने के घटनाक्रम पर) काफी प्रकाश डाला गया है। इसके अलावा किशोर भारती और एकलव्य द्वारा प्रकाशित विभिन्न प्रतिवेदनों में इस पर काफी कुछ कहा गया है। मगर फिर भी सरकार के साथ काम करने के अनुभवों, सीमाओं और सम्भावनाओं को समझने की दृष्टि से हो.वि.शि.का. एक अच्छा प्रकरण हो सकता है। कार्यक्रम क्रियान्वयन में शिक्षा प्रशासन की भूमिका की समीक्षा करना भी उपयोगी होगा जो यहाँ नहीं की गई है।

ज़िला स्तरीय प्रसार के बाद कार्यक्रम को औपचारिक रूप से सरकार को सौंप देने के बाद भी किशोर भारती व बाद में एकलव्य को कार्यक्रम से सम्बन्धित एक-एक काम करवाने के लिए कितने पापड़ बेलना पड़ते थे, यह इस तरह के प्रयासों का एक आयाम है जिसे इस पुस्तक में नहीं छुआ गया है। यह भी अध्ययन का विषय हो सकता है कि क्यों सरकारी नौकरशाही नवाचारों को और नवाचारों के साथ जुड़ी संस्कृति को आत्मसात नहीं कर पाती।

इसी प्रकार हमने यह बात भी नहीं की कि इस तरह के कार्यक्रम को चलाने के लिए जिस तरह के मानव संसाधन चाहिए, उनकी क्या स्थिति है। ऐसा बताते हैं कि जब किशोर भारती इस कार्यक्रम की शैक्षणिक जवाबदारी उठाता था, तब वहाँ इसके लिए “ढाई” कार्यकर्ता थे और एकलव्य की शुरुआती अवस्था को छोड़ दें तो हालत बहुत बेहतर वहाँ भी नहीं थी। सवाल यह है कि यदि ऐसे कार्यक्रमों को बड़े स्तर पर फैलाना है या नवाचार की इस भावना को जगह-जगह रोपना है तो इसके लिए “स्रोत व्यक्ति” कहाँ से आएँगे। यह अपने आप में खोजबीन का विषय हो सकता है और हो.वि.शि.का. के प्रयासों के अनुभव इसमें काफी मददगार होंगे।

यह भी बहस का विषय रहा है कि जब हम कार्यक्रम के फैलाव की बात करते हैं तो उसका आशय क्या है। क्या जगह-जगह “बाल वैज्ञानिक पैकेज” लागू करवा देना ही फैलाव होगा? या जगह-जगह इस तरह के समूहों के निर्माण में मदद देना जो अपनी समझ व परिस्थिति के अनुसार स्थानीय शिक्षकों व अन्य लोगों की भागीदारी से कार्यक्रम विकसित करें? इस विषय पर हो.वि.शि.का. समूह में शुरू से ही काफी बहस चलती रही और देखा जाए तो फैलाव के दोनों ही स्वरूप अपनाए, आजमाए गए। पहले किशोर भारती व फ्रेंड्स रूरल सेंटर ने ज़िला स्तरीय प्रसार का काम किया और एकलव्य ने स्वयं अपनी पहल व प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से मध्य प्रदेश के कई ज़िलों में “बाल वैज्ञानिक पैकेज” लागू करवाने का काम किया, तो वहीं गुजरात व राजस्थान में वहाँ के समूहों की मदद की ताकि वे अपना पैकेज विकसित कर सकें। दोनों तरह के अनुभवों की समीक्षा शायद आगे के लिए कुछ स्पष्टता प्रदान करे।

कार्यक्रम के क्रियान्वयन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समुदाय भी शरीक होता है। और खास तौर से पंचायती राज व्यवस्था लागू होने के बाद इस भागीदारी को एक औपचारिक मंच भी मिला है। हो.वि.शि.का. में समुदाय की भागीदारी की दिशा में वैसे तो कोई व्यवस्थित या योजनाबद्ध प्रयास नहीं किए गए थे, मगर यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

और अफसाने में जिस बात का ज़िक्र न के बराबर आया है, वह है कि बच्चे सीखते क्या थे? अब शायद इसके व्यवस्थित अध्ययन का समय बीत चुका है। इस तरह के अध्ययन की योजनाएँ कई बार बनीं मगर यह अध्ययन कभी हो नहीं पाया। कार्यक्रम बन्द होने के तुरन्त बाद भी एक योजना बनाई गई थी, पायलट अध्ययन भी हुआ था, मगर किसी वजह से गाड़ी अटक गई। तो शायद इस पक्ष को छोड़ना होगा।

सुशील जोशी

सुशील जोशी का जन्म सितम्बर 1955 में उज्जैन में हुआ। आई.आई.टी., मुम्बई से रसायन शास्त्र में पीएच.डी. करने के बाद 1982 में वे मध्य प्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत संस्था किशोर भारती में शामिल हुए, जहाँ वे 1985 तक रहे। तब से वे स्वतन्त्र लेखन व सम्पादन करते आ रहे हैं। इस दौरान लगभग बीस वर्षों तक उन्होंने होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में सक्रिय योगदान दिया। उन्होंने विज्ञान, शिक्षा, पर्यावरण तथा विज्ञान एवं समाज के अन्तर्सम्बन्धों पर सैंकड़ों लेख लिखे हैं और कई महत्वपूर्ण पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है। पिछले कई वर्षों से वे राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद द्वारा समर्थित व एकलव्य द्वारा प्रकाशित विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर सेवा स्रोत के सम्पादक भी हैं।

एकलव्य

एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है जो पिछले कई वर्षों से शिक्षा एवं जनविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है। एकलव्य की गतिविधियाँ स्कूल में व स्कूल के बाहर दोनों क्षेत्रों में हैं।

एकलव्य का मुख्य उद्देश्य ऐसी शिक्षा का विकास करना है जो बच्चे से व उसके पर्यावरण से जुड़ी हो; जो खेल, गतिविधि व सृजनात्मक पहलुओं पर आधारित हो। अपने काम के दौरान हमने पाया है कि स्कूली प्रयास तभी सार्थक हो सकते हैं जब बच्चों को स्कूली समय के बाद, स्कूल से बाहर और घर में भी, रचनात्मक गतिविधियों के साधन उपलब्ध हों। किताबें तथा पत्रिकाएँ इन साधनों का एक अहम हिस्सा हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हमने अपने काम का विस्तार प्रकाशन के क्षेत्र में भी किया है। बच्चों की पत्रिका *चकमक* के अलावा स्रोत (विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स) तथा *शैक्षणिक संदर्भ* (शैक्षिक पत्रिका) हमारे नियमित प्रकाशन हैं। शिक्षा, जनविज्ञान एवं बच्चों के लिए सृजनात्मक गतिविधियों के अलावा विकास के व्यापक मद्दों से जुड़ी किताबें, पुस्तिकाएँ, सामग्रियाँ आदि भी एकलव्य ने विकसित एवं प्रकाशित की हैं।

वर्तमान में एकलव्य मध्य प्रदेश में भोपाल, होशंगाबाद, पिपरिया, हरदा, देवास, इन्दौर, उज्जैन, शाहपुर (बैतूल) व परासिया (छिन्दवाड़ा) में स्थित कार्यालयों के माध्यम से कार्यरत है।